प्रवचन-ग्रन्थमाला

ग्रन्थ : २-३

प्रवचन-डायरी

१९५४-५५

[आचार्य श्री तुलसी के जनवरी १९५४ से दिसम्बर १९५५ तक के प्रवचनों का संग्रह]

सम्पादक :

श्रीचन्द रामपुरिया, बी. कॉम., बी. एल.

तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में प्रकाशित

प्रकाशक :
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कलकत्ता—१

●

प्रथमावृत्ति :
अगस्त, १६६०

●

प्रति संख्या
१५००

●

पृष्ठांक :
४००

●

मूल्य :
सात रुपये

●

मुद्रक :
रेफिल आर्ट प्रेस,
कलकत्ता

प्रकाशकीय

आज लोगों का जीवन निस्सार और खोखला बनता जा रहा है। केवल बाह्याडम्बर मे जीवन की इतिकर्तव्यता मानकर मनुष्य भ्रान्त बनता जा रहा है। जीवन में जब तक सात्त्विक आचरण, ईमानदारी, सद्वृत्ति, मैत्रीभाव आदि सद्गुण नही आते तब तक जीवन उपचार मात्र है, वास्तविक नही। यद्यपि यह सही है कि संसार से असत्य, काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि का सर्वथा लोप कभी भी नही हो सकता, इसलिए ऐसे युग की कल्पना हम नहीं कर सकते जबकि सारे देश के लोग त्याग, तितिक्षा और आत्म-साधना के पथ पर आ जायें। पर सोचना यह है--सत्य, अहिंसा आदि के प्रचार ठोस रूप से हो सके। कहना न होगा कि आचार्य श्री ने अपने ओजस्वी प्रवचनो के माध्यम से हमे लक्ष्य तक पहुँचने का पावन पाथेय दिया है।

महासभा के तत्त्वावधान मे आचार्य श्री के प्रवचनो के संग्रह प्रकाशित करने की योजना के अन्तर्गत सन् १९५३ के प्रवचन प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत संग्रह प्रवचन-ग्रन्थमाला का द्वितीय एवं तृतीय ग्रन्थ है।

हमे आशा ही नही, वरन् पूर्ण विश्वास है कि प्रस्तुत प्रकाशन से क्या जैन और क्या जैनेतर, सभी समभाव से लाभान्वित होगे।

श्रीचन्द रामपुरिया
व्यवस्थापक,
साहित्य-विभाग

तेरापथ द्विशताब्दी समरोह व्यवस्था उपसमिति
३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट,
कलकत्ता—१
१ जून, १९६०

भूमिका

मानव का यह सहज स्वभाव है कि वह बँधा हुआ, परतंत्र और परमुखापेक्षी नहीं रहना चाहता। वह मुक्त, स्वतंत्र और स्वावलम्बी रहने के लिए छटपटाता है। आजादी का सच्चा महत्त्व आन्तरिक स्वतंत्रता और निर्बन्धता में है। आन्तरिक स्वतंत्रता के अभाव में मिली हुई बाह्य-स्वतंत्रता जीवन की सर्वतोमुखी प्रगति की शर्त को कभी सफल नहीं बना सकती।

आज दुनिया भौतिकवाद के चक्के के नीचे पिस रही है। उसके सिर पर भूत-वाद का भूत सवार हो रहा है। जीवन के मूल्य उसीके आधार पर आँके जाते हैं। यद्यपि भौतिकवाद के बल पर भौतिक-विकास को विकसित किया जा सकता है, उसके साहचर्य से भौतिक सुख-सुविधाओं की सृष्टि करने वाले प्रचुर साधन व सामग्रियाँ उपलब्ध की जा सकती हैं; मगर वास्तविक सुख और शान्ति, आत्मिक-तुष्टि और तृप्ति सत्य और अहिंसा, सादगी और सन्तोषमय आत्म-धर्म अर्थात् अध्यात्मवाद को आराधे बिना त्रिकाल में भी सम्भव नहीं हो सकती। अध्यात्मवाद में सुख की कामना व्यक्ति विशेष के लिए नहीं होती। वहाँ संसारवर्ती प्राणिमात्र के लिए समदृष्टि एवं समभाव के दर्शन होते हैं:-

समया सव्वभूएसु,
सत्तु-मित्तेसु वा जगे।

ये वे ही आदर्श हैं जिनके रश्मों तक पहुँचकर मनुष्य भौतिकता के सघन अन्धकार के तहों को चीर कर आध्यात्मिकता के प्रकाश पुंज की ओर बढ़ सकता है। ये ही वे आधार हैं जिन पर मानव अपने सुखी जीवन के भव्य भवन का पुनर्निर्माण कर सकता है। वह दिन सत्य, शिवं, सुन्दरम् होगा जब मानव प्राणिमात्र के जीने का हक निरपवाद स्वीकार कर अपनी महान् उदारता और वास्तविक ईमानदारी का शंखनाद फूँकेगा।

धर्म वही है जो आत्म-शुद्धि, आत्म शोधन व आत्म-परिमार्जन की ओर जन जन को उन्मुख करे। जिस किसी साधन से आत्म-शोधन हो वह निर्विवाद रूप से धर्म के रूप में सहर्ष अंगीकार है।

आज संसार में त्याग का स्थान भोग ने अधिकृत कर लिया है। अन्तर्मुखी दृष्टिकोण बहिर्मुखी दृष्टिकोण से अभिभूत है। सादगी और सरलता विलास और कुटिलता के आगे घुटने टेके हुए हैं। व्यक्ति की महत्ता का मूल्यांकन संयम व आचरणों के विपरीत प्रवृत्ति व बाहरी तड़क-भड़क के आधार पर किया जाता है। अनुशासन की भूमिका उच्छृङ्खलता की क्रीड़ास्थली बनी हुई है। सदाचार की तस्वीर दुराचार की कलुषित गैस से धूमिल हो रही है। शील व सौजन्य का स्थान दुश्शील व दौर्जन्य ने ले लिया है। नीति व ईमानदारी पर अनीति व बेईमानी अपनी क्रूर दृष्टि किए बैठी है। सात्त्विक वृत्तियों को तामसिक वृत्तियाँ भृकुटी ताने निहार रही हैं।

भारतीय संस्कृति में त्याग, आत्म-विजय, आत्मानुशासन और प्रेम की अविरल धाराएँ बही हैं। भोग से सुख नहीं मिला तब त्याग आया। दूसरे जीते नहीं गये तब अपनी विजय की ओर ध्यान खींचा। हुकूमत दूसरों पर नहीं मिटा सकी तब अपने पर अपनी हुकूमत का पाठ पढ़ाया गया। आग से आग नहीं बुझी तब प्रेम से बुझाने की सूझी। ये वे सूझें हैं जिनमें चैतन्य है, जीवन है और है दो को एक में मिलाने की क्षमता।

वास्तव में व्यक्ति-व्यक्ति में आत्म श्रद्धा आये, वह चरित्रनिष्ठ बने, उसका जीवन सचाई, सादगी और नैतिकता से ओतप्रोत हो, यही एक उद्देश्य है जिसे लक्षित कर इस योजना का प्रवर्तन हुआ है। जबतक व्यक्ति नहीं सुधरेगा तबतक समाज और राष्ट्र-सुधार का नारा क्या अर्थ रखेगा? व्यक्ति ही समष्टि का मूल है। व्यक्तिगत सुधार की एक सामूहिक प्रतिक्रिया ही समाज-सुधार है। व्यक्ति सुधरेगा तभी समाज व राज्य में एक नयी चेतना आयेगी और आज का धूमिल वातावरण शुभ्र बनेगा।

धर्म और राष्ट्र के पारस्परिक सम्बन्ध पर विवेचना करते हुए आचार्य श्री ने कहा है—राष्ट्र के आत्म-निर्माण का जहाँ सवाल है वहाँ धर्म का राष्ट्र से गहरा संबंध है। मानव-समाज के अतिरिक्त राष्ट्र की दूसरी आत्मा सम्भव ही नहीं। मानव-समाज व्यक्तियों का समूह है और व्यक्ति-निर्माण धर्म का अमर व अमिट नारा है ही। इस दृष्टि से राष्ट्र-निर्माण का धर्म से सीधा सम्बन्ध है। धर्म-रहित राष्ट्र राष्ट्र नहीं अपितु प्राणशून्य कलेवर के समान है। राष्ट्र की आत्मा तभी स्वस्थ, मजबूत और प्रसन्न रह सकती है जब कि धर्म के तत्त्व उसमें घुले मिले हों।

राष्ट्र-निर्माण में धर्म कहाँ तक सहायक हो सकता है, इसके लिए धर्म कुछ सूत्रों का प्रतिपादन करता है। वे हैं आत्म-स्वतंत्रता, आत्म-विजय, अदीन-भाव, आत्म-विकास और आत्म-नियंत्रण। इन सूत्रों का जितना विकास होगा उतना ही राष्ट्र स्वस्थ, उन्नत और विकसित बनेगा।

जन-जीवन पर आचार्य श्री का मन्तव्य है— आज देश आजाद है फिर भी यही सुनने मे आता है कि जनता का जीवन गिरता जा रहा है। इसका कारण यही है कि आज परदोषदर्शिता अधिक बढ़ गई है। जहाँ किसी में थोड़ा-सा दोष देखा कि हर कोई व्यक्ति उसे इस तरह से देखता है मानों वह हजारों आँखों से देख रहा हो। पर जहाँ अपने दोषों को देखने का सवाल आता है, वह आँखें मूँद लेता है। आज औरों की नुक्ताचीनी और काट - छाँट करने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है यह देखने की कि मैं क्या कर रहा हूँ। हरएक व्यक्ति यह विचारे कि मेरा जीवन कल जहाँ था वहीं है, या कुछ उठा है अथवा गिरा है। यदि जीवन मे अहिंसा और सत्य जैसे तत्त्व आ गये तो फिर चारों ओर प्रेम ही प्रेम और बन्धुता ही बन्धुता का वातावरण खिल उठेगा और उसके सामने मनुष्य-मनुष्य के भेद भाव तिरोहित हो जायेंगे, समानता प्रमुख हो जायेगी।

धर्म विश्व मैत्री की भव्य भित्ति पर स्थिर है। वह अपने बन्धुओ, मित्रों और पड़ोसियों के साथ ही प्रेम करना नहीं सिखाता, वह प्राणिमात्र के प्रति विशुद्ध प्रेम करना सिखाता है। वह सत्य-अहिंसा के मजबूत खम्भों पर टिका आलीशान महल जिसका द्वार प्राणिमात्र के लिए खुला है, जिसमे जाति-पाँति, लिंग, रंग, वर्ग और वर्ण का भेद नहीं, जिसका पूँजी के साथ गठबन्धन नहीं, ऐसा धर्म जिसमें विशालता है, सहिष्णुता है उसे फिर जैन कहें, सनातन कहें, चाहे जो कहें, वह सबके लिये कल्याणकर है। ऐसे धर्म को आप जीवन मे उतारें।

आज के लोग धर्मस्थान में तो धार्मिक बन जाते हैं और बाहर जाकर न जाने वे क्या से क्या हो जाते हैं? धर्मस्थान में वे जितना धार्मिक खयाल रखते हैं, वैसा ही ख्याल वे हर समय रखें तो धर्म उनके आचरण मे आयेगा। उससे उन्हें शान्ति मिलेगी, सुख मिलेगा। ऐसी आचार्य श्री की दृष्टि है।

आर्थिक वैषम्य पर प्रकाश डालते हुए आचार्य श्री ने कहा है—आज का जन-मानस आर्थिक वैषम्य को सहन नहीं करता। अमीर और गरीब, पूँजीपति और मजदूर,

इस प्रकार की भिन्न-भिन्न श्रेणियों को मिटाकर सब को एक श्रेणी में आबद्ध करने के लिये आज क्या आन्दोलन नहीं चल रहे हैं? इस समस्या का चिरस्थायी हल अपरिग्रह के सिवाय दूसरा कुछ नहीं। अपरिग्रह त्याग का प्रतीक है। अपरिग्रह की भावना का विस्तार होने से त्याग की शक्ति को बल मिलेगा और तब, अर्थाधिपतियों की अपेक्षा त्यागियों का महत्त्व बढ़ेगा। त्याग उनका केन्द्र बिन्दु बनेगा। अर्थ की लालसा के बादल छिन्न-भिन्न होते नजर आयेंगे। न कोई शोषक रहेगा और न किसी का शोषण होगा।

आज जहाँ अर्थसमीकरण की अन्य प्रक्रियाओं में हिंसा, क्रूरता, छीना झपटी, खून खराबी, आतंक इत्यादि के उन्नयन और फैलाव की पूरी-पूरी सम्भावनाएँ बनी रहती हैं, वहाँ इस अध्यात्ममूलक प्रक्रिया में इन सबकी कोई सम्भावना नहीं। प्रत्युत उसमें तो सद्भावना, नियन्त्रण, निर्भयता, अहिंसा, शान्ति, सन्तोष आदि के विकास और प्रसार के आसार भरे रहते हैं।

हिंसा और अहिंसा पर तुलनात्मक गवेषणा प्रस्तुत करते हुए आचार्य श्री ने कहा है—मुझे हिंसा में तिल भर भी विश्वास नहीं। हिंसा के द्वारा बलात् मनुष्य को वश में कर उसकी गति को मोड़ा जाता है। वहाँ हृदय-परिवर्तन का इतना ख्याल नहीं रखा जाता। हृदय-परिवर्तन के अभाव में बलात् हुआ कोई कार्य चिरस्थायी हो सके ऐसा बहुत कम संभव है। यहीं आकर अहिंसा की विशेषताओं का अनुभव होता है। वह किसी भी स्थिति में बलात् की उपादेयता को स्वीकार नहीं करती। वह मनुष्य के हृदय का परिवर्तन करती है। हिंसा आग बरसाती है और अहिंसा शीतल जल; हिंसा वैर-विरोध का उन्नयन करती है और अहिंसा प्रेम, वात्सल्य तथा सौहार्द्र का। मेरा दृढ़ विश्वास है कि मानव को जब मानव बनना होगा तो उसको अहिंसा तथा त्याग का आश्रय लेना ही होगा।

इसी प्रकार त्याग और भोग की मीमांसा के रूप में उन्होंने बताया है—त्याग और भोग जीवन के दो पहलू होते हैं। मुख्य पक्ष त्याग है, भोग गौण और नगण्य है। त्याग को मुख्यता और भोग को तिलाञ्जलि देने से ही व्यक्ति, समाज और राज्य की समस्त व्यवस्थाएँ सुन्दर रूप से सञ्चालित हो सकती हैं। त्याग की परम्परा अक्षुण्ण रहने से ही जीवन की विषम व गहन खाइयों को पाटा जा सकता है।

अहिंसा की परिभाषा को अधिक सरल और स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री ने बताया है—अहिंसा का प्रश्न मानव की स्व-वृत्तियों से सम्बन्धित है, किसी के मरने-

जीने से नहीं। जैन-आगमों में विवेचना मिलती है—साधु चलता है, मार्ग में कोई भी जीव मरा नहीं फिर भी वह हिंसक है—अगर चलने में असावधानी करता है क्योंकि असावधानी प्रमाद है और प्रमाद हिंसा है। ठीक इसके विपरीत वृत्ति में विशुद्धि और निर्मलता हो, किसी के प्रति शत्रुभाव न हो, सबके प्रति आत्म-संयम और समता हो, सावधानी और अप्रमाद हो तो किसी के प्राण-वियोजन होने पर भी साधु को उसे हिंसा-दोष नहीं लगता।

अहिंसा जीवन तत्त्व है, ज्ञान की सार्थकता है। अहिंसा के इस महान गूढार्थ को प्रकट करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—

एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण।
अहिंसा समयं चेव, एयावन्तं वियाणिया॥

अर्थात् ज्ञानी के ज्ञान का सार इसीमें है कि वह किसी की हिंसा न करे। वह अहिंसा और समता को समझकर उनमें पूर्ण निष्ठावान् बनें। अहिंसा और समता ज्ञान का सार है। जिसने दोनों को जान लिया उसने समूचे ज्ञान-विज्ञान को हस्तगत कर लिया।

अहिंसा वह सार पूर्ण वस्तु है जिससे थके-मांदे व क्षत-विक्षत जगत को त्राण मिलेगा। एक नयी राह मिलेगी और एक नयी सफलता के दर्शन होंगे।

आज मनुष्य-जाति में हिंसात्मक वृत्तियों की जो वृद्धि हो रही है उस पर घोर चिंता एवं दुःख प्रगट करते हुए आचार्य श्री ने कहा—'भलाई और बुराई का विवेक होना मनुष्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है। उनको जाने बिना भलाई का ग्रहण और बुराई का परिहार कैसे हो सकता है? भलाई और बुराई ये दोनों संसार में अनादि-काल से चलती आ रही हैं। ये मनुष्य की अन्तर्वृत्तियों में छिपी रहती हैं। जब-तब संसार में भलाई का ह्रास और बुराई का विकास होता है तब तक संसार में दुःख, दैन्य व विपत्तियों का नृशंस आक्रमण होता है। आज मनुष्य की हिंसा-प्रधान वृत्तियाँ बुराई के उत्थानकाल की सूचक हैं। बुराइयाँ आज जन-जीवन में इस प्रकार घर कर गई हैं कि आज उनको पहचान कर जीवन से उन्हें दूर करना दुःसाध्य-सा हो रहा है। बुराइयों के कारण मनुष्य खोखला हो रहा है। वह पनप नहीं रहा है। अच्छाइयों से उसने आँखें मोड़ ली है। यह स्थिति भयानक है। यह दौर दौरा अगर ऐसा ही चलता गया तो वह दिन दूर नहीं जब मानवता और

दानवता के बीच कोई भेद-भाव नहीं रह जायगा। अतएव समय रहते मनुष्य सचेत होकर इस दुर्निवार स्थिति के प्रतिकार के लिये सक्रिय उद्योग करे।

आज के युग की जलती हुई समस्याओं और हिंसा के प्रबल वातावरण की चुनौती को देखते हुए धार्मिक सम्प्रदायों का यह कर्तव्य होना चाहिये था कि वे अहिंसा के सार्वजनिक मन्त्र पर संगठित होकर युग की चुनौती के विरुद्ध एक प्रतिशोधात्मक मोर्चा स्थापित करें। मगर आज इसके विपरीत कार्य हो रहा है।

धार्मिकों का यह पवित्र उद्देश्य कहाँ कि वे विश्व-बन्धुता और विश्व-मैत्री का अधिक से अधिक प्रचार व प्रसार करेंगे और कहाँ आज का स्थिति कि वे परस्पर लड़-झगड़ कर अपनी शक्ति को विनष्ट कर रहे हैं। साम्प्रदायिकता का भूत एक ऐसा ही भूत है जो कि मनुष्य को संकीर्णता की सीमा के बाहर झाँकने नहीं देता। इतना ही नहीं, वह मनुष्य को ऐसे षड्यन्त्र रचने की ओर प्रेरित करता है जो उन धार्मिक कहलानेवाले व्यक्तियों के लिए कलंक का टीका है। एक धार्मिक सम्प्रदाय इतर धार्मिक सम्प्रदाय के साथ अमानवीय व्यवहार करता है, एक दूसरे पर आक्षेप व छींटाकशी करता है, एक के विचारों का विकृत रूप बनाकर लोगों को भड़काने व बहकाने के लिये प्रचार करता है तो यह अपने आपके साथ धोखा है, अपनी कमजोरी का प्रदर्शन है, अपने दुष्कृत्यों का रहस्योदघाटन है और अपनी संकीर्ण भावना व तुच्छ मनोवृत्ति का परिचायक है। अगर कोई धार्मिक सम्प्रदाय, दूसरे धार्मिक सम्प्रदाय को गिराने का प्रयास करता है तो यह उसकी अनाधिकार चेष्टा व अहिंसा के प्रति अनुत्तरदायी होने का द्योतक है।

आज समस्यायें तो अनेक है। कहना तो यों चाहिये कि यह समस्याओं का ही युग है। इनका समाधान भी आपको ही करना होगा; इसमें कोई शक नहीं। प्रश्न यह है—समस्याओं का समाधान कैसे करें? मार्ग दो हैं—भ्रष्टाचार (अनीति) का और दूसरा संयम का। संयम से होनेवाला समाधान दीखने में कठिन परन्तु अत्मानुभव में सुगम और मीठा होता है। भ्रष्टाचार से होनेवाला समाधान पहले सुगम और पीछे कठिन है। स्थूल-दृष्टि से देखें तो व्यक्ति को दोनों ओर विषमता मिलेगी; क्योंकि एक में पहले सुख तो बाद में दुःख और दूसरे में पहले दुःख तो बाद में सुख ही है। इस तरह दोनों में समान-भाव दृष्टिगोचर होता है। मगर सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो परिणाम में बड़ा भारी अन्तर आयेगा। एक में सुख मर्यादित है—वह भी

क्षणिक और भौतिक और दूसरे में असीम सुखानुभूति। इस तरह दो साधन हमारे सामने आये। उसी तरह सुख के दो मार्ग हैं—आध्यात्मिक और भौतिक। अध्यात्मवाद हमें समस्याओं का हल इस प्रकार देता है—एक आवश्यकता की पूर्ति से दो और आवश्यकताओं का जन्म होता है। क्योंकि आवश्यकताओं की सीमा नहीं है, अतः ज्यों-ज्यों लाभ बढ़ेगा त्यों-त्यों लोभ भी बढ़ेगा। लाभ से लोभ का परिवर्धन होता है और लोभ दुःख का कारण है। इसलिए आवश्यकताओं को घटाओ, उससे लोभ पर नियंत्रण आयेगा, सुख की वृद्धि होगी।

आज का संघर्ष अभाव और अतिभाव का संघर्ष है। दोनों से बचकर चलने का मार्ग समभाव है। राजनीति की दृष्टि उत्पादन, वितरण और विनिमय पर से वैयक्तिक प्रभुत्व को हटाकर समभाव को पालित करना चाहती है। इसलिए उसके अनुसार समभाव सामूहिक सम्पत्ति पर आधारित है। संयम की दृष्टि उससे भिन्न है। वह समभाव को आत्मनिष्ट मानती है। व्यक्ति-व्यक्ति में समभाव आये—प्राणिमात्र को आत्मतुल्य समझने की भावना प्रबल बने। एक दूसरे का शोषण इसलिए करता है कि उसकी भोगवृत्ति चलती चले और अत्यधिक समता की भावना जब तक नहीं जागती तब तक वह ऐसा करता रहता है। व्रत के दर्शन में रोग का कारण भोग-वृत्ति है, पदार्थ और संग्रह नहीं।

जीवन की दिशा बदलने के लिये आचार्य श्री ने जिस मूलमंत्र पर बल दिया है वह है—'संयमः खलु जीवनम्'। जीवन के क्षणों में शान्ति आये, इसके लिये यह नितान्त आवश्यक है।

आशा है, प्रस्तुत प्रवचन डायरी '५४-'५५ में संग्रहीत आचार्य श्री के प्रवचनों के अध्ययन एवं मनन से मानव-समाज को एक नया दिशा-संकेत मिलेगा।

१५, नूरमल लोहिया लेन,
कलकत्ता
१ जून, १९६०

श्रीचन्द रामपुरिया

प्रवचन-डायरी, १९५४

विषय-सूची

प्रवचन-डायरी, १९५५

विषय-सूची

प्रवचन - डायरी, १९५४

(आचार्य श्री तुलसी के जनवरी '५४ से दिसम्बर '५४ तक के प्रवचनों का संग्रह)

१ : शिक्षा का उद्देश्य

विद्यार्थी-जीवन अन्य जीवनों की रीढ़ है। जब तक वह सम्पन्न और समुन्नत नहीं होगा, देश, समाज और राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता। आज की शिक्षा-पद्धति भारतीयता के अनुकूल नहीं है। उसमें परिवर्तन की आवश्यकता है। जन-नेता ऐसा अनुभव करते हैं, फिर भी वे शिक्षा-पद्धति में परिवर्तन नहीं कर पाते। उनके सामने कठिनाइयाँ हो सकती हैं, पर, बिना ऐसा किये विद्यार्थियों का जीवन उन्नत नहीं हो सकता और उसके बिना समाज व राष्ट्र भी उन्नत नहीं हो सकता। यह भारतीय-जीवन जो अध्यात्म-प्रधान है, उसमें भौतिकता घर करती जा रही है। जन-जीवन में आध्यात्मिकता आनी चाहिये।

आज की शिक्षा का लक्ष्य गलत है। विद्यार्थी पढ़ते हैं— किसलिये? आगे जीवन में अधिकाधिक धन कमा सकें और भौतिक सुख-सुविधायें पा सकें। यह तो मूल में ही भूल हो रही है। वह विद्या जो मानव को मानव ही नहीं किन्तु मुक्त बनानेवाली थी, जो उसे दुःख-दुविधाओं से मुक्त कर शाश्वत सुख दिलानेवाली थी, आज धन और आजीविका का साधन मात्र रह गई है। यह भूल विद्यार्थियों की नहीं, धन को बड़ा माननेवालों की है। फिर भला विद्यार्थी क्या करें! जब कि देश के कर्णधार भी इसे इसी दृष्टि से देखते हैं। जब तक धन को महत्त्व दिया जाता रहेगा, तब तक यह समस्या सुलझेगी नहीं।

आज कहा जाता है—पतन हो रहा है, नैतिकता गिरती जा रही है। लोग संसार को उठाने का प्रयास करते हैं, पर अपने आपकी ओर वे नहीं देखते। यदि अपने आपको न सुधार कर संसार को सुधारने का प्रयास किया जायगा तो न संसार सुधरेगा और न सुधारक ही। पहले व्यक्ति स्वयं उठे, फिर पड़ोस, समाज और राष्ट्र को उठावे। सुधार धर्म से सम्भव है। आज का बुद्धिवादी-वर्ग 'धर्म' शब्द से चिढ़ता

है। इसमें सिर्फ उसका ही दोष नहीं; दोष उनका है जिन्होंने धर्म को सही रूप से सामने नहीं रखा है। शब्द से चिढ़ है तो छोड़िये उसे। आप सत्य और अहिंसा को जीवन में स्थान दीजिये, यही धर्म है। धर्म वह चीज है जो व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन का विकास करता है। धर्म में लिंग, रंग और वर्ग का भेद-भाव नहीं है। वह धर्म-स्थान की ही चीज नहीं है, जीवन की भी चीज है, जो जीवन के कण-कण में आनी चाहिये। जीवन में प्रतिपल उसके प्रति जागरूक रहना होगा।

बन्धुओ! आप आजादी के युद्ध लड़े। वह ध्वंस का जमाना था। आपने विदेशी हुकूमत का ज्यादा से ज्यादा नुकसान किया, पर आज तो आपकी सरकार है। विद्यार्थी यदि अब भी ध्वंस-लीलाएँ करते हैं तो यह दूसरों का नुकसान नहीं, उनका अपना नुकसान है। आज आपकी परीक्षा की बेला है, निर्माण का समय है। अपनी वीरता का परिचय दीजिये। आज अनैतिकता बढ़ रही है। उससे लड़ना होगा। उसे खत्म करना होगा। हिंसा और लड़ाई-दंगों से नहीं, नैतिकता का प्रसार करके अनैतिकता पर काबू करना होगा। आत्म-निर्माण के इस काम में आपका हाथ रहा तो मैं समझूँगा, आप सच्चे वीर हैं।

ब्यावर,
१ जनवरी '५४

२ : दीक्षा का महत्त्व

आध्यात्मिक-क्षेत्र में दीक्षा का बहुत बड़ा महत्त्व है। जिन भौतिक सुख-सुविधाओं, विषय-वासनाओं के पीछे पड़कर इन्सान अपना विवेक तथा ईमान तक खो बैठता है, दीक्षार्थी उन्हें मिट्टी के ढेले की तरह ठुकराकर त्याग, संयम, साधना एवं शौच के कठिनतम मार्ग को अपनाता है। दीक्षा अदम्य आत्मबल का जीता-जागता उदाहरण है।

भारतीय-दृष्टिकोण की विश्व में सदा से अपनी विशेषता रही है। जहाँ पश्चिम में अधिकांश लोग भौतिक-अभिसिद्धियों को जीवन का लक्ष्य मानकर, उनके जंजाल में बुरी तरह से फँसे रहते हैं, वहाँ भारतीय-दृष्टिकोण अन्तरतम में पैठकर आत्म-साक्षात्कार की प्रेरणा देता है। जहाँ दूसरे लोग हिंसा और आतंक से शान्ति लाना चाहते हैं, वहाँ भारतीय दृष्टि है कि जैसे आग से आग बुझ नहीं सकती, वैसे ही हिंसा से हिंसा मिट नहीं सकती; संघर्षों से शान्ति आ नहीं सकती। शान्ति आने का एक ही सही

मार्ग है—अहिंसा का अवलम्बन। साधु-जीवन में प्रविष्ट होनेवाला व्यक्ति जीवन में पूर्ण रूप से अहिंसा की साधना करता है तथा दूसरों को अहिंसा के पथपर आने की प्रेरणा देता है। अनैतिक एवं विषय-वृत्तियों से आकुल जगत को नैतिकता, समता और शान्ति का मार्ग बतलाता हुआ उन्हें सही माने में मानव बनने का पथ दिखलाता है। उसका जीवन कठोर साधना का जीवन होता है। अपनी इच्छाओं और कामनाओं को नियन्त्रित कर आत्मानुशासन, इन्द्रिय-निग्रह, नियमानुवर्तन और स्वावलम्बन को जीवन का चिर-सहचर बना, अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर आगे बढ़ते रहना उसका क्रम है।

ब्यावर,
३ जनवरी '५४

३ : अहिंसा की शाश्वत मान्यता

अहिंसावादी शताब्दियों एवं सहस्राब्दियों से अहिंसा पर विचार करते रहे हैं; अनुशीलन करते रहे हैं, फिर भी यह विषय पुराना नहीं पड़ा। जब भी इस पर चिन्तन करते हैं, नवीनता का अनुभव होता है। कारण यह है कि अहिंसा जीवन-दर्शन का तत्त्व है। उसकी व्याप्ति सामयिक या देशीय नहीं वरन् सार्वकालिक और सार्वदेशिक है। जैन-आगमों में अहिंसा के साठ नाम आये हैं। मैत्री, समता, बन्धुता, अभय, शुद्ध प्रेम—ये सब अहिंसा के ही तो नाम हैं। इनसे स्पष्ट है कि निषेधात्मक की तरह अहिंसा का विधेयात्मक रूप भी है।

अहिंसा के केवल निषेधात्मक रूप को लेना उसकी एकांगी व्याख्या है। अहिंसा जीवन का तत्त्व है, ज्ञान की सार्थकता है। भगवान् महावीर ने कहा है—'**ज्ञानी के ज्ञान का सार इसीमें है कि वह किसी की हिंसा न करे।**' कुछ लोग हिंसा को भी धर्म के साथ जोड़ देते हैं, यह ठीक नहीं है।

हिंसा और धर्म का पूर्व और पश्चिम का सम्बन्ध है। तात्त्विक दृष्टि से हिंसा को धर्म में परिणत नहीं किया जा सकता, पर चूंकि लोगों को 'धर्म' शब्द अति प्रिय है। अतः उनके व्यावहारिक किंवा सामाजिक-जीवन से अनिवार्य लगाव रखनेवाले कार्यों के साथ भी 'धर्म' शब्द जोड़ा गया। सामाजिक, वैयक्तिक बाध्यता में जहाँ अहिंसा से काम नहीं चल सका तो हिंसा को प्रश्रय मिला, इसलिये कि लोगों में उतना आत्मबल व ओज नहीं था जिसके माध्यम से वे अपनी उलझनें सुलझा सकें। सामाजिक व्यक्ति

की अनिवार्य आवश्यकता है, इसको शाश्वत मान्यता दिया जाना मूल में भूल है। अहिंसा मानव की वृत्ति में है--मरने और जीने मे नहीं। जैन-आगमों में विवेचना मिलती है कि साधु चलता है, मार्ग में कोई भी जीव मरा नहीं, फिर भी वह हिंसक है, यदि चलने मे असावधानी करता है। क्योंकि असावधानी प्रमाद है, प्रमाद हिंसा है। वित्ति मे विशुद्धि और निर्मलता हो, किसी के प्रति शत्रु-भाव न हो, संयम हो, तो प्राण-वियोजन भी हिंसा नहीं है। किसी तरह से एक प्राणी के प्राण बचा दिये, इसका वह महत्त्व नहीं है जो किसी को अहिंसा वृत्ति मे लाना है। अहिंसक वृत्ति में आये हुए व्यक्ति से एक को नहीं, सहस्रों प्राणियों को अभय मिलता है।

अहिंसा के लिये कोई यह दावा करे कि यह उसकी परम्परा-प्राप्त निधि है तो किसको आपत्ति है? अहिंसा को वह जीवन मे उतार कर दिखाये। जीवन में उसे न ढालकर केवल बातें बनाना तो ढोंग और दिखावे के सिवाय और कुछ नहीं क्योंकि अहिंसा उसीकी है जो उसे जीवन में ढालता है। आज अहिंसावादियों के लिये एक विशेष मौका है। संसार हिंसा के भयावह घात-प्रतिघात से आज थक चुका है। वह कोई सहारा ढूँढता है। अहिंसा उसे सहारा दे सकती है। यही वह सहारा है जिससे थके-मांदे और क्षत-विक्षत जगत को त्राण मिल सकता है। क्या अहिंसा में निष्ठा रखनेवाले इसपर सोचेंगे?

ब्यावर,
७ जनवरी '५४

४ : साधु-संगति आवश्यक

मानव जैसी संगति करता है वैसे ही गुणावगुण उसमें आते हैं। बुरी संगति हर जगह हो सकती है, पर सत्संगति के स्वर्ण अवसर जीवन मे कभी-कभी ही आया करते हैं। ऐसे सन्तों का, जो स्वयं उठे होते हैं और दूसरों के जीवन को उठाने का प्रयास करते हैं, मिलना तो अति दुर्लभ है।

लोगों में जैन-साधुओं के प्रति एक सामान्य संकीर्ण भावना घर कर गई है कि "ये बनियों और ओसवालों के महाराज हैं।" भला साधु भी किसी जाति विशेष के होते हैं! साधु उनके हैं जो साधु के जीवन से शिक्षा लेकर अपना जीवन उठाते हैं। व्यक्ति किसी जाति या कार्य-विशेष का हो सकता है, पर साधु इस भेद से सर्वथा परे होते हैं। वे स्वयं का कल्याण करते और पर-कल्याण में संलग्न रहते हैं। ऐसे साधुओं

को किसी दायरे में नहीं बाँधा जाना चाहिए, प्रत्युत् उनसे जीवन-उत्थान की बातें सीखनी चाहिए।

आज यह कहा जाता है कि शहरी जीवन में बुराइयाँ भरी पड़ी हैं, पर ग्राम्य-जीवन भी इनसे अछूता नहीं बचा है। शहरों की हवा ग्रामों में भी पहुँच चुकी है। माँस और मदिरा जैसी वस्तुओं से देहातियों का खान-पान बिगड़ता जा रहा है तथा इनसे उनमें गँवारपन आने लगा है। याद रखिये, आज गँवार कोई जाति-विशेष नहीं है, वरन् गँवार वह है जिसके आचरण, व्यवहार, खान-पान और विचार बुरे हैं। फिर चाहे वह ब्राह्मण हो, वैश्य हो या अन्य कोई भी।

यह साधु-संगति का सुअवसर है। आपको उन्हें भेंट चढ़ानी होगी, रुपये-पैसों की नहीं, वरन् जीवन की बुराइयों की। यदि आपने अपने जीवन की एक-एक बुराई भी साधु-चरणों में अर्पित कर दी तो आज के दिन की यह साधु-संगति आपके जीवन-उत्थान में सहायक बनेगी।

राजियावास,
८ जनवरी '५४

५ : त्याग के मार्ग

मानव-जीवन क्षणिक है। वह क्षणिक है, यही कारण है कि वह बहुत कीमती है। थोड़ी चीजें हमेशा कीमती हुआ करती हैं। स्वर्ग, नरक, पूर्वजन्म, पुनर्जन्म आदि से लोगों का विश्वास उठता-सा जा रहा है। फिर भी वह दुःखी है। याद रखिये कि यह जीवन धन-वैभव, भोग-विलास और अपरिमित तृष्णा से सुखी नहीं बन सकता। उसे सुखी बनाने के लिए कुछ कष्ट सहने ही होंगे, बलिदान करना ही होगा, त्याग करने ही होंगे। किसान पहले कष्ट सहता है, सर्दी-गर्मी की परवाह नहीं करता हुआ खून और पसीना बहाता है, तब कहीं जाकर सैकड़ों मन अनाज पैदा कर पाता है। यदि वह चाहे कि मैं आराम से रहूँ, सर्दी-गर्मी से बचूँ तो अनाज पैदा हो सकता है क्या ? इसी तरह यदि आप कुछ त्याग नहीं करेंगे तो सुख मिलने का नहीं। त्याग के पाँच मार्ग हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इनको आदर्श मानकर उन्हें यथाशक्ति अपने जीवन में उतारना होगा। तभी मानव सुखी बनेगा और उसे शान्ति मिलेगी।

राजियावास,
९ जनवरी '५४

६ : सुख मत लूटो : दुख मत दो

जैन-संस्कृति आत्म-उत्सर्ग की संस्कृति है। बाह्य स्थितियों में जय-पराजय की अनवरत शृङ्खला चलती है। वहाँ पराजय का अन्त नहीं होता। उसका पर्यवसान आत्म-विजय में होता है। यह निर्द्वन्द्व स्थिति है। जैन-विचारधारा की बहुमूल्य देन है संयम।

सुख का वियोग मत करो, दुःख का संयोग मत करो—सब के प्रति संयम करो। सुख दो और दुःख मिटाओ की भावना में आत्म-विजय का भाव नहीं होता। दुःख मिटाने की वृत्ति और शोषण, उत्पीड़न तथा अपहरण साथ-साथ चलते हैं। उधर शोषण और इधर दुःख मिटाने की वृत्ति—यह उच्च संस्कृति नहीं।

सुख का वियोग और दुःख का संयोग मत करो—यह भावना आत्म-विजय का प्रतीक है। सुख का वियोग किये बिना शोषण नहीं होता, अधिकारों का हरण और द्वन्द्व नहीं होता।

सुख मत लूटो और दुःख मत दो—इस उदात्त-भावना में आत्म-विजय का स्वर जो है, वह है ही। उसके अतिरिक्त जगत की नैसर्गिक स्वतन्त्रता का भी महान् निर्देश है।

प्राणीमात्र अपने अधिकारों में रमणशील और स्वतन्त्र है, यही उनकी सहज सुख की स्थिति है।

सामाजिक सुख-सुविधा के लिए इसकी उपेक्षा की जाती है किन्तु उस उपेक्षा को शाश्वत-सत्य समझना भूल से परे नहीं होगा।

इस प्रकार का संयम, इस प्रकार का संवर और इस प्रकार का विरमण है, वह सब स्वात्मोन्मुखी वृत्ति है, या वह निवृत्ति है या है निवृत्तिसंकलित प्रवृत्ति।

इस आशय के प्रयोग संसारोन्मुखी वृत्ति हैं। जैन-संस्कृति में प्रमुख वस्तु है 'दृष्टिसम्पन्नता'—सम्यक्-दर्शन। संसारोन्मुखी वृत्ति अपनी रेखा पर और आत्मोन्मुखी वृत्ति अपनी रेखा पर अवस्थित रहती है, कोई दुविधा नहीं होती। अव्यवस्था तब होती है जब दोनों का मूल्यांकन एक ही दृष्टि से किया जाए। संसारोन्मुखी वृत्ति में मनुष्य अपने लिए मनुष्येतर जीवों के जीवन का अधिकार स्वीकार नहीं करते। उनके जीवन का कोई मूल्य नहीं आँकते। दुःख मिटाने और सुखी बनाने की वृत्ति व्यावहारिक है किन्तु क्षुद्र-भावना, स्वार्थ और संकुचित वृत्तियों को प्रश्रय देनेवाली है। आरम्भ और परिग्रह ये व्यक्ति को धर्म से दूर किये रहते हैं। बड़ा व्यक्ति अपने

हित के लिए छोटे व्यक्ति की, बड़ा राष्ट्र अपने हित के लिए छोटे राष्ट्र की निर्मम उपेक्षा करते नहीं सकुचाता।

बड़े से भी कोई बड़ा होता है और छोटे से भी कोई छोटा। बड़े द्वारा अपनी उपेक्षा देख छोटा तिलमिलाता है किन्तु अपने से छोटे के प्रति कठोर बनते वह नहीं सोचता। यहाँ गतिरोध होता है।

जैन-विचारधारा यहाँ बताती है—दुःखानवर्तन और सुख-दान की प्रवृत्ति को मिाज की विवशात्मक अपेक्षा समझो। उसे ध्रुव-सत्य मान कर मत चलो। सुख मत लूटो, दुःख मत दो—इसे विकसित करो। इसका विकास होगा तो 'दुःख मिटाओ, सुखी बनाओ' की भावना अपने आप पूरी होगी। दुःखी न बनाने की भावना बढ़ेगी तो दुःख अपने आप मिट जायगा। सुख न लूटने की भावना दृढ़ होगी तो सुख बनाने की आवश्यकता ही क्या होगी?

संक्षेप में तत्त्व यह है—दुःख-सुख को ही जीवन का ह्रास और विकास मत समझो। संयम जीवन का विकास है और असंयम ह्रास। असंयमी थोड़े व्यक्तियों को व्यावहारिक लाभ पहुँचा सकता है किन्तु वह छलना, क्रूरता और शोषण को नहीं त्याग सकता।

संयमी थोड़े व्यक्तियों का व्यावहारिक हित न साध सके फिर भी वह सबके प्रति निश्छल, दयालु और शोषणमुक्त रहता है। मनुष्य जीवन उच्च संस्कारी बने, इसके लिए उच्च वृत्तियाँ चाहिए; जैसे :—

(१) आर्जव या ऋजुभाव, जिससे विश्वास बढ़े।
(२) मार्दव या दयालुता, जिससे मैत्री बढ़े।
(३) लाघव या नम्रता, जिससे सहृदयता बढ़े।
(४) क्षमा या सहिष्णुता, जिससे धैर्य बढ़े।
(५) शौच या पवित्रता, जिससे एकता बढ़े।
(७) सत्य या प्रामाणिकता, जिससे निर्भयता बढ़े।
(७) माध्यस्थ्य या आग्रहहीनता, जिससे सत्य-स्वीकार की शक्ति बढ़े।

किन्तु इन सबको संयम की अपेक्षा है। "एक ही साधे सब सधे"—संयम की साधना हो तो सब सध जाते हैं, नहीं तो नहीं। जैन-विचारधारा इस तथ्य को पूर्णता का मध्य-बिन्दु मानकर चलती है। अहिंसा इसीकी उपज है, जो 'जैन-विचारणा'

की सर्वोपरि देन मानी जाती है।

प्रवर्त्तक-धर्म पुण्य या स्वर्ग को ही अन्तिम साध्य मानकर रुक जाता था। उसमें जो मोक्ष-पुरुषार्थ की भावना का उदय हुआ है, वह निवर्तक-धर्म या श्रमण-संस्कृति का ही प्रभाव है।

अहिंसा और मुक्ति—श्रमण-संकृति की ये दो ऐसी आलोक-रेखाएँ हैं जिनसे जीवन के वास्तविक मूल्यों को देखने का अवसर मिलता है।

जब जीवन का धर्म—अहिंसा या कष्ट-सहिष्णुता और साध्य—मुक्ति या स्वातन्त्र्य बन जाता है, तब व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की उन्नति रोके नहीं रुकती। आज की प्रगति की कल्पना के साथ ये दो धाराएँ और जुड़ जायँ तो साम्य आएगा, भोगपरक नहीं, किन्तु त्यागपरक; वृत्ति बढ़ेगी—दानमय नहीं किन्तु अग्रहणमय: नियन्त्रण बढ़ेगा—दूसरों का नहीं, किन्तु अपना।

भारतीय संस्कृति की विशाल स्रोतस्विनी श्रमण-संस्कृति का जो महान् स्रोत अनिरुद्ध प्रवाहमान है, वह जीवन की शान्ति में सहायक होगा ऐसा मेरा विश्वास है।

(जैन सांस्कृतिक परिषद्, कलकत्ता में पठित)

१० जनवरी '५४

७ : उपासना का महत्त्व

टाड़गढ़ एक पहाड़ी स्थान है। इसके पहाड़ी दृश्य बड़े चित्ताकर्षक तथा मनोरंजक हैं। पर मेरी निगाह में इन जड़ दृश्यों का क्या महत्त्व ? मैं तो आज इस चेतन दृश्य को देखकर प्रसन्न हूं जिसमें सभी जाति, वर्ग, सम्प्रदाय और कौम के लोग आपसी भेद-भाव को मिटाकर आध्यात्मिक सन्देश सुनने को श्रद्धा सहित उपस्थित हैं। मुझे लगता है कि विषमता, अनीति और अनाचार का युग, जिसने समाज और देश में विशृंखलता पैदा कर रखी है, अब मिटने ही वाला है। लोग यह महसूस करने लगे हैं कि शोषण और अत्याचार उनके जीवन की उलझी गुत्थियों को सुलझा नहीं सकते, उल्टे और ज्यादा उलझन पैदा कर सकते हैं। जीवन की विकट समस्याएँ अहिंसा, सत्य, मैत्री और सद्वृत्ति से ही सुलझ सकती हैं और यह सुलझाव क्षणिक नहीं, शाश्वत् और चिरन्तन होता है।

लोग मन्दिरों, मठों, मस्जिदों और गिरजाघरों में जाते हैं, घण्टे बजाते हैं, उपासना तथा तरह-तरह की रस्में अदा करते हैं। मुझे इनसे विरोध नहीं, पर, किसी स्थान विशेष में जाने मात्र और प्रथा का पालन करने मात्र में ही उपासना नहीं है। सच्चे दिल से उपासना कहीं भी की जा सकती है। इसका सही तथ्य है—अपने स्वरूप को समझना, उसकी अनुभूति करना और उसे जीवन-चर्या में ढालना। उपासक में संकीर्णता नहीं होती। वह उदार, व्यापक और असंकीर्ण भावना वाला होता है। नियमनुवर्तिता, सात्विकता, सद्भावना और मैत्री उसके सहज गुण हैं। यदि ये गुण नहीं आयें तो उपासना केवल नाम मात्र की उपासना है, उसमें तात्त्विकता नहीं।

टाड़गढ़,
१५ जनवरी '५४

८ : आपके हित की बात

यहाँ आने की मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है। भला जहाँ के लोग ग्राहक हों, वहाँ किस दुकानदार को खुशी न होगी ? यह धर्म की दूकान है और सामने बड़ी संख्या में ग्राहक उपस्थित हैं। अतः खुशी होना तो स्वाभाविक है।

आज लोग बिना किसी वर्ग, वर्ण आदि भेद के उपस्थित हैं। ऐसा लगता है, मानव सब एक हैं। उनमें यह बन्धुता, भाईचारा, शुद्ध प्रेम, शुद्ध मैत्री निरन्तर बढ़ती जाये। कोई किसी का शोषण न करे, ठगने या लूटने की भावना न रखे। चाहे कोई महाजन हो या कृषक, परिश्रम के पैसे पर विश्वास रखे। संघर्ष और मनमुटाव में काम नहीं चल सकता। जिस प्रकार एक हाथ से ताली नहीं बज सकती, उसी प्रकार बिना कृषक के महाजन का और बिना महाजन के कृषक का काम नहीं चल सकता। अतः उन्हें स्वार्थ-साधना और शोषण की वृत्ति छोड़कर विशालता और विराट प्रेम को प्रश्रय देना होगा।

चाहे कोई शहरी है या देहाती, सब मनुष्य हैं। उन्हें मनुष्यता के नाते क्या करना चाहिए ? खाना-पीना आदि तो पशु भी किया करते हैं। लेकिन मानव में पशुपन न आये। इसके लिए वह जीवन में बुराइयाँ न आने दे। परिश्रम के पैसे पर भरोसा रखे, खान-पान को न बिगाड़े। वह मांस और शराब से बचे, धूम्रपान को छोड़े, जुए और सट्टे से दूर रहे, अपनी सन्तान को पशु की तरह न बेचे। मानव-

जीवन में अच्छाइयों को स्थान दे और बुराइयों से बचता रहे। इसीमें उसके हित के साथ-साथ समाज तथा राष्ट्र का हित है।

दुदालेश्वर,
१६ जनवरी '५४

९ : नागरिकों का कर्तव्य

प्रत्येक गाँववासी और नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह अपनी आवश्यकताएँ कम करे। ज्यों-ज्यों लोग आवश्यकताओं, आकांक्षाओं और इच्छाओं को बढ़ाते जायेंगे, सुख और शान्ति दूर भागती जायेगी, दुःख समीप आता रहेगा। जीवन में त्याग-वृत्ति की प्रमुखता हो, जन-जन में संयम, सच्चाई एवं सात्त्विक भावना का संचार हो। मद्य, माँस, जूआ, धूम्रपान, मिलावट, विश्वासघात आदि बुरी वृत्तियों से लोग बचें। जबतक इन कुव्यसनों एवं कुवृत्तियों से छुटकारा नहीं मिलेगा, जीवन सही मार्ग पर आगे बढ़ नहीं सकेगा। ये बुराइयाँ मनुष्य को विपथगामी बनानेवाली भयानक शत्रु हैं। राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक- जहाँ तक बन पड़े—सत्य, अहिंसा एवं त्याग के आदर्शों पर अपना जीवन ढाले।

मगरा,
१८ जनवरी '५४

१० : त्याग का मूल्य

मानव-जन्म पाना और बात है और मानव बनना और बात। मानव यदि वास्तविक मानव-जीवन नहीं अपनाता है तो सिर्फ यह मनुष्य देह धारण करने से क्या लाभ ? मुट्ठी बाँध कर आनेवाला मानव यदि खाली हाथ जाता है तो उसके जैसा अज्ञानी फिर कौन होगा ? आपको खाली हाथ जाना स्वीकार है क्या ? अगर नहीं, तो अच्छा रास्ता अपनाइये, जीवन में त्याग को स्थान दीजिये। त्याग के लिए ज्यादा नहीं तो कम से कम ११ सूत्री योजना को तो जीवन में अवश्य उतारिए।

काणा खेजड़,
२४ जनवरी '५४

११ : सन्तोंका स्वागत

आज मेवाड़ी जनता के हर्ष की सीमा नहीं पर मुझे भी इस मंगलावसर पर कम हर्ष नहीं है। मैं अपने आचार्य-पद की जन्मभूमि में आ रहा हूँ। मेवाड़ तेरापन्थ तथा उसके आचार्यों की पुण्य जन्मभूमि रहा है। मुझे खेद है कि पूर्व उद्घोषित तथि पर मैं यहाँ न पहुँच सका और पंचमी को दीक्षा भी न हो सकी।

आज आपलोगों ने मेरा हार्दिक स्वागतकिया है, पर सन्तों का स्वागत वाणी, शब्दों और पन्नों से नहीं होता, उनका स्वागत तो भक्ति से होता है, जो मेवाड़ी बन्धुओं की रग-रग में कूट-कूट कर भरा पड़ा है, ऐसा स्पष्ट पा रहा हूँ। आज उनका हृदय बाँसों उछल रहा है। उनकी भक्ति देखकर मेरा भी हृदय गद्‌गद् हो रहा है। यदि किसी को भक्ति और श्रद्धा की शिक्षा लेनी है तो वह मेवाड़ से ले। मेवाड़ी बन्धुओं म सिर्फ श्रद्धा ही नहीं, पर वे धर्म के नाम पर भी कुर्बान होने की क्षमता रखते हैं। यद्यपि मैं अभी सारे मेवाड़ का दौरा नहीं कर रहा हूँ, फिर भी देवगढ़ में आने से मुझे ऐसा लगता है कि मानों सारे मेवाड़ में आ गया हूँ।

मेवाड़ी बन्धुओ ! मैं क्या कहूं ? मेवाड़ वीरों की भूमि रही है। आज भी उसमे वीर रहते हैं, प्रगतशील बसते हैं, जहाँ आन्दोलन पनपते हैं, उन्हें बल मिलता है। क्या मैं आशा करूँ कि त्याग, अहिंसा और जन-जन के जीवन को ऊँचा उठानेवाला अणुव्रत-आन्दोलन मेवाड़ में अधिक पनप पायेगा, तथा संसार में प्रकाश फैलाकर अंधकार को मिटायेगा, फूलेगा और फलेगा ? यह समय का तकाजा है। आज का युग जाति, वर्ग, और साम्प्रदायिकता को सह नहीं सकता। आपको करवट बदलनी ही होगी, सोचना होगा और अनैतिकता के विरुद्ध विशाल पैमाने पर सिंहनाद करना होगा।

युग शान्ति की कामना कर रहा है और वह शान्ति धर्म से मिल सकती है। आपको चाहिए कि संकीर्णता को छोड़कर विशाल कामना और स्वच्छ दिल लेकर धर्म को जीवन में उतारें और त्याग को प्रश्रय दें। आपको शान्ति की प्राप्ति होगी तथा आपका जीवन ऊँचा उठेगा।

देवगढ़,

२५ जनवरी '५४

१२ : दीक्षा : संस्कृति का प्रतीक

दीक्षा भारत की त्यागमूलक संस्कृति का जीवित प्रतीक है। आज जहाँ लोग भोग-लिप्सा एवं विषय-वासनाओं से ग्रस्त हैं, जीवन के सही मूल्यों को भूलते जा रहे हैं, वहाँ दीक्षार्थी समस्त सासारिक सुख-सुविधाओं का परित्याग कर त्याग, बलिदान, और सच्चाई का मार्ग अपनाता है। स्वयं अपना उत्थान करता है तथा जन-जन को आत्म-उत्थान की पवित्र प्रेरणा देता है। आज का यह दीक्षा-समारोह एक ऐसा ही समारोह है जिसमें एक विरक्त आध्यात्मोन्मुख बहन सयममय साधना का मार्ग अपनाने जा रही है।

देवगढ़,
२६ जनवरी '५४

१३ : आत्मसंचित शक्तियों को जागृत करें

अभी बहनों ने अपने जीवन का मूल्य नहीं समझा है। पानी ले आना, चक्की चलाना, रसोई बनाकर खिला देना आदि कार्यों को ही वे अपने जीवन की चरम सफलता मान बैठी हैं। पर बहनो! खाना-पीना तो किसी तरह पशु भी कर लेते हैं; किन्तु आपका जीवन पशु-तुल्य तो नहीं है। वेद-वाक्यों में आया है--**"मानव जीवन का मिलना मुश्किल है। यह जीवन हीरे के तुल्य है। इसे व्यर्थ ही खो दिया तो फिर इसका मिलना सुलभ नहीं है।"** अतः इस जीवन को सफल बनाने के लिए ज्ञान अत्यावश्यक है। ज्ञानाभाव में जीवन शून्य रहता है। चाहे शरीर कितना ही गहनों में क्यों न लदा हो, पर ज्ञान के अभाव में संपूर्ण जीवन अपूर्ण है। इन गहनों और पोशाकों में रखा ही क्या है? ये खुशी की चीजें नहीं, वरन् शरीर को ढकने के साधनमात्र हैं। अज्ञानतावश आप इन्हें सुख का साधन समझ रही हैं। राजस्थानी भाषा में औरत को 'लुगाई' कहा जाता है। 'लुगाई' शब्द का अर्थ है अपने आपको छिपाकर रखनेवाली। थोड़ी-सी बात से भी आप बहुत डर जाती हैं। उन्हें इतना नहीं डरना चाहिए। डर होना चाहिए पापों का, दुष्कृत्यों का, अपने आपका, परमात्मा का तथा गुरु का जिससे उन्हें अपने आत्म-शक्ति मिले और वे पापों से सर्वथा मुक्त होती रहें। बहनों को आत्मसंचित शक्तियाँ जागृत करनी चाहिए। जीवन में प्रविष्ट कुरूढ़ियों एवं बुराइयों को निकाल देनी चाहिए तभी समाज में वे अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण कर सकेंगी।

महिलाओं के विकास के लिए पुरुषों का सात्त्विक सहयोग, ज्ञानार्जन और

सत्संगति अत्यावश्यक है। सत्संगति प्राप्त शिक्षाओं को बहनें अपने जीवन में साकार रूप दें तो उनका जीवन काफी विकसित हो सकता है।

देवगढ़,
२८ जनवरी '५४

१४ : अहिंसा का आदर्श

यदि आप सुखी बनना चाहते हैं तो दूसरों के सुख में बाधा न पहुँचाएँ। दूसरों के सुख को लूटनेवाला स्वयं सुखी नहीं बन सकता। अतः किसी को दुःख मत दो, यही अहिंसा है। अहिंसा का आदर्श तो इससे भी और आगे है। यदि कोई दुर्जन तुम्हें मारता है तो भी उस पर रहम करो; क्रोध मत लाओ। पर सर्वसाधारण के लिए यह अपना सकना सम्भव नहीं। अतः कम से कम दूसरों के सुख में तो बाधा मत डालो। लोगों के हृदय में संतों के प्रति आदर-भाव रहता है, क्योंकि वे अहिंसा के उक्त आदर्श को सामने रखकर चलते हैं। महात्मा गाँधी भी एक ऐसे महापुरुष थे, जो अहिंसा पर बलिदान ही हो गए। अपने आप पर गोली चलाने पर भी उन्होंने लेशमात्र क्रोध नहीं किया। आप भी अपने जीवन में अहिंसा, सत्य आदि सद्गुणों को स्थान दें। हिंसा, झूठ, कपट व मद्य-मांस आदि दुर्व्यसनों से अधिक से अधिक बचें।

देवर ग्राम,
३० जनवरी '५४

१५ : अहिंसात्मक समाज की रचना हो

मैं चाहता हूँ कि कुछ स्थायी कार्यक्रम हों। अस्थायी कार्यक्रम में स्थायित्व नहीं रहता। कार्य ऐसे हों, जिनमें सर्वतोन्मुखी जीवन-विकास की परिक्रिया चले। लोग समय की गति को समझें। महावीर वाणी आज उन्हें आह्वान कर रही है। आचार्य भिक्षु के विचार प्रतिपल क्रान्ति का सन्देश दे रहे हैं कि वे आत्म-शुद्धि की ओर बढ़ें और अपने जीवन में ऐसा परिवर्तन लायें कि वह सबों के लिए आदर्श बने। ये सब केवल त्याग से ही सम्भव हैं। यहाँ के कार्यकर्त्ताओं में लगन है, धुन है, उन्होंने जो कुछ भी किया, वह एक सामाजिक कार्य है। मैं चाहता हूँ कि वे इस लगन को एक अहिंसात्मक समाज-रचना में लगाएँ। अणुव्रत-आन्दोलन

इसका मुख्य आधार है। इसके लिए अपना जीवन उत्सर्ग करें, तभी संभव है। जब एक नये कार्यक्रम का सूत्रपात यहाँ से हुआ है, तब इसके लिए आगे बढ़ने की शुरुआत भी यहीं से होगी। अणुव्रती—संघ वास्तविक क्रान्ति और परिवर्तन का सही कदम है।

राणावास,
४ फरवरी '५४

१६ : कर्मवाद का सिद्धान्त

जैन-धर्म कर्मवाद के सिद्धान्त को मानता है, उसके अनुसार व्यक्ति को अच्छे और बुरे सयोगों का मिलना कर्माधीन है। जैन-दर्शन का कर्मवाद अपने आप में एक हस्ती रखता है—एक सुनियोजित दृष्टिकोण रखता है। इसके अनुसार व्यक्ति के अच्छे और बुरे कार्यों के साथ पुद्गल-वाणी होती है। आत्मा पर विजातीय कर्म चिपकते हैं, और जो चिपकते हैं वे एक दिन अलग भी होते हैं। जब उनका विपाकोदय होता है तो व्यक्ति को अच्छा या बुरा परिणाम भुगतना ही होता है। भला एक विजातीय पदार्थ या उदाहरण के रूप में कहें तो एक बुरे व्यक्ति को घर में स्थान देने से होगा। यदि वह बुरा आदमी अपनी बुराई को छोड़ देता है, तब तो और बात है, वरना जब वह जाता है तो कुछ न कुछ बिगाड़ करके जाता है और उसका फल पीछे घरवालों को भुगतना पड़ता है। यही स्थिति आत्मा की है। उसके परिणामों के कारण चिपके कर्म-पुद्गलों का जब विपाकोदय होता है, उसका फल आत्मा को ही भुगतना पड़ता है।

राणावास,
५ फरवरी '५४

१७ : अणुव्रत-आन्दोलन

अणुव्रत-आन्दोलन कोई आर्थिक, सामाजिक या राजनीतिक आन्दोलन नहीं, यह तो नैतिकता का एक आन्दोलन है। व्यक्ति-व्यक्ति की आत्मा को आन्दोलित करनेवाला एवं व्यक्ति-व्यक्ति के दिल और दिमाग में भरी हुई बुराइयों के प्रति हलचल पैदा करनेवाला यह आन्दोलन है। इसकी मूल भित्ति व्यक्ति है। व्यक्ति का पड़ोस पर, पड़ोस का समाज पर, समाज का राष्ट्र पर और राष्ट्र का संसार पर असर पड़े बिना नहीं रहता। कोई भी आन्दोलन जब लाखों व्यक्तियों के दिल को छू लेता है तो

वह अपने आप समाजव्यापी, राष्ट्रव्यापी या यों कहना चाहिए कि विश्वव्यापी बन जाता है। अणुव्रती-संघ के साथ पहले 'आन्दोलन' शब्द नहीं था, किन्तु इसकी व्यापकता को देखकर 'आन्दोलन' शब्द अपने आप इसके पीछे जुड़ गया।

युवक अब अपनी शक्ति का परिचय दें। मैं युवकों से अनुरोध करूँगा कि वे एक सगठित मोर्चा कायम करें। वे अपनी शक्ति को बटोरें, लड़ने-भिड़ने के लिए नहीं, अपितु इसलिए कि समाज के सामने एक नवीन आदर्श उपस्थित किया जा सके। समाज मे अच्छाइयों के प्रति एक आकर्षण पैदा किया जा सके। फिर वे देखेंगे कि जो वृद्ध उन्हें दूसरी दृष्टि से देखते रहे हैं वही उनका सम्मान करेंगे, अभिनन्दन करेंगे और कहेंगे कि हमारी पीढ़ी एक सुसंगठित और सुशिक्षित पीढ़ी है, जो कुछ करने की शक्ति रखती है।

साधु-सन्तों ने अणुव्रत के प्रसार में अपना जीवन लगाया है। गृहस्थों को भी चाहिए कि वे अपने जीवन का कुछ हिस्सा इस नैतिक और त्यागमय आन्दोलन के प्रसार मे लगायें ; पैसे के बल पर नहीं वरन् अपना चारित्र बनाकर तथा दूसरों को चारित्र-निर्माण की प्रेरणा देकर।

राणावास,
८ फरवरी '५८

१८ : जीवन को सीमित बनाएँ

हमारा जीवन सीमित बने, मर्यादित बने, खान-पान, रहन-सहन और जीवन-यापन में सीमा आये, यह मर्यादा-महोत्सव व अणुव्रत-आन्दोलन आपको इसी तरफ संकेत कर रहा है। आज मर्यादा का दिन है। सब लोग अधिक से अधिक मर्यादित बनें। मर्यादित जीवन से ही समाज, राष्ट्र और आप सबका भला है।

राणावास,
९ फरवरी '५८

१९ : संगठन की मर्यादा

मैं अब तक यह नहीं समझ पाया कि इस दिन में कौन सा आकर्षण है ? अगर इस दिन मे कोई आकर्षण न होता तो आज हजारों की संख्या में लोग यहाँ इकट्ठे क्यों होते ! आज हमारी मर्यादा का दिन है। हम संघ-प्रधान हैं और संघ में आज्ञा की प्रधानता होती है। हरएक के लिए मर्यादा मे रहना आवश्यक है। मर्यादा

लाँघने से महान अनर्थ होते हैं। जो आज्ञायुक्त होता है, वही संघ होता है। ऐसे तो संघ हड्डियों के ढेर का भी हो सकता है, किन्तु वह निर्जीव है। हमारा संघ हड्डियों के ढेर का संघ नहीं, यह विचारकों का संघ है। आचार्य भिक्षु ने इस संघ को आज्ञा-प्रधान बनाया है और इसके गौरव को बढ़ाया है। केवल भिक्षु के गुण-गान करने से कुछ नहीं होगा, हमें उनके आदर्शों को अपने जीवन में उतारना चाहिए, और जो मर्यादा उन्होंने हमारे संघ के लिए बनाई है उनका अक्षरशः परिपालन करना चाहिए।

मर्यादा में संगठन होता है पर हमारी मर्यादा केवल संगठन-प्रधान ही नहीं, आचार-प्रधान भी है। हमारे संघ में प्रेम है और प्रेम का मार्ग ही विशुद्ध अहिंसा का मार्ग है। हम प्राणिमात्र को नहीं सताते। जिस संगठन में आचार होता है उसकी मर्यादा दृढ़ होती है।

लोग पूछते हैं—हमारा मार्ग कब तक चलेगा? मैं कहता हूँ कि जब तक साधु-संतों में मठ, स्थान-स्थल बनाने की प्रवृत्ति नहीं होगी, और शुद्ध नीति का अनुकरण करते हुए आचार को पालन करेंगे, तब तक संगठन चलेगा। लोग पूछते हैं—धर्म में क्या प्रकाश होनेवाला है? लेकिन मुझे तो प्रकाश ही प्रकाश दिखाई देता है। इसका कारण स्वामीजी की आत्मनिष्ठा और अदम्य विश्वास का बल है। साधुओं की किसके साथ सगाई है? आचारियों के साथ हमारा संघ है और अनाचारियों से हमारा विच्छेद है, चाहे आचारहीन कितने ही विद्वान क्यों न हों।

आचार को महत्त्व देना हमारा प्रमुख काम है। आज का युग संगठन का युग है। हम संगठन व एकता के प्रेमी हैं, किन्तु एक बात जरूरी है कि एकता का आधार आचार होना चाहिए।

संवत् १८३२ के पहले संघ में कोई मर्यादा नहीं थी। १८३२ में भिक्षु स्वामी ने इन मर्यादाओं को स्थापित किया और १८५६ में इसे दूसरी बार और दुहराया। महान् आदमियों में अधिक परिवर्तन नहीं होते। जो मर्यादाएँ भिक्षु स्वामी ने पहले बनाई थीं वे ही दूसरी बार दुहराई गईं थीं।

राणावास, मर्यादा महोत्सव,
१० फरवरी '५४

२० : स्वयं में परिवर्तन लाएँ

आज लोग समाज में परिवर्तन करना चाहते हैं, उसे बदलना चाहते हैं, पर व्यक्ति की ओर नहीं देखते जिसका सामूहिक रूप ही समाज है, समाज का बिम्ब है। अतः व्यक्ति के सुधरे बिना समाज सुधर नहीं सकता।

मनुष्य सुधार में व्यक्तिवादी नहीं रहता, वह स्वार्थ-सिद्धि में व्यक्तिवादी रहता है। वह सोचता है—मैं सुखी बनूँ। मुझे धन और सुविधाएँ मिले, मेरी प्रतिष्ठा हो। पर जहाँ सुधार का प्रश्न आता है, वहाँ वह अपने आपसे शुरू नहीं करता। वह चाहेगा—पहले देश सुधरे, समाज सुधरे और वह सबसे पीछे आये। यदि वहाँ वह व्यक्तिवादी बने, अपने आपको पहले सुधारे तो औरों को भी सुधार की दिशा दे सकता है। आज व्यक्ति का आत्मबल विकसित नहीं है, वह जागृत नहीं है, मोहावृत है। बिना आत्मबल के जागृत हुए उपदेश स्थायी नहीं हो पाते। अतः आत्मबल का जागृत होना आवश्यक है। इसके लिये बुरी मनोवृत्तियों का त्याग किया जाय और अहिंसा का प्रसार किया जाय। व्यक्ति अहिंसा को प्रश्रय दे, वह तू-तू और मैं-मैं के भेद-भाव को भूल जाये। यदि समता, मैत्री और एकत्व की भावना बढ़ी तो व्यक्ति, समाज और राष्ट्र सभी सुधर जायेंगे। व्यक्ति इसी भावना को लेकर आगे बढ़े।

राणावास,
१० फरवरी '५८

२१ : जीवन निर्माण की वेला

छात्र-जीवन मानव-जीवन का महत्त्वपूर्ण भाग है जिसमें आगामी जीवन का निर्माण होता है। छात्रों को चाहिए कि वे अपना जीवन संयत और संयमी बनाये और उसे आध्यात्मिकता में लगायें। यदि छात्र-जीवन संयत और समुज्ज्वल रहा तो उनका आगामी जीवन भी सात्त्विक बन सकेगा।

मुझे इस बात की खुशी है कि यहाँ के छात्रों के जीवन को नैतिक व सदाचारी बनाने का अच्छा प्रयास किया जा रहा है। छात्रों को चाहिए कि वे समय-समय पर होनेवाले 'सन्त-सम्पर्क' से उत्तम शिक्षाएँ ग्रहण करें और उन्हें अपने जीवन में उतारें।

राणावास,
११ फरवरी '५८

२२ : भिक्षु स्वामी को श्रद्धांजलियाँ

सिरीयारी का तेरापन्थ के इतिहास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। यह वह सिरीयारी है जिसने सन्तों और महात्माओं को जन्म दिया। जहाँ आद्य आचार्य श्री भिक्षु स्वामी के सात चातुर्मास हुए। यहीं पर हेमऋषि जैसे संत उत्पन्न हुए थे। आज यद्यपि भिक्षु स्वामी की चरम-तिथि नहीं है और यह उनका चरमस्थल है। ऐसे समय में भिक्षु स्वामी का स्मरण हो आना स्वाभाविक ही है। वे भिक्षु स्वामी जिन्होंने शिथिलाचार और पाखण्ड के विरुद्ध बागावत की; जिन्होंने साध-संघ मे आचार और एकता का बीजारोपण किया तथा जिन्होंने स्वच्छंदता और स्वेच्छाचारिता का अन्त कर एक विनीत और सुसगठित साधु-संघ की स्थापना की और लोगों के सामने धर्म का विशुद्ध रूप रखकर जन-जन के मन मे स्थान पाया। आज भी उनका प्रतीक यह भिक्षु कुटिया मौजूद है जिसमे बिना झुके प्रवेश नहीं किया जा सकता। हम उनकी पुण्य-स्मृति को शत बेशत श्रद्धाजलियाँ समर्पित करते है जिन्होंने धार्मिक-जगत मे एक बहुत बडा काम किया। लोगों को चाहिए कि वे उनके बताये पथ पर चलकर जीवन को जगमगायें।

राणावास,
२३ फरवरी '५४

२३ : सुखी मानव-जीवन और धर्म

मानव-योनि सभी योनियों मे एक ऐसी श्रेष्ठ योनि है जिसकी प्राप्ति के बाद मनुष्य अगर चाहे तो बहुत बड़ा लाभ उठा सकता है। उसके मस्तिष्क की शक्ति औरों की अपेक्षा असाधारण और अनुपम है। उस शक्ति का अगर वह सदुपयोग करे तो उसके आगे सफलताओं की सिद्धि सामने रह जाती है। मगर आज की स्थिति इसके विपरीत कहने को हमें प्रेरित करती है। वह इसलिये कि आज मानव अपनी मानसिक शक्ति का सदुपयोग कम और दुरुपयोग अधिक करता है। महर्षियो ने मनुष्यत्व प्राप्ति को सर्वोत्कृष्ट मंगल बताया है इसके साथ-साथ इसकी दुर्लभता को भी सभी ने एक स्वर से स्वीकार किया है। ऐसी स्थिति मे मनुष्य का यह अपरिहार्य कर्त्तव्य है कि वह इस महत्त्वपूर्ण संपत्ति के विभिन्न पहलुओं पर चिन्तनपूर्वक विचार करे। ऐसा करते समय यह प्रश्न अनिवार्य होगा कि यह मानवत्व किसलिए मिला है? इसका क्या उद्देश्य है? निरुद्देश्य किसी भी प्रवृत्ति का होना एकदम असम्भव है। स्थूल या सूक्ष्म कुछ न कुछ उद्देश्य प्रवृत्ति-मात्र मे जुड़ा ही रहता है।

मेरे विचार से मानव-जीवन की प्राप्ति का उद्देश्य बन्धनों से मुक्ति प्राप्त करना है। दूसरे शब्दों में यदि कहूँ तो दुःखों से छुटकारा पाना और शाश्वत सुख की उपलब्धि करना है। अतएव, सर्वप्रथम मनुष्य के लिए आवश्यक है कि वह उन बन्धनों को समझे और पहचाने, जिन बन्धनों में वह युगानुयुग से जकड़ा हुआ चला आ रहा है। तदनन्तर उन बन्धनों को अपने अथक अध्यात्म-परिश्रम द्वारा तोड़ने का सफल उपक्रम प्रारम्भ करे, स्वयं उन नश्वर व नगण्य बन्धनों से ऊँचा उठने और औरों को ऊँचा उठाने का निःस्वार्थ व निर्द्वन्द्व प्रयत्न करे; स्वयं संयमी जीवन का आत्मोपकारी आस्वाद चखे तथा औरों को असंकीर्णता व अनाकुलता के साथ उसका आस्वाद चखने दे, स्वय संयमी जीवन जीने मे मदद करे। चूंकि प्राणिमात्र को जीवन प्रिय है, प्राणिमात्र जीना चाहते हैं, अतएव वह किसी को क्लेश न पहुँचाये, किसी का संहार न करे, किसी के साथ दुर्व्यवहार न करे, किसी पर मिथ्या कलंक न लगाये, इत्यादि। संक्षेप मे अपने जानते किसी के भी जीने मे किसी प्रकार की बाधा न पहुँचाये।

अब प्रश्न होगा उद्देश्य की सफलता कैसे हो? यह निश्चित है कि उद्देश्य की सफलता और उपलब्धि उसी कार्यक्रम मे निहित रहा करती है जो कार्यक्रम मनुष्य को उद्देश्य की सीमा मे पहुँचाने की महान् ताकत रखता है। इसलिये उद्देश्य की सफलता का यही रहस्य है कि मानव की वृत्तियों का संचालन, प्रवर्तन और उसका रहन-सहन निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार चले और स्थायी रहे।

मानव का यह सहज स्वभाव है कि वह बँधा हुआ, परतन्त्र और परमुखापेक्षी नहीं रहना चाहता। वह मुक्त, स्वतन्त्र और स्वावलम्बी रहने के लिए छटपटाता रहता है। यही कारण है कि भारत ने सदियों की परतन्त्रता को तोड़कर आजादी हासिल की। इसी तरह आज संसार के अन्य मार्गों मे भी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए साम्राज्यवादी शासकों और शोषितों में जगह-जगह संघर्ष की चिनगारियाँ जल रहीं हैं। मगर सोचने की बात यह है कि सिर्फ बाहरंग या राजनीतिक स्वतन्त्रता और निर्बन्धता ही मानव-जीवन के उद्देश्य की संपूर्णता—सफलता नहीं है। आजादी का सच्चा महत्त्व आन्तरिक स्वतन्त्रता और निर्बन्धता मे है। आन्तरिक स्वतन्त्रता के अभाव मे मिली हुई बाह्य—स्वतन्त्रता जीवन की सर्वतोमुखी प्रगति की शर्त को कभी सफल नहीं बना सकती।

धर्म को अपनाने से ही वास्तविक स्वतन्त्रता का सूत्र ग्राह्य होगा। लेकिन इससे पूर्व यह सोचना होगा कि आज धर्म की क्या स्थिति है और उसका क्या रूप है ? यह सच है कि *'धर्म' शब्द आज लोगों की दृष्टि में आदर और सम्मान का पात्र न्यूनातिन्यून रह गया है। क्या विचारक-वर्ग और क्या शिक्षित-वर्ग,* सभी आज धर्म का नाम सुनकर ही घबड़ा उठते हैं, इसका पालन करना तो दूर रहा। धर्म को धोखा, पाखंड और विष समझ कर उससे घृणा करते हैं। धर्म के ऊपर आये हुए इन लाँछनों व आक्षेपों के लिए निःसन्देह उन नामधारी धार्मिकों की जिम्मेवारी है जिन्होंने अपने तुच्छ स्वार्थों की पूर्ति के लिए धर्म को गन्दा, विकृत, विद्रूप और बदनाम किया। अतएव धर्म से दुनिया नफरत कर सकती है चूँकि धर्म सम्प्रदाय, पन्थ व बाड़ावन्दी में कैद हो गया। मगर सत्य व अहिंसा से कोई नफरत नहीं कर सकता क्योंकि ये ही तो प्रत्येक धर्म के मूल है। हम मूल को छोड़कर टहनियो से उलझते रहते हैं यही तो झगड़ा है। वास्तव मे सत्य व अहिंसा उपरोक्त सब लाँछनों व आक्षेपों से वर्जित है। यही जन-जीवन की साधना का लक्ष्य-बिन्दु है। सत्य व अहिंसा से नफरत करनेवाला मानव कभी मानव नही कहला सकता। साम्प्रदायिकता, पथवाद व बाड़ाबदी सिखाने और बढ़ानेवाले धर्म में मेरा कोई विश्वास नहीं। मैं तो उसी धर्म का प्रचार व प्रसार करने मे संलग्न हूँ जो त्रस्त, दुःखी व व्याकुल मानव-जीवन को आत्मिक सुख, शान्ति व सौजन्य की ओर मोडनेवाला है, जो नारकीय धरातल पर पड़े जन-जीवन को स्वर्गीय धरातल की ओर ले जाने वाला है। उस धर्म की रीढ़ व मूल मे मात्र सत्य व अहिंसा के विराट, व्यापक व विस्तृत स्वरूप मे ही साक्षात्कार करता हूँ। जिस धर्म की शृङ्खला के पीछे सत्य व अहिंसा नही, वह धर्म, धर्म नहीं, ढोंग है। धर्म के नाम पर धोखा व पाखंड है।

आज दुनिया भौतिकवाद के चक्के के नीचे पिस रही है। उसके सिर पर भूतवाद का भूत सवार हो रहा है। जीवन के मूल्य उसीके आधार पर आँके जाते हैं। और तो और, लेकिन अध्यात्मवाद की सुरसरि बहानेवाला महान् देश भारत भी आज भौतिकता के रंग मे अपने आपको आत्म-समर्पित कर चुका है। कितने बड़े दुःख का विषय है कि आज यहाँ के लोग, जो कभी एकमात्र आध्यात्मिकता के लिए हँसते-हँसते अपने प्राणों को न्योछावर किया करते थे, वे ही आज भौतिकता द्वारा सर्वरूपेण आक्रान्त होकर ईमानदारी, न्याय, नीति और अपनी मर्यादाओं को एकदम

भुला बैठे हैं। यद्यपि भौतिकवाद के बल पर भौतिक-विकास को विकसित किया जा सकता है, उसके साहचर्य से भौतिक सुख-सुविधाओं की सृष्टि करनेवाले प्रचुर साधन व सामग्रियाँ उपलब्ध की जा सकती हैं, उसके माध्यम से यहाँ के वासी अमेरिका की तरह बहुत सुखी, ऐश्वर्यवान और समृद्धिशाली बन सकते हैं। मगर वास्तविक सुख और शान्ति, आत्मिक तुष्टि और तृप्ति सत्य और अहिंसा, सादगी और सतोषमय आत्म-धर्म यानी अध्यात्मवाद को आराधे व अपनाये बिना त्रिकाल में भी सम्भव नहीं हो सकती।

अध्यात्मवाद में सुख की कामना किसी व्यक्ति विशेष के लिए नहीं होती। वहाँ संसारवर्त्ती प्राणिमात्र के लिए समभाव और समदृष्टि के दर्शन होते हैं—

सर्वे भवन्तु सुखिनः
सर्वे सन्तु निरामयाः
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु
मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्

अध्यात्म-धरातल से उतरी यह सुख-निर्झरणी अपना अमर सन्देश प्राणिमात्र के हृदय तक पहुँचाने में संलग्न है—

सभी सुखी हों,
कोई दुखी न रहे,
सभी निर्विकार हों,
कोई विकारी न रहे,
सभी कल्याण-द्रष्टा हों,
कोई अकल्याण-द्रष्टा न रहे।

ये ऐसे आर्ष वाक्य हैं जिनकी गहराई में उतर कर मानव जीवन में क्षोभ पैदा करनेवाली समस्त दुश्चिन्ताओं से बच सकता है। ये ही वे आदर्श हैं जिनके रहस्यों तक पहुँच कर मनुष्य भौतिकता के सघन अन्धकार के तहों को चीर कर आध्यात्मिकता के प्रकाश-पुंज की ओर बढ़ सकता है। ये ही वे आधार हैं जिन पर मानव अपने सुखी जीवन के भव्य भवन का पुनर्निर्माण कर सकता है। वह दिन 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' होगा जब मानव प्राणिमात्र के जीने का हक निरपवाद स्वीकार कर अपनी महान् उदारता और वास्तविक ईमानदारी का शंखनाद फूँकेगा।

धर्म आज अनावृत रूप में नहीं है। वह आज सम्प्रदाय, पन्थ, बाड़ाबन्दियों के गहन दलदल में फँसा हुआ है। कर्म से इन कुतत्त्वों का आवरण हटे बिना वह असल रूप मे अपना स्वरूप व्यक्त नहीं कर सकता। यही कारण है, जन-जन के मुख पर यह प्रश्न बहुधा मुखरित हो उठता है कि 'भला किस धर्म को अपना कर चलें, कोई एक धर्म हो तब तो ! सैंकड़ों प्रकार के धर्मों में कौन-सा धर्म सच्चा धर्म है, इसकी छानबीन और परीक्षा भी तो कोई सरल कार्य नहीं।"

भाइयो ! भारतवर्ष की प्राचीन परम्परा ने जहाँ अनेक महापुरुषों को जन्म दिया वहाँ अनेक प्रकार के धर्म, सम्प्रदाय और फिरकों को भी असाधारण रूप से यहाँ पनपने की पूर्ण स्वतन्त्रता मिली। फलस्वरूप आज धर्म के मौलिक स्वरूप को पहचानना और उस परि सीमा तक पहुँचना साधारण व्यक्तियों के लिए एक गुत्थी बन गई है।

वास्तव में धर्म के मौलिक स्वरूप तक पहुँचने के लिए धर्म के अनेक भेदोपभेदों के द्वार खटखटाने की इतनी आवश्यकता नहीं। सम्प्रदाय और पन्थ धर्म नहीं होता और न धार्मिक--ग्रन्थ ही धर्म के प्रतिरूप होते हैं। धर्म का स्वरूप दार्शनिक-गुत्थियों में उलझा हुआ नहीं, वह इतना सीधा और सरल है कि जिसे विशिष्ट से विशिष्ट व साधारण से साधारण बुद्धिवाले व्यक्ति भी सुविधापूर्वक समझ सकते हैं, अपना सकते हैं। धर्म विश्व-मैत्री, विश्वबन्धुत्व और विश्व के साथ समभाव का प्रतिरूप है। धर्म वह है जो यह सिखाये कि किसी को मत सताओ, किसी का शोषण मत करो, किसी के साथ अन्याय, अत्याचार और दुर्व्यवहार मत करो। सबको अपनी आत्मा के तुल्य समझो। सबको दुःख और पीड़ा का वैसा ही अनुभव होता है जैसा अपनी आत्मा को होता है। धर्म के इस सरल व साधारण बोधगम्य स्वरूप को पहचानने, समझने और आत्मसात् करने में त्रुटि इसलिए होती है कि व्यक्ति साम्प्रदायिकता के गहन आवरणों में उलझ पड़ता है और अपने मौलिक लक्ष्य को भूल जाता है। आज इस प्रेरणा की अत्यन्त आवश्यकता है कि मनुष्य यह समझे कि संसार के सभी सम्प्रदाय उसे तारने और उठाने की ताकत से सर्वथा शून्य हैं। तारने और उठाने की ताकत उसकी अपनी धर्मानुकूल अन्तर्वृत्तियो, आचरणों और सक्रियाओं में ही निहित हैं। मेरी दृष्टि में संक्षिप्त रूप से धर्म का अक्षुण्ण विराट्-स्वरूप सारी उलझनों को दूर कर एक स्वरूप में दर्शाया जा सकता है। मैं अनेक बार अपने प्रवचनों में कहा करता हूँ—**"धर्म वही है जो आत्मशुद्धि, आत्म शोधन**

व आत्म-परिमार्जन की ओर जन-जन को उन्मुख करे। जिस किसी साधन से आत्म-शोधन हो वह निर्विवाद रूप से धर्म के रूप में सहर्ष अंगीकार है।"

अब प्रश्न हो सकता है—वे साधन क्या हैं जिनसे आत्मशुद्धि होती है? यों तो साधन अनेक हैं, लेकिन त्याग और तपस्या इन दो महत्त्वपूर्ण साधनों में अन्य सभी साधनों का प्रतिनिधित्व संचित है। जहाँ त्याग इन्द्रिय-निग्रह, संयम, इन्द्रिय-विजय आर आत्म-नियंत्रण का पावन पाठ पढ़ाता है वहाँ तप उन सब सद्‌वृत्तियों को जागृत व सक्रिय करता है जो आत्मा के अन्तरंग मैल को धोकर आत्मा मे अनिवर्चनीय आह्लाद की सुरसरि बहाता है। वह तप, तप नहीं जिस तप के कारण औरों की हत्या होती है। तप वही है जिससे अपने सिवाय किसी को भी संताप और किसी का भी हनन न हो। आत्मशुद्धि के लिए अपने को कष्ट देना अनुचित नहीं। जहाँ सांसारिक-संघर्ष से घबड़ा कर भोग, लालसा व निराशा से अभिभूत होकर आत्महत्या घोर पाप है वहाँ आत्मशुद्धि के लिए अत्यन्त समाधिपूर्वक हँसते-हँसते प्राणों का बलिदान करना महान् धर्म है।

आज संसार मे त्याग का स्थान भोग ने अधिकृत कर लिया है। अन्तर्मुखी दृष्टिकोण, बाह्यमुखी दृष्टिकोण से अभिभूत है। सादगी और सरलता विलास और कुटिलता के आगे घुटने टेके हुए हैं। व्यक्ति की महत्ता का मूल्यांकन संयम व आचरणों के विपरीत संगति व बाहरी तड़क-भड़क के आधार पर किया जाता है। अनुशासन की भूमिका उच्छृङ्खलता की क्रीड़ा-स्थली बनी हुई है। सदाचार की तस्वीर दुराचार की कलुषित गैस मे धूमिल हो रही है। शील व सौजन्य का साम्राज्य दुश्शील व दौर्जन्य ने ले लिया है। नीति व ईमानदारी पर अनीति व बेईमानी अपनी क्रूर दृष्टि किए बैठी है। सात्त्विक-वृत्तियों को तामसिक-वृत्तियाँ भृकुटी ताने निहार रहीं हैं। ऐसी स्थिति में जब लोग कहते हैं—भारत स्वतन्त्र है, तब मेरे हृदयाकाश में सहसा एक प्रलयकालीन बिजली चौंक उठती है। फिर भी मैं इस नग्न सत्य या कटु सत्य से विमुख नहीं हो सकता कि भारत आज आजाद नहीं है, गुलाम है। वह स्वतंत्र नहीं, परतन्त्र है। विदेशी शासन ~~एक~~ बाहरी अन्धकार था वह हट गया, किन्तु अभी आन्तरिक अन्धकार की पर्तें ज्यों की त्यों जमी हुई हैं। उन्हें हटाये बिना स्वतन्त्रता का क्या मूल्य? जिन लोगों ने यह सोच रखा था कि अंग्रेजों के चले जाते ही यहाँ स्वर्ग उतर आयेगा, वे भूल में थे। आन्तरिक आजादी

के लिए अभी संघर्ष की बहुत बड़ी आवश्यकता है। आज लोगों के द्वारा किये जाने वाले इन आक्षेपों की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि आज भारत में जितना दुःख-दैन्य छाया हुआ है वह परतन्त्र अवस्था में भी उतना कभी नहीं था। आज जितनी विषमताएँ दृष्टिगोचर होती हैं उतनी पहले नहीं थीं। यह भी लोगों की शिकायत है कि आज रोटी और कपड़े जैसी जीवन की आवश्यक वस्तुएँ भी सुख से नसीब नहीं हो रही हैं। यह कैसी आजादी है जो रोटी और कपड़े की एक तुच्छ-सी समस्या को भी नहीं सुलझा सकती? जहाँ लोग इस दुरव्यवस्था को आजादी का परिणाम मानते हैं वहाँ मैं उसे गलत दृष्टिकोण का दुष्परिणाम मानता हूँ। मतलब यह है कि लोगों ने जो इस अधूरी आजादी को ही सम्पूर्ण आजादी का रूप समझा, यह था उनका भयंकर भ्रम—सोचने का अधूरा, छिछला व गलत तरीका।

आज व्यापारियों और राज्य कर्मचारियों मे इस छोर से उस छोर तक ब्लैक व रिश्वत की एक सुव्यवस्थित शृङ्खला बँधी हुई है। जो उच्च नेता व सरकारी अफसर जनता व देश के कर्णधार तथा रक्षक कहलाते हैं और जनता देश के रक्षक के रूप में जिनके नाम का ढिंढोरा पीटती है वे ही देश और जनता के साथ विश्वासघात कर रक्षण की ओट में उनका भक्षण कर रहे हैं।

कवि गौ से प्रार्थना करता है—"हे गौ! तू दूध न दे तो न दे लेकिन लात तो मत मार।" यही स्थिति आज उन जन-नेताओं आदि की हो रही है। अगर वे रक्षण न कर सकें तो न करें मगर यों भक्षण तो न करें। आज के वातावरण में तो 'बाड़ ही खेती को खाये जा रही है' की उक्ति चारतार्थ हो रही है। भला जो आदमी अपनी आत्मा की, शरीर की, वाणी की तथा वृत्तियों की भी रक्षा नहीं कर सकता, वह देश की क्या रक्षा करेगा? खोटी शान और ऐश्वर्य-प्रदर्शन की अतृप्त लालसाएँ इन सब दुष्कृत्यों की मूल जड़ है। ठीक यही बात व्यापारी-वर्ग और किसान-वर्ग के लिये भी लागू है। ब्लैक, मिलावट और शोषण जैसी धोखा-धड़ी कर वे अपने जीवन के साथ अन्याय, अत्याचार और विश्वासघात करते ही हैं मगर साथ-साथ जनता और राष्ट्र के नैतिक, शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक-धरातल को भी गन्दा, विकृत, बर्बर, शिथिल, कलुषित और निर्बल बना रहे हैं। ऐसा कर कोई भी मनुष्य अपने को सुखी और सन्तुष्टि की राह पर अग्रसर नहीं होने देता है। लालसा आज सुरसा-सी मुँह बाये खड़ी है और वह मानव-जातिरूप हनुमान को एक

ही झपट में निगल कर समाप्त कर देना चाहती है। अतएव इन दुर्गुणों की विद्यमानता में सही स्वतन्त्रता की तस्वीर नहीं देखी जा सकती। उसे देखने के लिए अभी भी सजगतापूर्वक बहुत बड़े प्रयत्न की आवश्यकता है।

अणुव्रती-संघ इसी कोटि का एक व्यावहारिक प्रयत्न है जिसका उद्देश्य मानव की उन अन्तर्वृत्तियों का आमूल-चूल परिवर्तन कर वास्तविक मानवता का रूप निखारना है जिनमें आज दानवता का अट्टहास गूँज रहा है। अगर लोगों ने मुक्त हृदय से इस अनुष्ठान को अपना कर इसकी गति में सहयोग दिया तो वह दिन दूर नहीं होगा—जब कि सारे क्लेशों का कालुष्य बह कर एक नये सुखद व सुन्दर युग का स्वर्णिम प्रभात उदित होगा और तब असली आजादी के स्वर्णिम प्रभात का साक्षात्कार कर एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के प्रति विश्वास की दृष्टि से देखने का अभ्यस्त बनेगा।

अन्त में मैं इन्हीं शब्दों के साथ आज के प्रवचन को समाप्त करता हूँ कि मनुष्य में वह सद्बुद्धि जागृत हो कि जिससे वह दूसरों के अधिकारों को हड़पना छोड़कर अपने मानवोचित अधिकारों व मर्यादाओं की रक्षा करे। इसी में उसका, समाज का तथा राष्ट्र का कल्याण है।

२४ : भारतीय संस्कृति का आदर्श

आचार और विचार की रेखाएँ बनती हैं और मिटती हैं। जो बनता है वह निश्चित मिटता है किन्तु मिटकर भी जो अमिट रहता है—अपना संस्थान छोड़ जाता है, वह है संस्कृति। अनेक समाज, अनेक धर्म और अनेक मत अनेक संस्कृतियाँ मानते हैं; पर वास्तव में वे अनेक नहीं हैं, सिर्फ दो हैं—भलाई की या बुराई की, सुख की या दुःख की। आदमी या तो भला होता है या बुरा, या तो सुखी होता है या दुःखी। संस्कार भी इसी रूप में ढलते हैं। संस्कृति पैतृक-सम्पत्ति के रूप में मिलती है। शताब्दियों की परम्परा के संस्कार मनुष्य के विवेक को बुझाते और जगाते हैं। जगाने की बात सही होती है और बुझाने की गलत। फिर भी न्यूनाधिक मात्रा में दोनों ही चलते हैं। बुझाने की मात्रा घट जाय या टूट जाय, और जगाने की मात्रा बढ़ जाय, इसलिए सांस्कृतिक-समारोहों का महत्त्व होता है।

संस्कृति ऊँची चाहिए—यह अभिलाषा सबको है। सब चाहते हैं—हमारा आचार-विचार सब सीखें। किन्तु यह तभी हो सकता है जब मनुष्य सब में मिल जाय। आत्मा आत्मा में घुल जाय। बाहरी-बन्धन—भोग के साधन—आत्मा-को अलग-अलग किये हुए हैं। भोग की वृत्ति से स्वार्थ, स्वार्थ से भेद और भेद से

विरोध होता है। जैन-धर्म बताता है—सब आत्मा समान हैं, उनमें कोई विरोध नहीं है। जब मूल में विरोध नहीं है तब संस्कृति मे वह कैसे हो सकता है ! वास्तव में नहीं होता, यह कोरी कल्पना है। उसे मिटाने के लिए त्याग का मन्त्र पढ़ाया गया। परमार्थ का यही एकमात्र रास्ता है। लेने मे "मैं अधिक लूँ" की भावना होती है और वह मनुष्य को गिराती है, छोड़ने मे "मैं अधिक छोड़ूँ" की भावना आये, यह जरूरी है। परन्तु यह कठिनाई से आती है। फिर भी समस्या का एकमात्र हल यही है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

भारतीय संस्कृति मे त्याग, आत्मविजय, आत्मानुशासन और प्रेम की अविरल धाराएँ बहीं हैं। भोग से सुख नहीं मिला तब त्याग आया, दूसरे जीते नहीं गये तब अपनी विजय की ओर ध्यान खिंचा। हुकूमत बुराइयाँ नहीं मिटा सकीं तब 'अपने पर अपनी हुकूमत' का पाठ पढ़ाया गया। आग से आग नहीं बुझी तब प्रेम से बुझाने की बात सूझी है। ये वे सूझें है जिनमें चैतन्य है, जीवन है, दो को एक में मिलाने की क्षमता है।

आचार ही विचार से पहले अथवा आचार के लिए विचार—यह माननेवाला भारतीय दृष्टिकोण—मिटता जा रहा है। केवल विचार के लिए विचार बढ़ रहा है। यह अनिष्ट प्रसंग है। जब आचार नहीं तो विचार से क्या बने ? इसलिए, थोथे विचारों के भँवर मे न फँसकर, आचारमूलक विचार करने की भावना जागे, संयम और स्व-शासन की वृत्ति बढ़े, यही सही अर्थ मे संस्कृति के चिन्तन का सुफल है।

२५ : सुख और शान्ति के सही मार्ग

आज नगरवासियो को तो खुशी है ही, हमे भी हमारे आद्य आचार्य भिक्षु स्वामी के जन्मस्थान मे आने से बडी प्रसन्नता हो रही है। ऐसे पावन-स्थान को देखकर, जहाँ एक महापुरुष ने अवतार लिया, किसको खुशी न होगी। आज यहाँ अतीत की स्मृतियाँ सजीव हो उठीं हैं। यहाँ एक कथा का महज ही स्मरण हो आता है। गुरु ने शिष्य को कार्य विशेष से बाहर भेजा। लौटने के समय शिष्य रास्ते में एक नाटक देखने मे लग गया। अतः वह वहीं खड़ा होकर उसे देखने लगा। नाटक समाप्त होने के बाद जब शिष्य गुरु के पास आया तो गुरु ने इतने विलम्ब होने का कारण पूछा। शिष्य ने बड़ी सरलतापूर्वक कहा—"गुरुदेव ! रास्ते में नटों का नाटक हो रहा था, उसे देखने के लिए मैं खड़ा रह गया।" गुरु ने उसे समझाते हुए कहा—"शिष्य !

हम साधु हैं, हमारे लिए नटों का नाटक आदि देखना वर्जनीय है। अतः आगे ऐसा काम कभी मत करना।" शिष्य ने गुरु के आदेश को सहर्ष स्वीकार किया। अभी ५ ही दिन बीते थे कि रास्ते में नटियो का नाटक हो रहा था। शिष्य ने देखा तो वह वहीं खड़ा होकर उसे देखने लगा। विलम्ब से आने पर गुरु ने इसका कारण पूछा। शिष्य ने उसी तरह सरलतापूर्वक कहा—"गुरुदेव! रास्ते में नटियों का नाटक हो रहा था, उसे देखने लग गया।" गुरु ने कुछ तेज होकर कहा—"अरे! तुझे याद नहीं, मैंने उस दिन तुझे नाटक देखने का निषेध किया था।" शिष्य कुछ डरा, पर अवसर पाते ही वह कह उठा—"गुरुदेव! आपने तो नटो का नाटक देखने के लिए निषेध किया था, नटियों के लिए कब कहा था?" गुरु समझ गये, यह ऐसा नहीं है जो एक बात कहने से कुछ समझ जाय। इसे तो कड़ी-कड़ी खोल कर समझाना होगा। यही स्थिति आज की है। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि वह बेचारा सरल था और आज के लोग कुटिलता के घर हैं। बच्चे-बच्चे में इतनी कुटिलता भरी है कि वे किसी भी बात में रास्ता निकाल लेते हैं। इसी भावना को दृष्टि में रखते हुए हमने सोचा—"नियमो की संख्या चाहे बढ़े लेकिन ऐसा न रहे कि लोग बात-बात में रास्ते निकालने लगें। यही कारण है कि संख्या की दृष्टि से नियम अधिक हुए हैं।

अणुव्रत-योजना का निर्माण सामाजिक या राजनैतिक सुधार के लिए नहीं हुआ है। उसका उद्देश्य एकमात्र आत्म-सुधार, व्यक्ति-सुधार या जीवन-सुधार है। यह दूसरी बात है कि व्यक्ति समाज या राष्ट्र से अलग नहीं। अतः व्यक्ति-सुधार का मतलब होगा—समाज या राज्य-सुधार। व्यक्ति जब समाज और राज्य से जुड़ा हुआ है तो उसकी बुराइयों से भी समाज या राज्य भी अछूते नहीं रह सकते। बुराइयाँ बुराइयाँ हैं और सुधार, सुधार। जैसे बुराइयो, बुराइयो में भेद-रेखा नहीं खींची जा सकती वैसे ही सुधार-सुधार में भी नहीं। व्यक्तिगत बुराइयाँ भी बुराइयाँ हैं और समाजगत तथा राज्यगत बुराइयाँ भी बुराइयाँ। इसी प्रकार व्यक्तिगत-सुधार भी सुधार है और समाज तथा राज्यगत सुधार भी सुधार। बुराइयाँ चाहे कहीं भी हों उन्हें मिटाना इस योजना का उद्देश्य, व्यक्ति-सुधार के उद्देश्य में अपने आप अन्तर्निहित हो जाता है। वास्तव में व्यक्ति-व्यक्ति में आत्म-श्रद्धा आये, वह चरित्र-निष्ठ बने, उसका जीवन सच्चाई, सादगी और नैतिकता से ओत-प्रोत हो; यही एक उद्देश्य है जिसे लक्षित कर इस योजना का प्रवर्तन हुआ है। जबतक व्यक्ति नहीं

सुधरेगा तबतक समाज और राष्ट्र-सुधार का नारा क्या अर्थ रखेगा ? आज व्यक्ति-व्यक्ति को नैतिक-उत्थान और चरित्र-विकास के इस पुनीत-कार्य मे अपने आपको लगा देना है। व्यक्ति ही समष्टि का मूल है। व्यक्तिगत सुधार की एक सामूहिक प्रतिक्रिया ही समाज-सुधार है ! व्यक्ति सुधरेगा तभी समाज व राज्य मे एक नई चेतना आयेगी और आज का धूमिल वातावरण उजला बनेगा।

आज के युग की कुछ विचित्रताओं का पार नहीं। युग की देन ही समझिए—आज मनुष्य के हृदय और जबान में तथा जबान और आचरणों में कोई संतुलन नहीं रह गया है। जबान मे कुछ ही है और हृदय में कुछ और ही। इसी प्रकार जबान में कुछ ही है और आचरणों मे कुछ और ही। परिणामतः हृदय और आचरणों के विद्रोही होने पर भी मनुष्य जबान के द्वारा सुधार की आवाजें लगाने मे आज किसी प्रकार भी सकोच का अनुभव नहीं करता। यही कारण है कि आज का सुधारक सभा-मंचो पर खड़ा होकर लच्छेदार भाषा मे लम्बे-लम्बे भाषण देना खूब जानता है। राष्ट्र और समाज-उत्थान के राग अलापने मे भी वह कुछ कसर नही छोड़ता। पर अपने सुधारने की जब बात आती है तो वह बगलें झाँकने लगता है। वह सोचता है—समाज सुधर जाये, राष्ट्र सुधर जाये और फिर कहीं मेरा नम्बर आये। यह आज की दयनीय स्थिति का एक नमूना है। सही बात तो यही है कि सुधार-कार्य सबसे पहले अपने जीवन से शुरू करना होगा। हर व्यक्ति को आत्मनिष्ठा के साथ यह ठान लेना होगा कि उसका सबसे पहला और जरूरी कार्य है—अपने जीवन को बुराइयो के गड्ढे से बाहर निकाल भलाइयों, सद्वृत्तियों एवं सद्गुणों मे ढालना। अतएव आज के सुधारक हृदय,आचरण और जबान में सन्तुलन स्थापित कर जब तक इस मार्ग का अवलम्बन नहीं करेंगे तब तक कुछ बनने का नहीं।

सुख और शान्ति के लिए आज समूचा संसार लालायित है। क्या भारत और क्या अन्य देश। सब जगह आज सुख और शाति की अत्यन्त आवश्यकता महसूस की जा रही है। मगर सुख और शाति के साधनो का विश्लेषण करते समय दिमाग मे सहजतया यह चित्र अङ्कित हो जाता है कि जहाँ अन्य देश भौतिक-अभिसिद्धियों के प्राचुर्य से, भूतवाद व भोग से चिरस्थायी शाति का स्वप्न देखते हैं वहाँ भारत भौतिक-अभिसिद्धियों की कमी करने में, अध्यात्मवाद, त्याग, साधना व तपस्या मे चिरस्थायी शाति की झाँकी देखता आया है और आज भी वह इन्हीं साधनों में

चिरस्थायी शांति की स्थापना में विश्वास रखता है । जहाँ अन्यत्र भोगियों की प्रमुखता रहा, वहाँ भारत मे त्यागियों के चरणों में बड़े-बड़े सम्राट् अपने विजयी मुकुट रखकर उनका सम्मान व प्रतिष्ठा बढ़ाते रहे हैं। यही कारण है कि यहाँ के लिए समूचे संसार मे यह आवाज गूँजती रही कि अगर किसी को चरित्र की शिक्षा लेनी है तो वह भारत के त्यागियों से उसे ग्रहण करे। प्रसन्नता की बात है कि आज भी भारत के जन-नेता सत्य और अहिंसा में दृढ़ रहकर उनके आधार पर संसार की समस्या को सुलझाने की बलवती कोशिश कर रहे हैं। मैं यहाँ के लोगों से जोर देकर कहूँगा कि वे पश्चिम से आनेवाली भौतिकवाद की चकाचौंध में फँसकर अपना आत्म-विश्वास न खो बैठें। उनका आत्म-विश्वास उनकी मूलभूत पूँजी है। उसे पहचानते हुए त्याग, तपस्या, समाधान, साधना, संयम और आत्म-नियन्त्रण तथा आत्मानुशासन के मार्ग पर अग्रसर हों। यही वह दृष्टिकोण है जिसके मजबूत आधार पर अणुव्रत-योजना का निर्माण किया गया है।

अणुव्रती-संघ व्रतियों का एक सामूहिक संगठन है। वह इसलिए कि आज इसकी घोर आवश्यकता है। जहाँ तक देखा जाता है—यह खेदपूर्वक प्रकट करना पड़ता है कि बुराइयों मे जितनी परस्पर मिलने की, सगठित होने की ताकत होती है उतनी भलाइयों में नहीं। चोरों, डाकुओं और शराबियों के टोले के टोले आपस मे मिल जाते हैं। उन्हें कोई दिक्कत नहीं महसूस होती, जिनके आगे सशस्त्र सरकार को भी मँहकी खानी पड़ती है। लेकिन अचरज की बात यह है कि भली प्रवृत्तियों को लेकर चलनेवाले लोग ३६ के अंक की तरह आपस मे मिल नहीं पाते। यह स्थिति उनकी भयंकर त्रुटि, सकीर्णता और कमजोरी की परिचायक है।

अतएव, अन्त मे मैं सब लोगो से, जो नैतिकता और चरित्र-निष्ठा में विश्वास रखने वाले हैं, अनुरोध करूँगा कि वे एक सूत्र में आबद्ध होकर कार्य-क्षेत्र में उतर पड़ें। दूसरे शब्दों में वे अणुव्रती सघ के असंकीर्ण व सार्वजनिक मंच द्वारा बढ़ती हुई अनैतिकता, हिंसा व चरित्र-भ्रष्टता के खिलाफ एक सगठित प्रतिरोधात्मक मोर्चे का निर्माण करें और अपनी आध्यात्मिक-संस्कृति के अनुकूल एक नये समाज का नव-निर्माण कर आज भी समस्याओ से उत्पीड़ित दुनियाँ के सामने एक उदाहरण उपस्थित करें।

कंटालिया,
२५ फरवरी '५४

२६ : मानवता के पथ का अवलम्बन

सुधरी को वीरभूमि कहा जा सकता है। यह वह भूमि है जहाँ से एक नैतिक-क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। तेरापन्थ के प्रथमाचार्य श्री भिक्षु स्वामी ने यहाँ अपना पहला निवास श्मशान की छतरियों में किया। शहर मे उन्हे जगह नहीं मिली—, फिर भी अदम्य-उत्साह के साथ जन-जन मे उन्होंने आध्यात्म-चेतना फूँकी, क्रांति का शंखनाद किया। उनके सद्प्रयत्नों का फल 'तेरापन्थ-समाज' आज भी नैतिक-क्राति का पैगाम लिए आगे बढ़ रहा है।

आज सब चाहते हैं कि उनके पास अधिकाधिक आधुनिक सुख-सुविधाएँ उपलब्ध हों। यह विचार-धारा नई नहीं, हमेशा से चली आ रही है ; पर वास्तव मे सुख पाने का क्या प्रयास किया जाता है ? सुख चाहते हो तो सुख का मार्ग खोजो। अपने आप मे आत्मविश्वास पैदा करो। दूसरों के लिए भी वैसी भावना रखो जैसी अपने लिए रखते हो। आपको दुःख स्वीकार न हों, सुख की चाह हो तो दूसरों को दुःख मत दो, किसी का सुख मत लूटो।

आज जब कि जन-जन मे अनैतिकता की लहर दौड रही है, भ्रष्टाचार और साम्प्रदायिकता बढ़ती जा रही है ऐसे समय में 'अणुव्रत-योजना' बिना किसी भेद-भाव के नैतिक-क्रान्ति का सक्रिय रूप लिए चल रही है। आपको चाहिए कि उसके नियमों को जीवन में उतार कर मानवता के पथ का अवलम्बन करे।

सुधरी,
१ मार्च' ५८

२७ : जीवन में संयम की महत्ता

मानव अपने आपको भूलता जा रहा है। वह आत्मीय-तत्त्वों को छोड़ विजातीय तत्त्वों में रमण करने लगा है। वह अध्यात्मवाद को छोड़ भौतिकवाद के चंगुल में फँसता जा रहा है। फलतः वह अपने आपको भूला, मानवता को भूला और उसने दुःखों के दलदल को निमन्त्रण दिया। आज भी वह भूला-भटका फिर रहा है। वह अपना दृष्टिकोण बदले तो उसे अवश्य शान्ति के दर्शन होंगे। यहाँ कोई ऐसा प्रयोग नहीं है जिसके वीभत्स दृश्य को देखने मात्र से मानवता रो पड़े। यहाँ कोई अश्रुगैस का प्रयोग नहीं है जिससे मानव अश्रु-विह्वल हो जाय। यहाँ तो

जीवन को उठाने का प्रयोग है जो व्यक्ति-व्यक्ति की आत्म-चेतना को जाग्रत करने मे सफल होगा। नदी का उद्गम-स्रोत बहुत छोटा होता है पर आगे चलकर वह बहुत बड़ा रूप ले लेता है। इसी तरह व्यक्ति-व्यक्ति से शुरू किये जानेवाले 'अणुव्रत-आन्दोलन' का रूप पहले छोटा दिखाई देता है परन्तु वह समाज, देश और राष्ट्र सब की आत्मा को छू सकने की क्षमता रखता है।

दीक्षा का मतलब है- भोगों को ठुकरा कर यावज्जीवन के लिए त्यागमय जीवन बिताना, अपने जीवन मे सत्य, अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैसे कठोर व्रतों को पूर्णरूपेण उतारना। यह त्याग का पथ है और मुक्ति का मार्ग है। जहाँ आज भौतिकवाद का नारा है कि---आवश्यकताएँ बढ़ाओ, उद्योग बढ़ाओ जिससे देश समृद्ध बने, वहाँ हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि जितनी लालसा बढ़ेगी मानव को उतना ही सुख-शान्ति के लिए त्याग-मार्ग पर ही आना होगा, जीवन को संयम-प्रधान बनाना होगा।

सुधरी,
४ मार्च '५४

२८ : विद्यार्थियों से

सब धर्मों मे मानव-जीवन को कीमती माना गया है और मानव-जीवन मे भी छात्र-जीवन अधिक कीमती है। यह मानव मे सुसंस्कार डालने की अवस्था है। जिस प्रकार कच्ची टहनी को चाहे ज्यों मोड़ा जा सकता है कच्चे बर्तन सुयोग्य हाथों मे सुडौल और सुन्दर बनाये जा सकते हैं, ठीक उसी तरह छात्र-जीवन मे मानव आचार-शील अध्यापकों व अभिभावकों के द्वारा सुसंस्कारी बनाया जा सकता है।

शिक्षा जबानी नहीं होनी चाहिए। वह अध्यापकों एवं अभिभावकों के आचरण मे उतरकर बच्चों के सामने आनी चाहिए। उनकी आवाज ऊपरी न होकर हृदय की आवाज होनी चाहिए। छात्रो! आप अपना जीवन विनम्र और अनुशासनप्रिय बनायें, अपने आपको सुनागरिक बनायें और उत्तरोत्तर आत्मोन्नति करते जायें, इसीमें शिक्षा पाने की सफलता है।

सोजत रोड,
६ मार्च '५४

२६ : मनुष्य-जीवन का महत्त्व

यह मानव-जीवन बहुमूल्य है। इसको यदि व्यर्थ ही गवाँ दिया गया तो फिर इसका दुबारा मिलना कठिन है। जीवन पशु का भी होता है किन्तु विवेक की विशेषता जो मनुष्य मे है उसीके कारण मनुष्य-जीवन को महत्त्व दिया जाता है। यदि उस महत्त्व की तरफ ख्याल न किया, विवेक को व्यवहार मे न लिया तो आखिर पछतानेके सिवाय कुछ नहीं रहेगा। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि इस थोड़े व बहुमूल्य जीवन में ज्यादा से ज्यादा संयमी बनकर इसको सफल व सार्थक बनाये।

जोजावर,
१२ मार्च '५४

३० : अणुव्रत-आन्दोलन का मूलोद्देश्य

अणुव्रत-आन्दोलन आज की जनता के जीवन में छाई हुई बुराइयों को निकालने का एक सीधा उपक्रम है। हमारे ६५० के लगभग साधु-साध्वियाँ भारत के विभिन्न भागों में पाद-विहार करते हुए इसका प्रचार करने में कृतसंकल्प हैं। इसका मूल उद्देश्य यह है कि जनता का चारित्रिक व नैतिक धरातल ऊँचा उठे।

जोजावर,
१२ मार्च '५४

३१ : मानव-जीवन का सार

धर्म प्राणीमात्र के लिए हर समय आवश्यक है। वृद्धावस्था में ही धर्म किया जाय, यौवन और बचपन तो सिर्फ मौज करने के लिए है, यह एक गलत विचारधारा है। काल जो हर समय सिर पर घूमता रहता है, न मालूम, हम पर कब सवार हो जाय, इस पर दृष्टि रखते हुए हर समय में धर्मोपार्जन करना चाहिए। धर्म एक सार्वजनिक वस्तु है उसे हर कोई व्यक्ति अपने जीवन मे उतारे। इसीमें मानव जीवन का सार है।

जानुन्दा,
१३ मार्च '५४

३२ : सद्गुरु की आवश्यकता

मनुष्य के लिए सद्गुरु का होना अत्यन्त आवश्यक होता है। सद्गुरु के बजाय कुगुरु की संगति की जाय तो तैरने के बजाय डूबने का डर कहीं ज्यादा रहेगा। इस-लिए आवश्यक है कि गुरु की सच्ची पहचान हो। गुरु सबका होता है। फूल मे सुगंध की तरह उसे आत्मा मे रमा लेना चाहिए।

खींवाडा,
१४ मार्च '५४

३३ : धर्म बनाम धन

यहाँ की जनता ने हमारा स्वागत किया यह उनकी अन्तरतम की भक्ति का दिग्दर्शक है। पर सहा स्वागत, जैसा कि मै कई बार कह चुका हूँ, वाचिक न होकर व्रतात्मक होना चाहिए। यही सन्तो का सच्चा स्वागत-सम्मान होगा।

आज मनुष्य का जीवन विशृङ्खलता के कारण विषम बनता जा रहा है। जबतक विशृङ्खलता चलेगी तबतक समता व शाति कैसे आयेगी? रामराज्य की कामना कैसे पूरी होगी? यह एक विचारणीय विषय है। मनुष्य भी आज निराश, दिग्मूढ व सभ्रान्त सा बन रहा है। उसे यह भान तक नहीं है कि मेरा कर्त्तव्य क्या है? रास्ता कौन सा है? सुख और समृद्धि की प्यास उसे बहुत है फिर भी वह उसे मिल नही रही है। इसका मुख्य कारण उसकी बढ़ती हुई लालसाये है, धर्म के प्रति अरुचि का भाव है। तब सुख व शाति का मार्ग कैसे मिले? इन दुर्गुणो के कारण मानव के लिये यह एक जटिल समस्या बन गई है।

लोगो को चाहिये कि वे धर्म को अपने जीवन की एक आवश्यक वस्तु समझें। वह जीवन-सुधार का एक उत्कृष्टतम साधन है। धर्म के लिये धन की भी आवश्यकता नहीं होती। यह याद रखिये कि धर्म और धन मे बहुत बड़ा विरोध है। धन जहाँ जड़ है वहाँ धर्म आत्मा की वस्तु है। चेतन के लिए जड़ की उपासना की जाय, इसमें बुद्धिमानी का दर्शन तो कहीं नहीं दीखता। आत्मा चेतन है, उसे चेतन की उपासना मे लगाइये, यही बुद्धिमानी है तथा इसी मे मानव-जीवन की सफलता है।

इस मानव-जीवन की सार्थकता इसमे नहीं है कि आप ज्यादा से ज्यादा विलासी बनें, पूँजीपति बनें, ऐश-आराम से जिन्दगी को बितायें। वास्तव में मानव का कर्त्तव्य

यह है हा नहीं कि वह उन्हे पाने की चेष्टा करे। यह तो सिर्फ इसलिये है कि उसके बिना गृहस्थ-जीवन चलता नही है। उसको सुख का साधन मान लेना एक भयंकर भूल है। वास्तव मे भोगो में सुख नहीं, सुख की भ्रान्ति है। योगी जहाँ भोगो को ठकराता है वहाँ भोगी उन्हे पाने की चेष्टा करता है। फिर भी योगी सुख की अनुभूति करता है और भोगी दुःखो के गहन दलदल में फँसता ही जाता है। आज तक संसारी व्यक्तियो ने भोगो का संचय किया, फिर भी उन्हें सुख के कहीं दर्शन नहीं हुए। लेकिन अब भी वे उन्हे पकडे हुए हैं, सुख की आशा मे वे एक चिरन्तन सत्य की उपेक्षा कर रहे है। त्याग को छोड़ कर भोग मे सुख पाने की आशा कर रहे हैं। मैं कहूँगा कि वे कम से कम इस तरह भटकें नहीं। एक बार भोग को छोड़ योग-मार्ग का अनुसरण करे तभी आशा सफल होती नजर आयेगी और तभी भ्राति का समूल नाश होगा और परमानन्द की प्राप्ति होगी।

इसका अध्यात्मवादी विचारधारा ने जो साधन दिया है वह रोग की एक स्थायी चिकित्सा है। उसने बताया—'सुख व शाति के लिए आवश्यकताओं को सीमित करो, परिग्रह को घटाओ, धर्म को आचरणों मे लाओ'। मै समझता हू कि अगर मनुष्य ने इनको अपनाया तो उसे अवश्य राहत मिलेगी। सुख व शाति का सुन्दर वातावरण फैलेगा।

राणी स्टेशन,
१६ मार्च '५४

३४ : जैन-धर्म और साम्यवाद

जैन-दर्शन भारत के प्राचीन ऋषि-महर्षियो के विचारो की एक अनुपम निधि है। हमारे महर्षियो ने जिस अमूल्य तत्त्व-निधि को अपने पास संजोगे रखा, आज उसका पूरा अध्ययन तक नही हो पा रहा है। मुझे यह कहते हुए खेद होता है कि जैन-विद्वानो ने इसके प्रचार की ओर विशेष ध्यान नही दिया। एक बहुगुणी रत्न को डिबिया मे बन्द कर रखने से उसकी आभा और कीमत का क्या पता चले? उसका मूल्यॉकन तब होगा जब डिबिया खुलेगी, और किसी जौहरी के हाथ मे वह जायगी। इस विषय में हमे खुशी के साथ कहना पड़ता है कि विदेशी विद्वानो ने उसकी कीमत को ऑका है, समझा है। वे आज हमारे जैनागमो का अध्ययन कर रहे हैं, उनपर टीका लिखते है, दूसरी भाषाओं मे अनुवाद करते है। अगर जैन-विद्वान इस ओर अग्रसर न हुए, अपनी पैतृक-सम्पत्ति की सँभाल न की, उसे पुस्तकों

और पुस्तकालयों में ही बन्द रखा तो संभव है, वे अपनी प्राचीन अमूल्य निधि को खो बैठें। अगर हमने इसके विकास की ओर ध्यान दिया तो कोई कारण नहीं कि जैन-दर्शन विश्व-दर्शन न बन जाय।

जैन-दर्शन का सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त जो विश्वबन्धुत्व का है, वह हमारी अमूल्य विरासत है। अगर जैन-सम्प्रदायों ने आपस में समन्वय की भावना न रखी, वही पुराना आक्षेपात्मक तरीका चलता रहा, विश्वमैत्री का सबक न सीखा तो मैं कहूँगा कि वे अभी जैनत्व से परे हैं। उन्होंने जैनत्व के अन्तरंग मर्म को छूआ तक नहीं है।

धर्म मात्र अहिंसा व सत्य पर आधारित है। ये दोनों ही जैन-धर्म के मूल हैं। जैन वह जो आत्मविजय के मार्ग का अनुसरण करे। **'जयतीति जिनः'** जो आत्मविजेता हो, वह जिन कहलाता है और उसके बताये मार्ग का अनुसरण करनेवाला जैन कहलाता है। उसका अनुसरण करनेवाला प्राणीमात्र हकदार है चाहे वह किसी भी जाति या वर्ग का हो। तात्त्विक-दृष्टि से उसमें कोई भेद नहीं है। जैन-दर्शन का यह साम्यवाद का सिद्धान्त उसके लिये एक गौरव की चीज है। अतः जैन-बन्धुओं को चाहिये कि वे इस महान् दर्शन के प्रचार में अपने समय व दिमाग को खपायें। यह अपनी अमूल्य निधि की बहुत बड़ी सेवा होगी।

वरकाणा,
१७ मार्च '५४

३५ : शिक्षार्थी और चारित्र-निर्माण

भगवान् महावीर ने अपने प्रवचन में एक जगह बताया है कि विद्या पढ़ने का सार इसमें है कि मनुष्य अहिंसा और समता को समझे। ज्ञान और विज्ञान प्राप्त कर मनुष्य अहिंसा और समता की आराधना करे, यह उसका सही उपयोग है। ज्ञान का परिष्कृत या विकसित रूप ही विज्ञान है या यों कहें कि प्रयोग सहित जो ज्ञान है उसका नाम विज्ञान है। मैं जिस विज्ञान की बात आपको बता रहा हूँ, वह अध्यात्म-विज्ञान है। भौतिक-विज्ञान उससे बहुत भिन्न है।

आज का भौतिक-विज्ञान बहुत विकसित है उससे मनुष्य का जीवन-स्तर बहुत ऊँचा उठ जायगा—ऐसा प्रायः कहा जाता है। यद्यपि भौतिक वैज्ञानिकों की

दृष्टि से यह बुरा नहीं है लेकिन आज उसके प्रयोग को देखते हुए वह बुरा है, यह कहते हुए हमें तनिक भी संकोच का अनुभव नहीं होता। इस विज्ञान के प्रयोग का एक परिणाम यह निकला है कि वह जनता के लिये अभिशाप बन गया है, पद-पद पर मानव विनाश करने के लिये तैयार हो गया है और उससे विश्व-व्यापी जो अशान्ति बढ़ी है वह भी मनुष्य के जीवन के लिये एक समस्या बन गई है। अगर इस तरह के विनाश व अशान्ति के लिये ज्ञान का परिष्कार भी हो तो वह बहुत बड़ी भूल है। भगवान् महावीर की वाणी में पुनः-पुनः कहा गया है कि मनुष्य ज्ञान-विज्ञान के द्वारा अहिंसा और समता का पाठ पढ़े। यही ज्ञान-प्राप्ति का सार है। अगर विकास की जगह विनाश का यह दौर यों ही चलता गया तो भविष्य बहुत अन्धकारमय बन जायगा और प्रकृति की दी गई बुद्धि का यह बहुत बड़ा अनादर एवं अपव्यय होगा।

आज शिक्षा का विकास भी बहुत ज्यादा हो गया है तथा सरकार व अन्य शिक्षण-केन्द्र भी इस ओर प्रयत्नशील है लेकिन सबसे जरूरी शिक्षा जो जीवन-सुधार की है उसमें कहाँ तक विकास हुआ है, यह देखना है। अगर जीवन-सुधार की शिक्षा विद्यार्थियों को नहीं मिलती है तो कहना पड़ेगा कि एक बहुत आवश्यक वस्तु की घोर उपेक्षा की जा रही है और उसका परिणाम सुन्दर नहीं होगा।

एक दूसरी भूल जो हो रही है वह है शिक्षा पाने का गलत व भ्रामक उद्देश्य। आज यदि विद्यार्थी १००) रु० माहवार कमाने के योग्य हो गया है तो समझा जाता है कि विद्यार्जन का मकसद पूरा हो गया। लड़के ने अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली है लेकिन यह मूल में भूल हो रही है। शिक्षा का मूल उद्देश्य, जैसा कि अभी मैंने बताया है जीवन-विकास होना चाहिये। अगर उद्देश्य की शुद्धि हो जायगी तो विद्यार्थी एक बहुत बड़ा मार्ग-दर्शन पा जायेगा।

उद्देश्य की शुद्धि के बाद विद्यार्थी कैसा होना चाहिये, उसे किन-किन आदर्शों पर चलना चाहिये यह मुझे बताना है। इस विषय पर हमें ज्यादा विचारने की जरूरत नहीं पड़ेगी। हमारे पूर्वज ऋषि-महर्षियों ने इस विषय में बहुत कुछ चिन्तन व मनन किया है और उससे निकला हुआ सार हमारे सामने रखा है। भगवान् महावीर ने 'उत्तराध्यन' सूत्र में एक जगह शिक्षार्थी के लक्षण बताते हुए कहा है :—

अह अट्ठहि ठाणेहि, सिक्खासीलि त्ति वुच्चई।
अहस्सिरे सयादन्ते, नयमम्ममुदाहरे।
नासीले न विसीले, न, सिया अइलोलुए।
अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीलित्ति वुच्चई॥

अर्थात् शिक्षाशील वह है जिसमें निम्नोक्त आठ गुण पाये जाते हैं—अट्टहास न करनेवाला हो, जितेन्द्रिय हो, किसी के मर्म का उद्घोषण न करनेवाला हो, अश्लील (चारित्रहीन) न हो, विशील (दुश्चारित्री) न हो, खान-पान का लोलुपी न हो, अक्रोधी हो और सत्यरक्त हो। जिसमें ये गुण पाये जाते हों वह शिक्षाशील है। ये गुण अगर विद्यार्थी में आ गये तो यह निश्चित समझें कि विद्यार्थी ने विद्याध्ययन से सही लाभ उठाया है।

आज के विद्यार्थियों को देखते हुए मुझे सखेद कहना पड़ता है कि उनकी स्थिति इसके सर्वथा विपरीत है। आज विद्यार्थी कुतूहल-प्रेमी बन गये हैं। औरों पर नियन्त्रण की चर्चा भले हो करें पर अपने पर नियन्त्रण का कभी विचार ही नहीं आता। उच्छृङ्खलता और उद्दण्डता इतनी ज्यादा बढ़ गई है कि विद्यार्थी स्वयं अध्यापकों को पीटने के लिये तैयार हो जाते हैं। जिह्वालोलुपता तो आज का मानव-समाज बन ही गया है यहाँ तक कि उसने माँस और अण्डों से भी परहेज नहीं रखा। उन्हें भी भक्ष्य समझ लिया। उनमें संयम की कमी है। सत्य के प्रति प्रेम नहीं रहा है। यह स्थिति बहुत विषमता पैदा कर देनेवाली है। अगर जल्दी ही इस ओर ध्यान नहीं दिया गया तो भावी पीढ़ी का जीवन सफल नहीं हो सकेगा।

आज की शिक्षा प्रणाली भी ठीक नहीं है। विद्यार्थी स्कूल में कितनी देर पढ़ता है? इसके लिये बताया जाता है कि एक साल में एक महीने के लगभग औसत पढ़ाई होती है बाकी के ११ महीनों का समय उनका व्यर्थ जाता है। इतने व्यर्थ समय में उनमें उच्छृङ्खलता और उद्दण्डता क्यों न आये? यहाँ तक कि विनय को तो वे गुलामी समझने लगे हैं। यह भारत की विनयमूलक संस्कृति का बहुत बड़ा अपमान हुआ है। मनुष्य का सिर गुणी आदमी के सामने झुकता है। इसमें गुलामी किस बात की है; कुछ समझ में नहीं आता? जब तक विद्यार्थी गुणी आदमी के पास नहीं रहता, सदाचारमय वातावरण में नहीं पलता, तब तक उसके आचरण और संस्कार अच्छे हो जाँय; यह कभी सभव नहीं दीखता।

विद्यार्थियों की इस अवस्था का एक दोष अध्यापकों पर भी आता है। उनमें चारित्र और सदाचार का अभाव मालूम देता है जिसके कारण वे अपनी जिम्मेवारी को पूरी तरह नहीं निभा पाते। इसके लिये मैं अध्यापकों से कहूँगा कि वे चारित्रवान बनें। उनके हाथों में देश की एक अनुपम निधि सौंपी गई है, उसका सदुपयोग करें। उन्हें ज्यादा से ज्यादा चारित्रवान व सदाचारी बनायें।

अन्यान्य शिक्षाओं की तरह अध्यात्म-शिक्षा भी विद्यार्थियों के लिये आवश्यक है। यह सहभावी अध्ययन उनके लिये बहुत लाभदायक सिद्ध होगा। यद्यपि आज धर्म का मूलतत्त्व बहुत ही छिप गया है और उसके लिये कतिपय धार्मिक भी दोषी हैं। उन्होंने धर्म को आडम्बर का रूप दे दिया, पूँजी के साथ धर्म का गठबन्धन किया, उसे स्वार्थ-साधन में फँसाया। इन्हीं कारणों से धर्म विकृत बना, वास्तविक सत्य लुप्त हो गया। यह आज एक विषम स्थिति है, इस पर भी सोचना होगा। वास्तव में सही बात यह है कि धर्म साधना में है, आडम्बर, स्वार्थ-साधन तथा धन में नहीं। सत्य अहिंसामय जो धर्म है वह सबका है। उसी धर्म की विद्यार्थियों को शिक्षा मिलनी चाहिये।

अन्त में मैं विद्यार्थियों से यही कहूँगा कि वे अपने जीवन को ज्यादा से ज्यादा चरित्रवान, सदाचारवान व सादगीमय बनायें। आपसे देश व समाज को बहुत बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं, उनकी भी पूर्ति आपको करनी चाहिये। अध्यात्म-शिक्षा को ज्यादा से ज्यादा प्रश्रय दें और जिन आठ बातों को मैंने पीछे बताया है उनकी तरफ ज्यादा अग्रसर हों।

वरकाणा (हाई स्कूल),
१७ मार्च '५४

३६ : हृदय-परिवर्तन की आवश्यकता

आगम वाक्यों में साधु को **'तिन्नाणं तारयाणं'** कहा जाता है। साधु स्वयं उठे और दूसरों को उठाये, यह उसका प्रमुख कर्त्तव्य है। बहुधा एक सवाल पूछा जाता है—"साधुओं को शहरों में आने की क्या जरूरत है, उन्हें तो निर्जन पहाड़ों व जंगलों में साधना करनी चाहिये।" बात ठीक है। वे धन्यवाद के पात्र हैं जो पहाड़ों की कन्दराओं व निर्जन वनों में मूर्ति की तरह ध्यानस्थ होकर तपस्या करते हैं और आत्म-साधना करते हैं। अगर वे धन्यवाद के पात्र हैं तो वे जन-विहारी-प्रचारक भी धन्यवाद के पात्र हैं जो स्वयं उठते हुए अपनी लोकोपकारी वाणी के द्वारा जनता का उत्थान करते हैं। यह जन-कल्याण एक बहुत बड़ी साधना है। जिस सही मार्ग को हमने अपनाया है उसी मार्ग पर चलने की लोगों को प्रेरणा दें, यह बहुत बड़ा उपकार है।

इसी स्वपरोपकारी दृष्टि से अणुव्रती-संघ की एक सार्वजनिक योजना हमारी तरफ से जनता के सामने रखी गई है। जिसका उद्देश्य है—**"आज के बढ़ते हुए भ्रष्टाचार व नैतिक-पतन को रोककर नैतिकता व सदाचारपूर्ण वातावरण का निर्माण करना।"** आज कानून के बल पर लोगों की बुराई छुड़ाने की कोशिश की जाती है, लेकिन जो कार्य हृदय-परिवर्तन से बनता है वह कानून से नहीं होता। कानून से जहाँ व्यक्ति बचने की चेष्टा करता है वहाँ हृदय-परिवर्तन के द्वारा मनुष्य के दिल में बुराई के प्रति घृणा पैदा हो जाती है। घृणा बुराई छोड़ने को उद्यत करती है। बुराई छूट जाती है—प्रेम का वातावरण विकास पाता है। इसलिये 'अणुव्रत-आन्दोलन' का मुख्य लक्ष्य हृदय-परिवर्तन द्वारा बुराई को मिटाना है।

आज के इस भयग्रस्त व विषम वातावरण को प्रेम, समता व शान्तिमूलक बनाने के लिये 'अणुव्रत-योजना' अत्यन्त उपयुक्त है। अगर लोगों ने इसे अपनाया तो यह निश्चित है कि वातावरण में कुछ परिवर्तन आयेगा। परिवर्तित वातावरण प्रेम व शांति का वातावरण होगा।

राणी स्टेशन,
२० मार्च '५४

३७ : जीवन में धार्मिकता को प्रश्रय दें

इस मानव-जीवन को सार्थक बनाने के लिये मनुष्य को ज्यादा से ज्यादा अध्यात्म-मार्ग की ओर अग्रसर होना चाहिये। धार्मिक-जीवन मानव-जीवन की सबसे पहली अपेक्षा है। उसके अभाव में जीवन सूना है, नीरस है। अतः मानव को सबसे पहले चाहिये कि अपने जीवन में ज्यादा से ज्यादा धार्मिकता को प्रश्रय दे और सद्वृत्तियों को जीवन में उतारे।

अपना पन्थ प्रभु का पन्थ है, वीतराग का मार्ग है। बड़े निर्जन व बीहड़ पन्थों को पार करके हमने इसे पाया है। यह सौभाग्य की बात है। अब अगर इस पाये हुए सत्पथ पर हम गतिशील न हुए, वहीं रुके रहे, तो कहना होगा कि यह मार्ग पाने की सफलता नहीं है। यहाँ के श्रावकों में गति है, काम करने का उत्साह है, धर्म और गुरुओं के प्रति श्रद्धा है, यह प्रसन्नता की बात है। वे अपनी गति आगे बढ़ायें, सत्पथ पर निर्भय होकर बढ़ते चलें। जो पथ उन्होंने पाया है उसपर

दूसरों को चलाने का प्रयास करें। दूसरे चलेंगे या न चलेंगे, हमें इसकी चिंता नहीं करनी चाहिये। हम प्रयास करें। उसमें सफलता होगी—ऐसी मुझे आशा है।

एक बात मैं श्रावकों से जोर देकर कहूँगा—वे हमारे प्रति होनेवाले विरोध का उत्तर विरोध से कभी न दें। हम विरोध को देखें, अपने कार्य को करते चलें, गति को तेज बनाये रखें, विरोध अपने-आप खत्म हो जायेगा। उसको देखकर आवेश में न आयें, सहिष्णुता कायम रखें।

इस विषय में मैं विरोधियों से कहूँगा—तत्त्व को पक्षपातरहित होकर सोचें, आग्रहवाद को छोड़कर तत्त्व का मनन करें, चिन्तन करें। मेरेपन की अहं-भावना को छोड़कर सत्य के प्रति ममत्व रखेंगे तो आशा है, सत्य अपने आप प्रकाश में आ जायगा। आरोपवाद और उपेक्षावाद का सहारा लेकर तत्त्व को छिपाने की कोशिश कर दूसरे की कमजोरी दिखाना चाहते हैं, यह कभी संभव होनेवाला नहीं है। सत्य प्रकाशवान् है, उसमें शक्ति है, चमकने की ताकत है। वे इस पर पक्षपात रहित होकर सोचें।

राणी ग्राम,
२१ मार्च '५४

३८ : धर्म और राष्ट्र-निर्माण

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमसंति, जस्स धम्मे सयामणो।

धर्म उत्कृष्ट मंगल है। प्रश्न होता है—कौन सा धर्म? क्या जैन-धर्म, क्या बौद्ध-धर्म, क्या वैदिक-धर्म? नहीं, यहाँ जो धर्म का स्वरूप बताया गया है वह जैन, बौद्ध या वैदिक-सम्प्रदाय से सम्बन्धित नहीं। उसका स्वरूप है—अहिंसा, संयम और तप। जिस व्यक्ति में यह त्रयात्मक धर्म अवतरित हुआ है उस व्यक्ति के चरणों में देव और देवेन्द्र अपने मुकुट रखते हैं। देवता कोई कपोल-कल्पना नहीं है; वह भी एक मनुष्य जैसा ही प्राणी है। यह है एक असाम्प्रदायिक विशुद्ध-धर्म का स्वरूप।

आप पूछेंगे—महाराज! आप किस सम्प्रदाय के धर्म को अच्छा मानते हैं? मैं कहूँगा—सम्प्रदाय में धर्म नहीं है; वे तो धर्म-प्रचारक संस्थाएँ हैं। वास्तव में जो धर्म जीवन-शुद्धि का मार्ग दिखलाता है वही धर्म मुझे मान्य है। फिर चाहे उस

धर्म के उपदेष्टा और प्रवर्तक कोई भी क्यों न हो। जीवन-शुद्धात्मक धर्म सनातन और अपरिवर्तनशील है। वह चाहे कहीं भी हो, मुझे सहर्ष ग्राह्य है।

आज जो विषय रखा गया है वह सदा की अपेक्षा कुछ जटिल है। जहाँ हम सब आत्मनिर्माण, व्यक्ति-निर्माण और जन-निर्माण को लेकर धर्म की उपयोगिता और औचित्य पर प्रकाश डाला करते हैं, आज वहाँ राष्ट्र-निर्माण का सवाल जोड़कर धर्म-क्षेत्र की विशालता की परीक्षा के लिये उसे कसौटी पर उपस्थित करना है। इस विषय पर वक्ताओं ने आज दिल खोल कर असंकीर्ण दृष्टिकोण से अपने विचार प्रगट किये हैं, इस पर मुझे प्रसन्नता है।

राष्ट्र-विध्वंस

विषय में प्रविष्ट होते ही सबसे पहले प्रश्न यह होता है कि राष्ट्र-निर्माण कहते किसे हैं ? क्या राष्ट्र की दूर-दूर तक सीमा बढ़ा देना राष्ट्र-निर्माण है ? क्या सेना बढ़ाना राष्ट्र-निर्माण है ? क्या संहार के अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण व संग्रह करना राष्ट्र-निर्माण है ? क्या भौतिक व वैज्ञानिक नये-नये आविष्कार करना राष्ट्र-निर्माण है ? क्या सोना-चाँदी और रुपये-पैसों का संचय करना राष्ट्र-निर्माण है ? क्या अन्यान्य शक्तियों व राष्ट्रों को कुचल कर उन पर अपनी शक्ति का सिक्का जमा लेना राष्ट्र-निर्माण है। यदि इन्हीं का नाम राष्ट्र-निर्माण होता है तो मैं जोर देकर कहूँगा—यह राष्ट्र-निर्माण नहीं ; बल्कि राष्ट्र का विध्वंस है, विनाश है। ऐसे राष्ट्र के निर्माण में धर्म कभी भी सहायक नहीं हो सकता। ऐसे राष्ट्र-निर्माण से धर्म का न कभी सम्बन्ध था और न कभी होना ही चाहिये। यदि किसी धर्म से ऐसा हो, तो मैं कहूँगा—वह धर्म, धर्म नहीं, बल्कि धर्म के नाम पर कलंक है। धर्म राष्ट्र के कलेवर का नहीं, उसकी आत्मा का निर्माता है। वह राष्ट्र के जन-जन में फैली हुई बुराइयों को हृदय-परिवर्तन के द्वारा मिटाता है। हम जिस धर्म की विवेचना करना चाहते हैं वह कभी उपरोक्त राष्ट्र के निर्माण में अपना अणु भर भी सहयोग नहीं दे सकता।

धर्म से सब कुछ चाहते हैं

धर्म की विवेचना करने के पहले हम यह भी कुछ सोच लें कि धर्म की आज क्या स्थिति है ? और लोगों के द्वारा वह किस रूप में प्रयुज्य है ? धर्म के विषय में आज लोगों की सबसे बड़ी जो भूल हो रही है वह यह है कि धर्म को अपना उपकारी

समझ कर उसे कोई बधाई दे या न दे परन्तु दुत्कार आज उसे सबसे पहले ही दी जाती है। अच्छा काम हुआ तो मनुष्य बड़े गर्व से कहेगा—मैंने किया है और बुरा काम हो जाता है तो कहा जाता है कि परमात्मा की ऐसी मर्जी थी। आगे न देख कर चलनेवाला पत्थर से टक्कर खाने पर यही कहेगा कि बेवकूफ ने रास्ते में पत्थर लाकर रख दिया। मगर वह इस ओर तो ध्यान ही नहीं देता कि मेरे देखकर न चलने का ही परिणाम है। लोगों की कुछ ऐसी ही आदतें पड़ जाती हैं कि वे दोषों को अपने सिर पर लेना नहीं चाहते, दूसरों के सिर पर ही मढना चाहते हैं। अहिंसा का उपयुक्त पालन तो स्वयं नहीं करते और अपनी कमजोरी, भीरुता और कायरता का दोषारोपण करते है—अहिंसा पर। धर्म के वसूलों पर स्वयं तो चलते नहीं और भारत की दुर्दशा का दोष थोपते हैं—धर्म पर। मेरी दृष्टि मे यह भी एक भयंकर भूल है कि लोग अच्छा या बुरा सब कुछ धर्म के द्वारा ही पाना चाहते हैं, मानो धर्म कोई 'कामकुम्भ' हा है। कहा जाता है—कामकुम्भ से जो कुछ भी माँगा जाता है वह सब मिल जाता है। मुझे यहाँ एक छोटा-सा किस्सा याद आता है जो इस प्रकार है :

"एक बेवकूफ को संयोग मे 'कामकुम्भ' मिल गया। उसने सोचा—मकान, वस्त्र, सोना-चाँदी आदि अच्छी चीजें तो इससे सब मिलती ही हैं पर देखें शराब जैसी बुरी चीज मिलती है या नहीं; ज्योंही शराब माँगी त्योंही शराब से छलाछल भरा प्याला उसके सामने आ गया। अब वह सोचने लगा—शराब तो ठीक, मगर इसमे नशा है या नहीं; पीकर परीक्षा तो करूँ। पीने के बाद जब नशा चढ़ा और मस्ती आई तब वह सोचने लगा—वेश्याओं के नयनाभिराम नृत्य के बिना तो सब कुछ फीका ही है। विलम्ब क्या था। 'कामकुम्भ' के प्रभाव से वह भी होने लगा। तब उसने सोचा—देखू, मैं इस 'कामकुम्भ 'को सिर पर रखकर नाच सकता हूँ या नहीं। आखिर होना क्या था? 'कामकुम्भ' धरती पर गिरकर चकनाचूर हो गया, वेश्याओ के नृत्य बन्द हो गये और जब उस बेवकूफ की आँखें खुलीं तो उस 'कामकुम्भ' के फूटे टुकड़ों के साथ-साथ उसे अपनी भाग्य भी फूटी हुई मिली।"

कहने का तात्पर्य यह है कि लोग 'कामकुम्भ' की तरह धर्म से सब कुछ पाना चाहते हैं। मगर इसके साथ मजे की बात यह है कि अगर अच्छा हो जाय तो धर्म को कोई बधाई नहीं देता। उसके लिये तो अपना अहंकार प्रदर्शित किया

जाता है और अगर बुरा हो गया तो फिर धर्म पर दुत्कारों की बौछार कर, उसे कलंकित किया जाता है। आप यह निश्चित समझें कि धर्म किसी का बुरा करने या बुरा देने के लिये है हा नहीं। वह तो प्रत्येक व्यक्ति का सुधार करने के लिये है और उसका इसीलिये उपयोग होना चाहिये।

राष्ट्र और धर्म

अब यह सोचना है कि धर्म का राष्ट्र-निर्माण से क्या सम्बन्ध है। वास्तव में राष्ट्र के आत्म-निर्माण का जहाँ सवाल है वहाँ धर्म का राष्ट्र से गहरा सम्बन्ध है। मेरी दृष्टि में, मानव-समाज के अतिरिक्त राष्ट्र की दूसरी आत्मा सम्भव ही नहीं। मानव-समाज व्यक्तियों का समूह है और व्यक्ति-निर्माण धर्म का अमर व अमिट नारा है ही। इस दृष्टि से राष्ट्र-निर्माण का धर्म से सीधा सम्बन्ध है। धर्मरहित राष्ट्र राष्ट्र नहीं अपितु प्राण-शून्य कलेवर के समान है। राष्ट्र की आत्मा तब ही स्वस्थ, मजबूत और प्रसन्न रह सकती है जब कि उसमें धर्म के तत्त्व घुले-मिले हों।

व्यवस्था और धर्म दो है

धर्म क्या राष्ट्र, और क्या समाज, दोनों का ही निर्माता है, किन्तु जब उसको राज्य-व्यवस्था व समाज-व्यवस्था में मिला दिया जाता है तब राज्य और समाज— दोनों में भयंकर गड़बड़ी का सूत्रपात होता है किन्तु इसके साथ-साथ धर्म के प्राण भी संकट में पड़ जाते हैं। लोगों की मनोवृत्ति ही कुछ ऐसी है कि यहाँ साधारण से साधारण कार्य में भी धर्म की मोहर लगा दी जाती है। किसी को जल पिला दिया, या किसी को भोजन करा दिया, बस इतने मात्र से आपने बहुत बड़ा धर्मोपार्जन कर लिया! यह क्या है? इसमें धर्म की दुहाई क्यो दी जाती है? और धर्म को ऐसे संकीर्ण धरातल पर क्यों घसीटा जाता है? ये सब तो धर्म के धरातल से बहुत नीचे एक साधारण व्यवस्था और नागरिक-कर्त्तव्य की चीजें हैं। व्यवस्था और धर्म को मिलाने से जहाँ धर्म का आहत होता है, वहाँ व्यवस्था भी लड़खड़ा जाती है। धर्म व्यवस्था और सामाजिक-कर्त्तव्य से बहुत ऊपर आत्म-निर्माण की शक्ति का नाम है। भौतिक-शक्तियों की अभिवृद्धि के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं, और न उसका यह लक्ष्य ही है कि वे मिलें। आज राजनैतिक-नेता उस आवाज को बुलन्द अवश्य करने लगे हैं कि धर्म को राजनीति से परे रखा जाय पर हम तो शताब्दियों से यही आवाज बुलन्द करते आ रहे हैं। मेरा यह निश्चित अभिमत है कि यदि धर्म को

राजनीति से अलग नहीं रखा जायेगा तो जिस प्रकार एक समय 'इस्लाम खतरे में' का नारा बुलन्द हुआ था उसी प्रकार 'कहीं और कोई धर्म खतरे में' ऐसा नारा न गूँज उठे। मैं समझता हूँ, यदि धार्मिक लोग सजग व सचेत रहें तो कोई कारण नहीं कि भविष्य मे यह त्रुटि फिर दुहराई जाय।

धर्म-निरपेक्ष राज्य

भारतीय संविधान मे भारत को जो धर्म-निरपेक्ष राज्य बताया गया है उसको लेकर भी आज अनेक भ्रान्तियाँ और उलझनें फैली हुई हैं। कोई इसका अर्थ धर्महीन-राज्य करता है तो कोई नास्तिक-राज्य। कोई आध्यात्मिक-राज्य करता है तो कोई पापी-राज्य। देहली-प्रवास मे जब सविधान के विशेषज्ञो से मेरा सम्पर्क हुआ तो मैंने उनसे इस विषय मे चर्चा की। उन्होने बताया—"महाराज! लोग जैसा अर्थ करते हैं वास्तव में इस शब्द का वैसा अर्थ नहीं है। इसका मतलब यह है कि यह राज्य किसी धर्म-सम्प्रदाय विशेष का न होकर समस्त धर्म-सम्प्रदायों का राज्य है। वास्तव में यह ठीक ही है। भारत मे एक हजार धर्म और सम्प्रदाय प्रचलित हैं। अगर किसी धर्म या सम्प्रदाय विशेष का राज्य स्थापित किया जाय तो मार्ग सम न होकर बड़ा विषम व कंटकाकीर्ण बन जायगा। इतने धर्म-सम्प्रदायो मे किसी धर्म या सम्प्रदाय विशेष पर यह सेहरा बाँधना अनेक जटिल समस्याओं से खाली नहीं है। मेरे विचार से ऐसा होना नहीं चाहिये। धर्म को राज्य के संकीर्ण व परिवर्तनशील फन्दे मे फँसाना राज्य को भयङ्कर खतरे के मुँह मे ढकेलना है और धर्म को गन्दा व सड़ीला व विनाशकारक बनाना है। ये दो अलग-अलग धाराएँ हैं और दोनों के अलग-अलग अस्तित्व, महत्त्व और मार्ग हैं। इनको मिलाकर एक करना न तो बुद्धिमत्ता ही है और न कल्याणकर ही।

संकीर्णता न रहे

यह भी आज का एक सवाल है कि अलग-अलग इतनी अधिक संख्या में सम्प्रदाय क्यों प्रचलित हैं? क्या इन सबको मिलाकर एक नहीं किया जा सकता? मैं मानता हूँ कि ऐसा करना असंभव तो नहीं है फिर भी जो सदा से अलग-अलग विचारधाराएँ चली आ रही है उन सबको खत्म कर एक कर दिया जाय यह बुद्धि और कल्पना से कुछ परे जैसी बात है। मैं इस विषय मे ऐसा कहा कहता हूँ कि

पारस्परिक विचार-भेद हट जाँय। जब यह भी संभव नहीं तो ऐसी परिस्थिति में जो पारस्परिक मतभेद और आपसी विग्रह हैं उनको तो अवश्य मिटाना ही चाहिये। तो उनको मिटाये बिना धार्मिक-संसार को क्या दें और क्या लें, इसका निर्णय करें? इसलिये यह विभेद की दीवार किसी धार्मिक-व्यक्ति के लिये इष्ट नहीं। यदि परस्पर मिलकर धार्मिक-व्यक्ति कुछ विचार-विमर्श ही नहीं कर सकते तो वे कहाँ और कैसे जायें? वे कहाँ बैठेंगे; हम कहाँ बैठेंगे? यदि हमलोग ऐसी ही तुच्छ व संकीर्ण बातों मे उलझते रहे तो मैं कहूँगा—ऐसे संकीर्ण धार्मिक-व्यक्ति धर्म का उन्नति के बदले धर्म की अवनति ही करनेवाले हैं और वे धर्म के मौलिक-तथ्य से अभी कोसों दूर हैं। जिन धार्मिक-व्यक्तियों में संकीर्णता व असहिष्णुता घर कर गई है, वे सपने में भी कभी आगे नहीं बढ़ सकते। इसी प्रकार घर पर किसी अभ्यागत का तिरस्कार करना भी इसी बात का सूचक है कि असलियत में धर्म अभी आत्मा में उतरा नहीं है। धर्म कभी नहीं सिखाता कि किसी के साथ अनुचित व अशिष्टतापूर्वक व्यवहार किया जाय। वास्तव में भूतकाल में भारत की जो प्रतिष्ठा थी, जो उसका गौरव था वह इसलिये नहीं था कि भारत एक धनाढ्य व समृद्धिशाली राज्य था और न वह इसलिये ही था कि यहाँ कुछ विस्मयोत्पादक आविष्कारक व शक्तिशाली राजा-महाराजा तथा सम्राट् थे। इसका जो गौरव था वह इसलिये था कि यहाँ के कण-कण में धर्म, सदाचार, नीति, न्याय और नियन्त्रण की पावन-पुनीत धारा बहती रहती रहती थी। सत्य और ईमानदारी यहाँ के अणु-अणु में कूट-कूटकर भरी हुई थी। तभी बाहर के लोग यहाँ की धर्म-नीति का अध्ययन करने के लिये यहाँ पर आने को विशेष उत्सुक व लालायित रहते थे। आज प्रत्येक भारतीय का यह कर्तव्य है कि वह विचार करे कि आज हम उस समृद्धिशाली विश्वगुरु भारत की सन्तानें अपनी मूल पूँजी संभाले हुए हैं या नहीं। यदि भारतीय लोग ही अपनी मूल पूँजी को भूल बैठेंगे तो क्या यह उनके लिये विडम्बना की बात नहीं है? कहते हुए खेद होता है कि यहाँ पर नित्य नये धर्म व सम्प्रदायों के पैदा होने के बावजूद न तो भारत की कुछ प्रतिष्ठा हा बढ़ी है और न कुछ गौरव हा। प्रत्युत सत्य तो यह है कि उल्टी प्रतिष्ठा एवं गौरव घटे हैं। अगर अब भी स्थिति मौजूद रही तो मुझे कहने दीजिये कि धार्मिक व्यक्ति अपनी इज्जत और शान दोनों को गँवा बैठेंगे।

धर्म और लौकिक-अभ्युदय

इतने विवेचन के बाद अब मुझे यह बताना है कि वास्तव में धर्म है क्या ? इसके लिये मैं आपको बहुत थोड़े और सरल शब्दों में बताऊँ तो धर्म की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि जो आत्मशुद्धि के साधन हैं उन्हीं का नाम धर्म है।' इस पर प्रति-प्रश्न उठाया जा सकता है कि फिर लौकिक-अभ्युदय की सिद्धि के साधन क्या हैं ? जब कि धर्म की परिभाषा में कहीं-कहीं लौकिक-अभ्युदय के साधनों को भी धर्म बताया गया है। मेरी दृष्टि में लौकिक-अभ्युदय का साधन धर्म नहीं है वह तो धर्म का आनुषंगिक फल है। क्योंकि लौकिक-अभ्युदय उसी को माना गया है जिससे आत्मातिरिक्त सामग्रियों का विकास व प्रापण होता है। गहराई से सोचा जाय तो धर्म की इसके लिये कोई स्वतन्त्र आवश्यकता है हा नहीं। जिस प्रकार गेहूँ की खेती करने से तूड़ी-भूसी आदि गेहूँ के साथ-साथ अपने आप पैदा हो जाती हैं, उनके लिये अलग खेती करने की कोई आवश्यकता नहीं होती, इसी प्रकार धर्म तो आत्मशुद्धि के लिये ही किया जाता है मगर गेहूँ के साथ तूड़ी की तरह लौकिक-अभ्युदय उसके साथ-साथ अपने आप फलने वाला है। उसके लिये स्वतन्त्र रूप से धर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं।

लौकिक-धर्म और पारमार्थिक-धर्म

प्राचीन-साहित्य में 'धर्म' शब्द अनेक अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है। उस समय 'धर्म' शब्द अत्यन्त लोकप्रिय था। इसलिये जो कुछ अच्छा लगा उसी को धर्म शब्द से सम्बोधित कर दिया जाता था। इसीलिये सामाजिक-कर्तव्य और व्यवस्था के नियमों को भी ऋषि-महर्षियों ने धर्म कहकर पुकारा। जैन-साहित्य में स्वयं भगवान् महावीर ने सामाजिक-कर्त्तव्यो के दस प्रकार के निरूपण करते हुए उन्हें 'धर्म' शब्द से अभिहित किया है। उन्होने बताया है कि जो ग्राम की मर्यादाएँ व प्रथाएँ हैं उन्हें निभाना ग्राम-धर्म है। इसी प्रकार नगर-धर्म, राष्ट्र-धर्म आदि का विवेचन किया है। यद्यपि तत्त्वतः धर्म वही है जिसमे आत्म-शुद्धि और आत्म-विकास हो। मगर 'धर्म' शब्द की तात्कालिक व्यापकता को देखते हुए सामाजिक-रस्मों व रीति-रिवाजों को भी लौकिक-धर्म बताया गया है। लौकिक-धर्म और पारमार्थिक-धर्म सर्वथा पृथक्-पृथक् हैं। उनका मिश्रण करना दोनो को गलत व कुरूप बनाना है। इनका पृथक्त्व इस तरह समझा जा सकता है कि जहाँ लौकिक-धर्म परिवर्तनशील है वहाँ पारमार्थिक-धर्म सर्वदा सर्वत्र अपरिवर्तनशील व अटल है। आज जिसे हम राष्ट्र-धर्म व समाज-धर्म

कहते हैं वे राष्ट्र एवं समाज की परिवर्तित स्थितियों के अनुसार कल परिवर्तित हो सकते हैं। स्वतन्त्र होने के पूर्व भारत में जो राष्ट्र-धर्म माना जाता था आज वह नहीं माना जाता। आज भारत का राष्ट्र-धर्म बदल गया है मगर इस तरह पारमार्थिक धर्म कभी और कहीं नहीं बदलता। वह जो कल था वही आज है और जो आज है वही आगे रहेगा। गौर करिये—अहिंसा-सत्य-स्वरूपमय जो पारमार्थिक-धर्म है वह कभी किसी भी स्थिति में बदला क्या? इसी तरह लौकिक-धर्म अलग-अलग राष्ट्रों का अलग-अलग है जब कि पारमार्थिक-धर्म सब राष्ट्रों के लिये एक समान है। इन कारणों से यह कहना चाहिये कि लौकिक-धर्म और पारमार्थिक-धर्म दो हैं और भिन्न-भिन्न हैं। पारमार्थिक-धर्म की गति जब आत्म-विकास की ओर है तब लौकिक-धर्म का ताँता संसार से जुड़ा हुआ है।

राष्ट्र-निर्माण में धर्म

राष्ट्र-निर्माण में धर्म कहाँ तक सहायक हो सकता है और इसके लिये धर्म कुछ सूत्रो का प्रतिपादन करता है। वे हैं आत्म-स्वतन्त्रता, आत्म-विजय, अदीन-भाव, आत्म-विकास और आत्म-नियंत्रण। इन सूत्रों का जितना विकास होगा उतना ही राष्ट्र स्वस्थ, उन्नत और विकसित बनेगा। इन सूत्रो का विकास धर्म के परे नहीं है और न धर्म के अभाव में इन सूत्रों का सूत्रपात व उन्नयन ही किया जा सकता है। आज जब राष्ट्र मे धर्म के निरपेक्ष भौतिकवाद का वातावरण फैला हुआ है तब राष्ट्र में दुर्गुणों व अवनति का विकास ही हो, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। यही कारण है जहाँ पद के लिये मनुहारें होतीं थीं फिर भी कहा जाता था कि मुझे पद नहीं चाहिये, मै इसके योग्य नहीं हूँ, तुम्हीं संभालो—वहाँ आज कहा जाता है—पद का हक मेरा है, तुम्हारा नहीं। पद के योग्य मैं हूँ, तुम नहीं। पद पाने के लिये सब अपने-अपने अधिकारों का वर्णन करते हैं, मगर यह कोई नहीं कहता कि पद के योग्य या अधिकारी दूसरा अमुक है। यह पद-लोलुपता का रोग धर्म को न अपनाने और भौतिकवाद को जीवन मे स्थान देने का ही दुष्परिणाम है। एक वह समय था कि जब पद की लालसा रखने वालों को निंद्य, अयोग्य और अनधिकारी समझा जाता था और पद न चाहनेवालों को प्रशस्य, योग्य और अधिकारी। सुभटों का किस्सा इसी तथ्य पर प्रकाश डालता है।

"एक बार किसी देश में ५०० सुभट आये। मंत्री ने परीक्षा करने के लिये रात्रि-समय सब को एक विशाल हाल में सौंपा और कहा कि तुम में से जो बड़ा हो वह हाल के बीच में बिछे पलंग पर सोये तथा अन्य सब नीचे जमीन पर सोयें। सोने का समय आने पर उनमें बड़ा संघर्ष मचा। पलंग पर सोने के लिये वे अपने-अपने हक, योग्यता और अधिकारों की दुहाइयाँ देने लगे। सारी रात बीत गई किन्तु वे एक मिनट भी न सो पाये। सारी रात कुत्तों की तरह आपस में लड़ते-झगड़ते रहे। प्रातःकाल मंत्री ने उनका किस्सा सुनकर उन्हें उसी समय वहाँ से निकाल दिया। दूसरे दिन ५०० सुभट आये। मंत्री ने उनके लिये भी वही व्यवस्था की। उनके सामने समस्या यह थी कि पलंग पर कौन सोये? सब मे परस्पर मनुहारें होने लगी। कोई कहता था—मुझ में विद्या-बुद्धि कम है। आखिर किसी ने पलंग पर सोना स्वीकार नहीं किया। वे समझदार थे। उन्होंने विचार किया—नींद क्यों नष्ट की जाय? सब को पलंग की ओर सिर करके सो जाना चाहिये। सब ने रात भर खूब आनन्द से नींद ली। प्रातःकाल मंत्री ने सारा किस्सा सुनकर उनको बड़े सत्कार के साथ बड़े-बड़े पद सौंपकर सम्मानित किया।"

जब तक यह स्थिति न हो यानी पद के प्रति आकर्षण कम न हो तब तक राष्ट्र-निर्माण कैसे हो सकता है? देहली-प्रवास मे मेरी पं० नेहरूजी से जब-जब मुलाकात हुई तो मैंने प्रसंगवश कहा—"पंडितजी! लोगों में कुर्सी की इतनी छीना-झपटी क्यों हो रही है?" उन्होंने खेद भरे स्वरों में कहा—"महाराज! हम इससे बड़े परेशान हैं परन्तु करें क्या?" जिस राष्ट्र मे यह अहंमन्यता, पदलोलुपता और अधिकारो की भावना का बोलबोला है वह राष्ट्र ऊँचे उठने के स्वप्न कैसे देख सकता है? वह तो दिन-प्रतिदिन दुःखित, पीड़ित और अवनत होता जायगा। महाभारत में लिखा है:

बहवो यत्र नेतारः सर्वे पंडितमानिनः
सर्वे महत्त्वमिच्छन्ति, तद्राष्ट्रमवसीदति

जिस राष्ट्र में सब व्यक्ति नेता बन बैठते हैं, सबके सब अपने आपको पंडित मानते हैं और सब बड़े बनना चाहते हैं वह राष्ट्र जरूर दुःखी रहेगा। भारत की स्थिति करीब-करीब ऐसी ही हो रही है। इसलिये राष्ट्र की बुराइयों को मिटाने के लिये सत्य, निष्ठा और प्रामाणिकता की अत्यन्त आवश्यकता है। जब तक सत्य, निष्ठा

और प्रामाणिकता जीवन का मूलमन्त्र नहीं बन जाती तब तक मानवता का सूत्र पहचाना जाय यह कभी भी संभव नहीं और राष्ट्र का निर्माण हो जाय यह भी कभी नहीं हो सकता।

उपसंहार

अन्त में मैं यही कहूँगा कि लोग धर्म के नाम से चिढ़ें नहीं। धर्म कल्याण का एकमात्र साधन है। उसके नाम पर फैली हुई बुराइयों को मिटाना आवश्यक है न कि धर्म को। मैं चाहता हूँ कि धर्म और राष्ट्र के वास्तविक स्वरूप और पृथकत्व को समझकर धर्म के मुख्य अंग अहिंसा, सत्य और संतोष की भित्ति पर राष्ट्र के निर्माण के महान् कार्य को सम्पन्न किया जाय। मैं समझता हूँ कि यदि ऐसा हुआ तो राष्ट्र ऊँचा, सुखी, सम्पन्न व विकसित होगा और धर्म का भी वास्तविक रूप निखरेगा तथा उससे जन-जन को एक नई प्रेरणा भी प्राप्त हो सकेगी।

३६ : मोक्ष का अधिकारी कौन ?

जैन-आगमों में रत्नत्रय का वर्णन आता है यानी देव, गुरु और धर्म को जो अपनाता है वह मोक्ष का अधिकारी होता है। देव का मतलब किसी नाम विशेष से नहीं है। हमारे देव अरिहन्त हैं यानी वीतराग हैं, सब कर्म-बन्धनों को तोड़कर मोक्षगामी हुए हैं, स्वतन्त्र हुए हैं। आज स्वतन्त्रता की बातें की जाती हैं। कहा जाता है कि हम स्वतन्त्र हैं। लेकिन वह क्या स्वतन्त्रता कही जा सकती है जिसमें केवल विदेशी सत्ता से मुक्ति मिली हो? सच्ची स्वतन्त्रता, दुर्गुणों की दासता से मुक्ति है। हमारे वीतराग उन सारे दुर्गुणों से मुक्त होकर स्वतन्त्रता के परम स्वरूप को प्राप्त हुए हैं, वे समस्त हमारे आराध्य देव हैं। गुरु-निर्ग्रन्थ हैं यानी वीतराग देव द्वारा प्ररूपित मार्ग पर चलनेवाले हैं। वीतराग देव द्वारा भाषित हमारा धर्म है। यह त्रिवेणीरूप मानव को मोक्ष का अधिकार देनेवाला है। अतः सबको चाहिए कि वे इनकी आराधना में ज्यादा से ज्यादा अग्रसर हों।

खीवेल,
२२ मार्च '५४

४० : धर्म का जीवन में उतारें

यह मानव-जीवन नश्वर है, क्षणिक है। पल भर में इसका विनाश हो सकता है। जो रूप भी हमारे सामने है वह दो मिनट में परिवर्तित हो सकता है, नष्ट हो सकता है, पदार्थ का जो स्वभाव है वह बनना है, परिवर्तित होता है, विनष्ट होता है। इसी तरह से यह मानव-जीवन विनाशशील है। इस मानव-जीवन का महत्त्व मैं क्या बताऊँ ? चौरासी लाख योनियों मे यह सबसे महत्त्वपूर्ण परमात्मपद को प्राप्त देनेवाली योनि है। जैसा कि कहा जाता है—"नर नारायण बनता है, आत्मा से परमात्मा बनता है।" यह चेतना का चरम विकसित रूप है। लेकिन वह तभी होगा जब कि जीवन के प्रत्येक आचरण में धर्म उतरेगा। उस धर्म का चरम रूप मानव को अजरामर बनायेगा, परम शान्ति प्रदान करेगा।

उस धर्म से मेरा मतलब सत्य-अहिंसामय धर्म से है, धर्म के नाम मात्र से नहीं। धर्म पुस्तको मे नहीं है, मन्दिरों, मठों और स्थानकों में नहीं है। जैन लोग कहा करते हैं—हमारा जैन-धर्म बहुत ऊँचा है। उनके आगमों मे गम्भीर व तात्त्विक दार्शनिक विवेचन मिलता है। बात वास्तव में ठीक है लेकिन जब तक आगमो मे भरी ऋषि-वाणी को अपने जीवन में नहीं उतारा, केवल उच्चता के नशे में रहे तो कहना होगा कि आपकी उच्चता केवल कहने मात्र की उच्चता है। सही उच्चता तब होगी जब उस ऋषि-वाणी को जीवन मे उतारा जायगा। इसलिये मैं सबसे कहूँगा कि वे धर्म को अपने जीवन मे ज्यादा से ज्यादा उतारें।

सांडेराव,
२३ मार्च '५४

४१ : धन नहीं, धर्म संग्रह करें

कर्त्तव्यो धर्मसंग्रहः—आज व्यक्ति का दृष्टिकोण गलत बन गया है। वह अपना पहला काम समझता है—धन-संग्रह, जबकि उसका प्रमुख कार्य होना चाहिये—धर्म-संग्रह। आज लोग दुर्गुणों से आत्मा का पतन कर रहे हैं और जब उसका विपाकोदय होता है तब ईश्वर पर दोषारोपण करते हैं। वे अपने आपको नहीं देखते कि वे क्या कर रहे हैं। उनका जीवन कैसा है और वे किस तरह स्वयं का पतन कर रहे हैं। उनका जीवन किधर जा रहा है। उन्हें चाहिए कि वे अपने जीवन को धर्ममय

बनायें। आज का बुद्धिवादी वर्ग धर्म के नाम से चिढ़ता है—धर्म किसका क्या भला करेगा ? वह धर्म जो भाई-भाई को लड़ाता है, जिससे साम्प्रदायिकता फैलती है और जिसके नाम पर नाना प्रकार के पाखण्डों का पोषण हो रहा है ! वास्तव मे ऐसे धर्म से हर किसी को घृणा होगी। लेकिन यदि देखा जाय तो वास्तव में वह धर्म नहीं धर्म के नाम पर स्वार्थी अपने स्वार्थों को सिद्ध कर रहे हैं। धर्म तो इनसे सर्वथा परे की चीज है। धर्म की बुनियाद है मैत्री, बन्धुता। उसमें जाति-पाति, वर्ग-वर्ण का भेद नहीं हो सकता। धर्म है अहिंसा, सत्य, अस्तेय, नम्रता, सहिष्णुता। धर्म है वे प्रवृत्तियाँ जिनसे आत्मा उज्ज्वल होती है और इसके लिए मैं आपको कुछ सूत्र बताना चाहूँगा। वे सूत्र कोई बहुत बड़े त्याग नहीं, मानवता के नियम हैं और हर गृहस्थ को उन्हें अपने जीवन मे उतारना चाहिए।

सुमेरपुर,
२४ मार्च '५४

४२ : संग्रह की घातक प्रवृत्ति

मानव ने अपने हाथों अपनी मानवता खोई है, क्या वह अपनी चिर-विस्मृत आत्मकथा को याद करेगा ? जहाँ व्यक्ति का स्वार्थ सधता है वह सब कुछ करने को तत्पर रहता है, अपने स्वार्थ के सामने किसी को कुछ नहीं समझता। उसमें संग्रह-वृत्ति बहुत ज्यादा बढ़ गई है। एक ओर किसीको खाने को रोटी नहीं मिल रही है तो दूसरी ओर सहस्रों मन अनाज गोदामों मे पड़ा सड़ रहा है। आवश्यकता से अधिक वस्तु का संग्रह न करने की भावना आये तो यह समस्या हल हो सकती है।

मेरे पास कोई आर्थिक-योजना नहीं है और न मेरी दृष्टि में अर्थ की समस्या को कोई खास महत्त्व ही है। आज की मुख्य समस्या है नैतिकता की, मानवता की कमी की। वह जन-जन मे आये। जन-जीवन मे उसका बाहुल्य हो इसी के लिये प्रयास किया जा रहा है।

इसलिए मैं आपसे अपील करूँगा कि ईमानदार बनिये, जीवन में अहिंसा को उतारिये और चारित्रवान बनिये। चारित्र ही उच्चता की कसौटी होनी चाहिये। धार्मिक वही है जिसका चारित्र ऊँचा है। अन्त में मैं कहूँगा—आप सत्य और उसकी भित्ति पर जीवन को उन्नत बनाइये।

शिवगंज,
२५ मार्च '५४

४३ : अणुव्रत बनाम अणुबम

मनुष्य देवता बनना चाहे, इसके पहले वह मानव तो बने। विद्यार्थी ही आगे चलकर गृहस्थावास में प्रवेश करेंगे। वे मानवता को खोयें नहीं। विद्या का मतलब सिर्फ रटना ही नहीं है। आज उसका सही लक्ष्य समझने में भूल की जा रही है। उसमें परीक्षावृत्ति को अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। यही कारण है कि अक्सर पढ़ने-सुनने में आता है कि अमुक छात्र ने परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने के कारण आत्महत्या कर ली। वास्तव मे छात्रो के लिए परीक्षा चिन्ता की चीज नहीं होनी चाहिए, वह तो अध्यापकों की तुला है जिस पर वे विद्यार्थियों को तोल सकें कि उन्होंने इस अवधि में कितनी क्या विद्या पढ़ाई है। पहले इस तरह की परीक्षा नहीं ली जाया करती थी जैसी आज ली जा रही है। उसमे सक्रियता होती थी। विद्यार्थी के चारित्र को महत्त्व दिया जाता था। रटन-विद्या गौण थी।

विद्या का उद्देश्य होना चाहिए जीवन-विकास। विद्या वह है जो बंधन-मुक्ति में सहायक हो। आज का विद्यार्थी संसार के लिये अवलम्बन बने। उनके विचार स्वतन्त्र हों। उनके विचार के नीचे आधार हों—कहनी और करनी समान हों। उनका जीवन मुँह बोला आदर्श हो।

अणुव्रत अणुबम एक काम करते हैं। दोनों का काम है भस्म करना परन्तु उनके परिणाम में बड़ा अन्तर है। अणुबम जीवनोपयोगी चीजों को खत्म कर देता है वहाँ अणुव्रत जीवन मे दुर्गुणो और बुराइयों को मिटाता है। उनके नियमों को अपने जीवन में उतारिये। उन्हें इसलिये कोई न अपनाये कि वे मेरी वाणी हैं, अपितु इसलिये अपनाये कि वे आपके काम के तत्त्व हैं। मैं अपील करूँगा कि आप बिना किसी सम्प्रदाय-भेद के इनका मनन करें और उन्हें जीवन में उतारें।

शिवगंज,
२५ मार्च '५४

४४ : जनसाधारण का आदर्श क्या हो ?

साधु-सन्तों के पास धन-सम्पत्ति नहीं होती फिर भी उनका जीवन पूज्य होता है। इसका एकमात्र कारण है उनका त्याग और आचारशील जीवन। वास्तव में ये तत्त्व जनसाधारण के लिये आवश्यक हैं। यद्यपि जन-साधारण आदर्श के उच्च शिखर तक सरलता से नहीं पहुँच पाते। हाँ, कोई आगे और कोई पीछे, धीरे-धीरे पहुँच पाते

है, फिर भी सब का यह आदर्श अवश्य रहना चाहिये। उनका जीवन आचारहीन न हो, यह हर हालत मे अपेक्षणीय है।

आज देश आजाद है फिर भी यही सुनने में आता है कि जनता का जीवन गिरता जा रहा है। इसका कारण यही है कि आज परदोषदर्शिता अधिक बढ गई है। जहाँ किसी में थोड़ा-सा भी दोष दीखा कि हर कोई व्यक्ति उसे इस तरह देखता है मानो वह हजारों आँखों से देख रहा है। पर जहाँ अपने दोषों को देखने का सवाल आता है, वह आँखें मूँद लेता है। आज औरों की नुक्ताचीनी और काटछाँट करने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है यह देखने की कि मैं क्या कर रहा हूँ। हरएक व्यक्ति यह विचारे कि मेरा जीवन कल जहाँ था वहीं है या कुछ उठा है या गिरा है। यदि जीवन मे अहिंसा और सत्य जैसे तत्त्व आ गये तो फिर चारों ओर प्रेम ही प्रेम और बन्धुता ही बन्धुता का वातावरण खिल उठेगा और उसके सामने जाति-पाँति के भेद-भाव तिरोहित हो जायेंगे, मानवता प्रमुख हो जायेगी।

आबू,
३१ मार्च '५४

४५ : जीवन-सुधार का मार्ग

आप अपने जीवन को देखें कि आप क्या-क्या कर रहे हैं। यदि आप किसी को दुःख देते हैं, या आपका जीवन किसी के लिये कष्टों का कारण बनता है तो समझिये कि आप अपने जीवन के लिये कुछ नहीं कर रहे। यदि आप स्वयं सुखी बनना चाहते हैं तो देखें कि आप किसी के सुख मे बाधक तो नहीं बन रहे हैं, किसी को जीवन उन्नत और विकसित बनाने की प्रेरणा देते हैं या नहीं। यदि इनसे विपरीत प्रवृत्तियाँ होती हैं तो जीवन के लिये कुछ नहीं किया जा रहा। साधारणतया जीवन में बचपन और जवानी मस्तानी है बीत जाया करती है। जब बुढ़ापा आता है तो आँखें खुलती हैं कि अरे! मैंने कुछ नहीं किया। सारी उम्र योंही गँवा दी, धर्म नहीं किया, ध्यान नहीं किया। वैसे तो आज धर्म भी एक बदनाम वस्तु बन गया है क्योंकि धर्म के नाम पर सब कुछ किया जा रहा है। धर्म के नाम पर शोषण, अन्याय, अत्याचार, दंगे और फसाद हुए, और तो और, खूनखराबियाँ तक हुईं। यह सब स्वार्थ से सनी करतूतें देखकर ही लोग कह देते हैं कि आज फिर धर्म की शिक्षा क्यों दी जाती है? पर वास्तव में धर्म हेय दृष्टि से देखे जाने वाली

वस्तु नहीं है। वह जीवन की सम्पत्ति है, जीवन की सफलता है और जीवन को संयत बनाने, जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने का साधन है। धर्म सिर्फ तीर्थ, मन्दिर और सन्तों के इर्द-गिर्द ही रहनेवाली वस्तु नहीं, वह आत्मीय तत्त्व है, हर कहीं हो सकता है। व्यक्ति की यह धारणा नहीं होनी चाहिये कि धर्मस्थान में ही धर्म किया जाय, अपितु उसका दृष्टिकोण यह रहे कि जहाँ धर्म किया जाय वही धर्मस्थान बन जाय। धर्म को जीवन मे उतारिये। सत्य, अहिंसा, क्षमा, महनशीलता ऐसे धर्म-लक्षणों को अपनाइये, इसी में जीवन का सुधार है, उद्धार है।

आबू,
१ अप्रैल '५४

४६ : भारत की आध्यात्मिक संस्कृति

भारतीय संस्कृति और उसमें भी मुख्यतया जैन-संस्कृति अध्यात्म की सस्कृति है। यहाँ त्याग और संयम की महत्ता रही है, भोग और भौतिक सुखों की नहीं। बाह्य उपकरण या सामग्री यहाँ जीवन का माध्यम नहीं। अन्तरतम का परिशोधन ही जीवन का लक्ष्य है। अतः कला आदि साधन केवल कला के प्रदर्शन के लिये हो इसमें सार नहीं; उनसे त्याग, वैराग्य व अध्यात्म की प्रेरणा ली जाय, इसी मे सार है। यद्यपि जड़ स्वयं अपने आप में जड़ है पर यदि आत्म-जागृति की प्रेरणा जीव उससे ले तो वह अध्यात्म-प्रेरणा जीवन के लिये कल्याणकारी है।

देलवाड़ा,
१ अप्रैल '५४

४७ : अध्यापकों का गुरुतर दायित्व

जीवन में सत्य की खोज की जाय और वह सत्य जीवन में उतरे, आचरण में आये। बड़े-बड़े अन्वेषण किये जाते हैं, वे रक्षा के नाम पर किये जाते हैं, पर उनसे काम विध्वंसात्मक किये जाते हैं और यह होड़ रहती है कि उनसे किस तरह अधिक से अधिक विध्वंस किया जाय और उनसे काफी विध्वंस किया भी जा चुका है। आज दुनिया इन विध्वंसों से त्रस्त है। अतः सत्य की खोज की जाय और वह सत्य विचारों में आये, आचार में आये। उससे किसी को दुःख न पहुँचे, किसी के विचारों का हनन न हो और उससे बलात् किसी पर हुकूमत न की जाय। हमारे

ऋषि-महर्षियों ने अपना जीवन इस अन्वेषण में लगाया। उन्होंने जीवन का निर्माण किया और फिर उस पर चलने का लोगों को उपदेश दिया। विद्यार्थी उन उपदेशों पर चलें। वे देश की पूँजी हैं। आज लोग हीरों, पन्नों और पत्थरों को पूँजी समझते हैं। वे बच्चों को, जो कि असली पूँजी हैं, भूल बैठे हैं। वे उन्हे स्कूल भेजते हैं, शायद इसलिये कि वे उन्हें दिनभर तग न करें। वे उनका जीवन बनाने की ओर प्रयत्नशील नहीं रहते और रहे भी तब जब कि उनका स्वयं का जीवन बना हो। ऐसी हालत में अध्यापकों के हाथ में एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। वे उनका जीवन बनाने के लिए सचेष्ट रहें, वे उन्हें सत्पथ पर लायें और उनका भविष्य उज्ज्वल बने, ऐसा प्रयास करें।

आबू,
१ अप्रैल '५४

४८ : धर्म को दैनन्दिन कार्यों में उतारें

साधु-सन्तों का आगमन जहाँ कहीं होता है वह धर्म-जागृति के लिये होता है। वे घुमी हुई बुराइयों को निकाल फेंकने की प्रेरणा देते हैं। फिर सन्त किसी वेष में हों, किसी देश के हो, वास्तव मे यदि वे सन्त हैं, त्यागी हैं तो वन्दनीय हैं, अभिनन्दनीय हैं।

दुनिया का वातावरण विषय और बुराइयों से सना है। मानव जीवों में नीति की जगह अनीति अधिक बढ़ रही है। यद्यपि वे शान्ति चाहते हैं, सुख चाहते हैं, आनन्द चाहते हैं। यदि उनकी यह सही इच्छा हो तो उसे पाने का रास्ता अख्तियार करें। शान्ति कहीं बाहर से नहीं आयेगी। उसका खजाना आपके पास है। पर उसकी चाबी अभी घुमी नहीं। जब चाबी घूमेगी तब शान्ति और सुख का स्रोत बह निकलेगा। यदि आप धर्म के प्रति मजबूत रहेगे तो सुख का द्वार आज नहीं तो कल जरूर खुलेगा। पर खेद है कि लोग धर्म से विमुख होते जा रहे हैं। उनके सामने उसका संकुचित नहीं विकसित और व्यापक रूप आना चाहिए।

धर्म विश्वमैत्री की भव्य भित्ति पर टिका हुआ है। वह अपने बन्धुओं, मित्रों और पड़ोसियों के साथ ही प्रेम करना नहीं सिखाता, वह प्राणिमात्र के प्रति विशुद्ध प्रेम करना सिखाता है। वह सत्य-अहिंसा के मजबूत खम्भों पर टिका आलीशान महल जिसका द्वार प्राणिमात्र के लिए खुला है, जिसमें जाति-पाँति, लिंग, रंग, वर्ग,

वर्ण का भेद नहीं, जिसका पूँजी के साथ गठबन्धन नहीं, ऐसा धर्म जिसमें विशालता है, सहिष्णुता है उसे फिर जन कहें, शाश्वत कहें, चाहे जो कहें वह सबके लिये कल्याणकर है। ऐसे धर्म को आप जीवन में उतारें।

आज के लोग धर्मस्थान में तो धार्मिक बन जाते हैं पर बाजार में बैठकर, सरकारी कुर्सी पर बैठकर वे न मालूम क्या से क्या हो जाते हैं ? वे धर्मस्थान में जितना धार्मिक खयाल रखते हैं वैसा ही खयाल हर समय रखें तो धर्म उनके आचरण में आयेगा। उससे उन्हें शान्ति मिलेगी, सुख मिलेगा।

मण्डार,
४ अप्रैल '५४

४६ : जीवन में आचरण का स्थान

हम भगवान् महावीर के अनुयायी हैं, यह खुशी की बात है। पर भगवान् के अनुयायी होने और खुश होने मात्र से कुछ नहीं होता। अगर जीवन मे उनके आचरणों को नहीं उतारा जाता है। उनके उपदेश, उनकी वाणी जीवन मे उतरती रहनी चाहिए। वह पुस्तकों, पत्रों, मन्दिरों और साध-सन्तों तक ही सीमित न रहकर जन-जन के जीवन में आनी चाहिये और यही खुशी की बात हो सकती है।

दूकान पर बैठनेवाले दूकानदार को रुपया खरा है या खोटा, यह पहचानना आवश्यक है। जो इसे नहीं जानता वह व्यापार नहीं कर सकता। इसी तरह धर्मानुयायी के लिए साधु-सन्तों को, उनके आचार-विचार को जानना आवश्यक है। साधु का वेश वन्दनीय नहीं होता, वन्दनीय हैं उनके आचार, गुण, साधना। साधु पाँच महाव्रत आजीवन इकसार निभाता है। साध हिंसा आदि करता नहीं, करवाता नहीं और अनुमोदन नहीं करता है। वह कार्य जो साधु के लिए पाप होता है श्रावक के लिए धर्म नहीं हो सकता। साधु धर्म-पथ पर जीवन चलाता है, गृहस्थ भी यथाशक्ति उस पथ के पथिक बनें, वह ऐसी प्रेरणा देता रहता है। आप लोगों को ऐसे साधओं के सम्पर्क से लाभ लेना चाहिए।

खिमतगाँव,
७ अप्रैल '५४

५० : आत्म-विकास की अन्तिम सीढ़ी

मानव-जीवन का उद्देश्य है राग-द्वेषादि कषायों को नष्ट कर आत्म-विकास की अन्तिम सीढ़ी (दुःख-दारिद्र से मुक्ति पाकर शाश्वत सुख-शान्ति) को प्राप्त करना ; फिर उस पद को चाहे हरि, हर, ब्रह्मा, अल्लाह, जिन, चाहे जो कुछ कहा जाय ; नाम-भेद के झंझट में नहीं पड़ना चाहिए।

अब देखना यह है कि इस पद को पाने का प्रयास मानव ने किया है क्या ? उसने बाजार में बैठकर झूठा तोल-माप, ब्लैक-बाजार की होगी, सरकारी कुर्सी पर बैठ रिश्वत लेकर उसने घर भरने की कोशिश की होगी पर परमात्मापद पाने के लिए उसने कब-कब और क्या-क्या प्रयत्न किया ? उसे उस ओर प्रवृत्त होना चाहिए और इसके लिए उसे धर्म--सत्य, अहिंसा आदि को जीवन में उतारना होगा। आज 'धर्म' नाम के पीछे अनेक आडम्बर बढ़ रहे हैं और उसके नाम पर पाखण्डों को बढ़ावा मिल रहा है। वह धर्म जो एक असाम्प्रदायिक, असंकीर्ण और सार्वजनिक चीज है, जिसे करने का हरएक को अधिकार है, वही आज जाति-पाँति और सम्प्रदाय-भेद की सीमाओं में सीमित हो गया है। हमें स्पष्ट कहना चाहिए कि वह सीमाओं में बँधने वाली चीज नहीं, वह साधन की चीज है और धर्म आत्म-साधना में रहता है। पर मानव आत्मदर्शन को भूला, अपनी बुराइयों को छोड़ भूल से दूसरों की बुराइयाँ देखने लगा। वह अपने आपको परखे, अपनी बुराइयों को देखे और उन्हें छोड़ता जाय। व्यक्ति-व्यक्ति को बुराइयों से बचाने के लिए अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्त्तन किया गया है। अणुव्रत-योजना में ऐसे नियमों का गठन किया गया है जिनको अपनाने से जीवन के दुर्गुण मिट कर मानवता की प्रतिष्ठा होती है। जिससे जीवन सफल, सार्थक और सात्त्विक बनता है।

धानेरा,
८ अप्रैल '५४

५१ : साधु-सन्तों की सच्ची भेंट

आत्म-विकास की दिशा में प्रवृत्त होनेवाले व्यक्ति का यह भव और परभव दोनों उज्ज्वल है। आत्म-विकास के लिए त्याग आवश्यक है। भारतीय संस्कृति में सदा से इसका बड़ा महत्त्व रहा है और अब भी बहुत कुछ है। दूसरी ओर पाश्चात्य देशों में भौतिकवाद बढ़ा, नास्तिकता फैली, उनकी सदा से यही धारणा रही है कि

यही जिन्दगी सब कुछ है, मरने के बाद कोई जीवन नहीं है, अतः यह भव आराम-पूर्वक बिताना चाहिए और शरीर को हृष्ट-पुष्ट रखने के लिए ऋण करके भी घी पीने मे कोई हर्ज नहीं है।

त्याग का महत्त्व न समझने के कारण हा आज वहाँ से विलासिता बढ़ी, भोग बढ़े, जीवन बेलगाम बना और उसका नैतिक-धरातल दिन पर दिन गिरता चला जा रहा है। आज कितने शराबी शराब के नशे मे सड़कों पर पड़े रहते हैं, न मालूम धुम्रपान के द्वारा कितने रुपयों का धुँआ उड़ा दिया जाता है और धर्म के नाम पर भी, न मालूम, कितनी और क्या-क्या बुराइयाँ फैली हुई है। लोगों में यह धारणा घर कर गई है कि राजा, गुरु और देवता के पास रीते हाथों नहीं जाना चाहिए। पर मैं साफ कह देना चाहता हूँ कि मुझे नहीं चाहिए रुपये-पैसों की आपकी भेंट। यदि आप कुछ भेंट करना ही चाहते हैं तो जीवन की बुराइयाँ सन्तों के चरणों में चढ़ा दीजिए। साधुओं के लिये यही सच्ची भेंट है। आज जीवन दुर्व्यसनों का अड्डा बना है, उसमे अन्याय, शोषण, चोरी, रिश्वतखोरी जैसे एक नहीं अनेकों दुर्गुण भरे पड़े हैं। आप उनको भेंट मे चढ़ा दीजिये। आपका जीवन उन्नत बनेगा और हमारे लिए वह योग्य भेंट होगी। किसी के दुर्गुण को छुड़ा देना, हृदय बदल कर उसे बुराइयों से बचा देना ही सच्चा उपकार है। आप उनसे अपने जीवन को हलका बनाइये।

धानेरा,
९ अप्रैल '५४

५२ : आपको किसी वाद का खतरा नहीं

भारतीय वैज्ञानिकों ने उस तत्त्व का अन्वेषण किया जो जीवन के लिये आवश्यक है। उन्होंने जीवन-निर्माण की शिक्षा दी, जिस कमी के कारण आज नैतिकता गिरती जा रही है, जिसकी कमी के कारण आज धर्म का आवृत्त रूप लोगों के सामने आ रहा है। जिसके कारण लोगों में धर्म के प्रति अरुचि-सी नजर आ रहा है। यदि धर्म का सही रूप लोगों के सामने आता तो कोई कारण नहीं था कि उसके प्रति अरुचि रहती। धर्म वहाँ है जहाँ शुद्ध प्रेम है, अहिंसा है, सत्य है। वह धर्म जिसमे अमीर-गरीब और छूआछूत हो, भला किस काम का हो सकता है? धर्म करने का सबको समान अधिकार होना चाहिये। आज लोग कहते हैं कि बाहर से साम्यवाद

आ रहा है। साम्य तो हमेशा से हमारे अन्दर विद्यमान है। आज लोग घर के इस साम्यवाद को भूलते जा रहे हैं, यही कारण है कि वह बाहर से आ रहा है। यदि *आप सबको समानाधिकार दें तो कोई कारण नहीं कि वह बाहर से आये।* आप अपने हित और सुख-सुविधाओं के लिये दूसरे का हित और सुख-सुविधाएँ कभी न लूटें। यही तो सच्चा साम्यवाद है।

आप धर्म को धर्मस्थान की चीज नहीं, जीवन की चीज बनायें। उसे जीवन के हर क्षण में उतारें, फिर न साम्यवाद का डर रहेगा और न किसी अन्य वाद का ही। मैं सबसे यह अपील करूँगा कि धर्म के सहारे वे अपने जीवन को उठायें।

थराद,
१२ अप्रैल '५४

५३ : विश्वबन्धुत्व का आदर्श अपनायें

मैंने जब से गुजरात में प्रवेश किया है तब से लोग बिना किसी भेद-भाव के मेरे सम्पर्क मे आ मेरे विचार जान रहे है इससे लगता है कि गुजरात के लोगों में अध्यात्म व नैतिकता के प्रति उत्सुकता व जिज्ञासु-भावना है। जैसा कि मैं विभिन्न स्थानों में अपना संदेश देता हुआ आ रहा हूँ, वैसे ही वाव शहर व थराद प्रदेशवासियों से भी आज कहना चाहूँगा—आप सबको विश्वमैत्री एवं विश्वबन्धुत्व के आदर्श को लेकर चलना है। युद्धों और संघर्षों के दावानल से दग्ध मानवता आज कराह रही है। हिंसामय प्रयोगों में उसे त्राण नहीं मिला और न यह कभी मिलने का है। आग से आग बुझ सके यह कभी सम्भव नहीं। उसी तरह हिंसा एवं युद्धों से शान्ति आ सके, मानवता त्राण पा सके, यह त्रिकाल मे भी होने का नहीं। पारस्परिक मैत्री, बन्धुत्व, भ्रातृभाव, सहनशीलता, ये आत्म-विकास के साधन हैं, आज के युग की भी यह ज्वलन्त माँग है। यदि इसे युगीय जनता ने ठुकराया, हिंसा एवं विरोध के ताण्डव नृत्य में अपने को उलझाये रखा, तो मानवता किस दर्जे तक नीचे खिसक जायेगी, कुछ कहते नहीं बनता। आज भी समय है, चेतो, सही पथ का अवलम्बन करो, विध्वंस को छोड़ो, सृजन में अपने आपको लगाओ। वह सृजन चारित्र का हो, नैतिकता का हो, सत्यनिष्ठा का हो।

वाव,
१४ अप्रैल '५४

५४ : अध्यात्म-पथ और नागरिक-जीवन

समय एक ऐसी अनोखी वस्तु है जिसकी कभी पूर्त्ति नहीं की जा सकती। जो समय चला गया वह चला गया, वापस लौटकर कभी नहीं आता। यह विशेषता काल-द्रव्य मे ही है, औरों में नहीं। जैन-दर्शन में छः द्रव्यो का प्रतिपादन किया गया है—धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव, ये पॉच द्रव्य 'अस्तिकाय' हैं और ये क्रमशः गति, स्थिति, आश्रय आदि में सहायक तथा मूर्त्तिवान द्रव्य और चेतन के सूचक हैं। काल नाम का छठा द्रव्य है जो अस्तिकाय नहीं कहलाता और जिसका कार्य परिणमन है। छः द्रव्यों मे जहाँ पॉच द्रव्य स्थायी हैं वहॉ काल द्रव्य अस्थायी (क्षणिक) है। काल मे परिवर्तन नाम की ऐसी अलौकिक शक्ति विद्यमान है जिसके कारण वह पुरातन को नवीन और नवीन को पुरातन में परिणत्त करता हुआ सदा अपना अस्खलित चक्र घुमाता रहता है। आठ वर्ष का बच्चा काल की नित्य-क्रिया-शीलता के कारण ही चन्द वर्षों मे तरुण के रूप मे परिणत हो जाता है और वही काल के प्रभाव से एक दिन वृद्धावस्था का भी आलिंगन कर लेता है। नये वस्त्रो की एक कीमती पोशाक काम में इसलिये नहीं लाई गई कि खराब हो जायगी और उसको एक सन्दूक मे बन्द कर हिफाजत से रख दिया गया। पॉच वर्ष की अवधि समाप्त होने के बाद जब पोशाक को बाहर निकाल कर देखा तो वह कुछ बदला-बदली-सी और पुरानी-पुरानी-सी प्रतीत होती है। ऐसा क्यों ? जब उसको काम मे ही नहीं लिया गया तब इस परिवर्तन का कारण क्या ! ऐसी स्थिति मे सोचने पर यही समाधान सामने आता है कि चाहे मनुष्य ने उसे काम मे लिया ही नहीं फिर भी काल का काम हा यह है कि वह नई वस्तु को पुरानी और पुरानी को नई बनाता रहता है। अतएव काल एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, जिसे समझना परमावश्यक है।

हम प्रतिदिन देखते है कि कोई भी मनुष्य समय पर ही काम करता है। समय के अभाव मे उसकी काम करने की सारी कल्पनाएँ विलीन हो जातीं हैं। मनुष्य समय न होने पर यही कहता देखा जाता है कि क्या करें ! इस काम को करना तो है पर समय नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि समय के अभाव में मनुष्य काम नहीं कर सकता। समय मे कितनी बड़ी ताकत है कि एक कुशल से कुशल और बलवान से बलवान व्यक्ति भी समय की अविद्यमानता मे कुछ नहीं कर सकता।

अतएव व्यावहारिक जीवन में काल-द्रव्य जितना कीमती है उतना दूसरा और कोई दूसरा द्रव्य नहीं।

सदुपयोग और दुरुपयोग

हमने देखा है कि अंग्रेजों में बहुत सी बातों की कमी होते हुए भी वे समय के बड़े पाबन्द थे। जिस समय जो कह दिया उसी समय वे उसे करते थे। भारतवासियों ने उनसे बहुत कुछ सीखा और लिया। उनका वेश लिया, उनका खान-पान लिया, उनकी भाषा ली, मगर उनमें जो विशेषतायें और गुण थे उन्हें बहुत कम लोगों ने ग्रहण किया। कहने का मतलब यह नहीं कि भारत में समय के पाबन्द हैं ही नहीं। हैं, पर बहुत कम। समय की महत्ता प्रकट करते हुए महर्षियों ने कहा है :

जाजा वच्चइ रयणी न सा पडिनियत्तई।
अहम्मं कुणमाणस्स अफला जन्ति राइओ॥

जो जो रात्रियाँ यानी जो जो समय चला जा रहा है वह वापस लौटकर नहीं आयेगा। यहाँ पर सवाल यह नहीं है कि समय चला गया। वह तो जाता ही है। सवाल यहाँ यह है कि समय किस रूप में गया—सफल या निष्फल, पापाचरण में या प्रमाद में। अगर वह सफल गया है तो उसकी कोई चिन्ता नहीं, प्रसन्नता व सन्तोष की बात है। समय का आखिर कुछ न कुछ उपयोग तो होता ही है। अगर उसका सदुपयोग हुआ है तो इससे बढ़कर और क्या हर्ष होगा? हाँ अगर समय निष्फल चला गया है या उसका दुरुपयोग हुआ है तो यह वास्तव में ही दुःख और चिन्ता की बात है। ऐसी अमूल्य निधि को खोने पर किसे खेद नहीं होगा।

मनुष्य और पशु

अब जब ऐसे मनुष्यों की ओर ध्यान जाता है जो समय का वास्तविक मूल्य आँककर भोग-विलास व खेल-कूद आदि सामान्य क्रियाओं में ही समय की सार्थकता समझते हैं, तब ऐसा लगता है कि मनुष्य जान-बूझकर अपनी आँखें मूँदकर कहाँ चला जा रहा है। मौलिक-तत्त्व को अमौलिक और अमौलिक-तत्त्व को मौलिक समझना ही क्या मनुष्य का उद्देश्य बन गया है? क्या भोग-विलास व खान-पान आदि क्रियायें पशु नहीं करता? तब फिर पशु और मनुष्य में क्या अन्तर रहा? भर्तृहरि ने कितना सुन्दर कहा है :

आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च, सामान्यमेतत् पशुभिः नराणां।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि क्रियाएँ क्या मनुष्य क्या पशु, दोनों में समान रूप से होतीं हैं। जिस प्रकार पशु इन क्रियाओं में ही आसक्त बना अपनी जिन्दगी पूरी कर देता है उसी प्रकार अगर मनुष्य भी ऐसा ही करता है तो फिर दोनों में क्या अन्तर हुआ? भर्तृहरिजी कहते हैं—मनुष्य और पशु में परस्पर भिन्नता दिखाने वाला एक ही लक्षण है—विवेक, ज्ञान, धर्म। मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है किन्तु पशु में इन सब बातों का अभाव है। ऐसी स्थिति में मनुष्य अगर अपनी विशेषताओं को भुलाकर पशुता की ओर अग्रसर होता है तो यह उसके लिये महान् खेद का विषय है। अतएव मनुष्य समझे कि पशु की तरह भोग-विलास और खान-पान में ही समय को बर्बाद करना, अपने आपकी महत्ता को कम करना है और अपने को हीन बनाना है। वह दिमागी और चिन्तनशील प्राणी है, अतः वह निश्चय करे कि उसका ध्येय और उसका मार्ग क्या है? उसे कहीं पहुँचना है। ये सवाल मनुष्य के सामने हैं और मनुष्य को इनका समाधान करना है। जीवन का विकास उसका ध्येय है और त्याग, संयम, अहिंसा तथा अपरिग्रह को अपना कर उसे अपने ध्येय को आत्मसात् करना है। ऐसा करनेवाला व्यक्ति ही वास्तव में अपने जीवन और समय को सार्थक तथा सफल बनाने में समर्थ होगा।

नागरिक कौन?

आज नागरिक सम्मेलन है और नागरिकों के कर्तव्य आदि विषयों पर मुझे प्रकाश डालना है। पहले हमें यह सोचना है कि वास्तव में नागरिक कौन होता है? नगर में जन्म लेना और नगर में रहने मात्र को ही नागरिकता की निशानी नहीं माना जा सकता। नागरिक वह होता है जो नागरिकता के कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व को पालता है। नागरिकों में विवेक, चिन्तन, कर्तव्य-निष्ठा एवं मैत्रीभावना का होना अत्यन्त आवश्यक है। उसे प्रत्येक कार्य करते समय यह ध्यान रखना होता है कि उसके द्वारा कोई ऐसा कार्य तो नहीं बन पड़ा है जो दूसरों के कार्य-व्यवहार व मार्ग में बाधा पैदा करनेवाला है; वह कहीं ऐसी स्वार्थ-साधना में तो नहीं फँस पड़ा है जो औरों के लिये अनिष्टकर हो। वह कहीं ऐसा तो नहीं है कि जिससे वह औरों के हृदय में कण्टक की तरह सदा चुभता रहता हो। इस बात के लिये भी एक नागरिक को।

हर समय जागरूक रहना पड़ता है कि जो कुछ वह करता है उसका उसके साथियों व पड़ोसियों आदि पर क्या प्रभाव होगा ? जिस प्रकार वह अपने बुरे परिणामों से बचते रहने की कोशिश करता है उसी प्रकार दूसरों का भी आहत न हो इसके लिये उसे सतत सावधान रहना पड़ता है। चारित्र नागरिकता की कसौटी है। उसके अभाव में सच्चे नागरिक की कल्पना ही नहीं की जा सकती। कहते हुए दुःख होता है कि आज के नागरिक का जीवन वास्तव में नागरिकता से शून्य-सा है। उसमें मैत्री, भाईचारा, अद्वेष-भावना आदि वे सद्गुण कहाँ हैं जो नागरिकता के जीवन-सूत्र हैं ? नागरिको ! भूलो नहीं, चारित्र एवं नैतिकता-शून्य नागरिक नगर के लिये, राष्ट्र के लिये एवं स्वयं अपने लिये भी अभिशाप नहीं तो और क्या है ?

नागरिकों की समस्याएँ

आज नागरिकों के सामने जो समस्याएँ हैं उन पर भी मुझे अपने दृष्टिकोण से प्रकाश डालना है। आज उनके सामने सबसे बड़ी समस्या अर्थ की है। आज का नागरिक अर्थवाद की दुर्दम बेड़ियों में बुरी तरह जकड़ा हुआ है। . अर्थ-अनर्थ का मूल है। यह घोषणा आज से सहस्रों वर्ष पूर्व भारतीय ऋषि-महर्षियों ने आकाश में हाथ फैला कर की। विश्व का इतिहास इस बात का साक्षी है कि अर्थ को लेकर कितने बड़े-बड़े अनर्थकारी संघर्ष हुए। यह सही है कि आज अर्थ का स्वर जितना तेज है उतना संभवतः पहले कभी नही था। एक बात यह भी है कि अर्थ सम्बन्धी मौलिक विचार-धाराओं मे आज का दृष्टिकोण और पहले का दृष्टिकोण मेल नहीं खाता। हाँ, यह माना कि लोक-जीवन मे अर्थ साधन है और उसके बिना काम नहीं चल सकता पर अर्थ को साधन के आसन से उठाकर साध्य के आसन पर बिठा देना सरासर अनुचित एवं अयौक्तिक है। आज अर्थ साधन नहीं रहा ; वह साध्य बन गया है जबकि पहले वह साधन मात्र समझा जाता था। यही आज और पहले के अर्थ सम्बन्धी दृष्टिकोण मे अन्तर है। यही कारण है कि आज अर्थ को साध्य समझने के कारण सबकी दृष्टि उसी पर लगी हुई है। परिणामतः आज चारित्र और नैतिकता का इतना पतन हो गया कि कौड़ी भर के स्वार्थ के लिये एक भाई अपने दूसरे भाई के खून से अपने हाथ रँगते नहीं सकुचाता। क्या इससे अर्थ की अनर्थता सिद्ध नहीं होती है ? क्या यह चारित्रहीनता और अनैतिकता की पराकाष्ठा नहीं है ? आज राजनैतिक दृष्टि से भारतीय जनता स्वतन्त्र है पर अर्थवाद की गुलामी उतार

फेंकना अब भी बाकी है। जब तक अर्थ की गुलामी से इन्सान का गला नहीं छूटेगा, तब तक हजार कोशिशें करने पर भी उसे शान्ति और राहत नहीं मिल सकेगी।

आर्थिक-वैषम्य

आज की इस मुख्य समस्या के भीतर और अधिक घुसें तो कहना होगा कि आज का जन-मानस आर्थिक-वैषम्य को सहन नहीं करता। अमीर और गरीब, पूँजीपति और मजदूर इस प्रकार की भिन्न-भिन्न श्रेणियों को मिटाकर सबको एक श्रेणी में आबद्ध करने के लिये आज क्या आन्दोलन नहीं चल रहे हैं ? अर्थ की समस्या कहने का यह अर्थ नहीं है कि आज अर्थ या अन्न व वस्त्र की कमी है। वह इसलिये है कि एक मनुष्य आवश्यकता से अधिक संग्रह किये हुए है जिसका दुष्परिणाम दूसरों को भोगना पड़ता है। अन्न और वस्त्र के सम्बन्ध मे भी यही स्थिति है। एक ओर जहाँ लोग दाने-दाने के लिये मुँहताज और तन ढाँकने के लिये कपड़ों का भयङ्कर अभाव अनुभव करते हैं वहाँ दूसरी ओर व्यापारियों के बड़े-बड़े गोदामों मे सहस्रों मन अन्न और कपड़े की सहस्रों गाँठें सड़ और गल रहीं हैं। यह स्थिति वास्तव में मानव-मानव मे परस्पर इर्ष्या, द्वेष, अविश्वास, कलह और संघर्ष को पैदा करनेवाली है। इसकी विद्यमानता मे मानव-समाज का एक दूसरे के नजदीक आना सम्भव नहीं। आज की यह स्थिति है इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

प्रश्न हो सकता है कि ऐसी स्थिति बनने का कारण क्या है ? मैं साफ कहूँगा कि उसका कारण अर्थ से अधिक मोह और त्याग से विराग है। जब अर्थपतियों का आदर और सम्मान होगा तथा त्यागियों की उपेक्षा होगी तब क्यो अर्थ से मोह छूटेगा और क्यों न फिर अर्थ की समस्या खड़ी होगी ? इस समस्या का चिरस्थायी हल अपरिग्रह के सिवाय दूसरा कोई नहीं। अपरिग्रह त्याग का प्रतीक है। अपरिग्रह की भावना का विस्तार होने से त्याग की शक्ति को बल मिलेगा और तब अर्थाधिपतियो की जगह त्यागियों का महत्त्व बढ़ेगा। उनकी ओर लोगों का झुकाव होगा। त्याग उनका केन्द्र-बिन्दु बनेगा। अर्थ की लालसा के बादल छिन्न-भिन्न होते नजर आयेंगे, न कोई शोषक रहेगा और न किसी का शोषण होगा, अर्थ पर दृष्टि केन्द्रित न होकर त्याग और अपरिग्रह पर होगी। अनावश्यक अर्थ किसी के पास इकट्ठा नहीं रहेगा। उसका बहाव होगा। जिनके पास आजीविका के साधनों की कमी है उनको साधन मिलेगा। इस प्रक्रिया में मुख्य स्थान और मुख्य विशेषता

अपरिग्रह और त्याग की है। उनके विस्तार की ही कामना है। साथ-साथ प्रसंगोपात गौण रूप से अर्थ की भी समस्या सुलझती है। उसका भी हल मिलता है! जहाँ आज अर्थ-समीकरण की अन्य प्रक्रियाओं में हिंसा, क्रूरता, छीना-झपटी, खून-खराबी, आतंक इत्यादि के उन्नयन और फैलाव की पूरी-पूरी सम्भावनाएँ बनी रहतीं हैं, वहाँ इस अध्यात्ममूलक प्रक्रिया में इन सबकी कोई सम्भावना नहीं। प्रत्युत उसमें तो सद्भावना, नियन्त्रण, निर्भयता, अहिंसा, शान्ति, सन्तोष आदि के विकास और प्रसार के आसार भरे रहते हैं।

त्याग की महत्ता

त्याग की महत्ता का वर्णन करते हुए मुझे देहली-प्रवास की एक घटना याद हो आती है। एक दिन कुछ पुरुषार्थी भाई इकट्ठे होकर मेरे पास आये। नमस्कारोपरान्त वे दीन-मुख होकर कहने लगे—"महाराज! हम बडे दुःखी हैं, हमारी करोड़ों की सम्पत्ति पाकिस्तान में रह गई, हम दर-दर के भिखारी हो गये। आज हमें कुशल-क्षेम पूछनेवाला कोई नहीं है।" मैंने उन्हे सान्त्वना देते हुए कहा—"बन्धुओ! हिम्मत रखो, आप इस तरह घबड़ा क्यों रहे हैं? घबराइये नहीं, हमारी और आपकी दशा एक समान है। मकान, जेवर, जायदाद आदि आपके पास भी नहीं हैं और हमारे पास भी नही हैं। थोड़ा जो अन्तर है वह यह है कि आप माग कर खाते हैं फिर भी आप दुःखी है और हम सुखी हैं। वास्तव मे जो अन्तर है वह यह है कि मकान आदि आपके पास से जबरदस्ती लूट लिये गये हैं और हमने जानबूझकर छोड़ दिये है। यह वैसी ही बात हुई जैसा कि एक गरीब ब्राह्मण राजा का स्तवन करते हुए कहता है :—

अहं च त्वं च राजेन्द्र लोकनाथावुभावपि।
बहुव्रीहिरहं राजन् षष्ठी-तत्पुरुषो भवान्॥

"राजन्! आप और मैं दोनों समान हैं, दोनों लोकनाथ हैं।" यह सुनते ही राजा क्रुद्ध हो गया। उसने अपनी लाल आँखें दिखाते हुए पूछा—"यह कैसे?" संक्षेप मे ब्राह्मण ने उत्तर दिया—'समास से'। राजा इतने से समझा नहीं, तब ब्राह्मण को स्पष्टीकरण करना पड़ा—"राजन्! आप तत्पुरुष समास से लोकनाथ हैं और मैं बहुव्रीहि समास से। आप 'लोकनाथ' हैं अर्थात् लोगों के नाथ हैं इसलिये लोकनाथ कहलाते हैं और मैं-"**लोक नाथाः यस्य सः लोकनाथः**"—लोग हैं नाथ जिसके

इस अर्थ में लोकनाथ कहलाता हूँ, अतएव 'आप' और 'मैं' समान हूँ। अन्तर सिर्फ यही है कि आप तो लोगों के नाथ हैं और मेरा सारा लोक ही नाथ है।"

इसी तरह पुरुषार्थियों से मैंने कहा—आप और हममें सिर्फ इतना ही अन्तर है कि आपके सब कुछ बलात् छूट गये हैं और हमने वैराग्य से छोड़ दिये हैं। यही आपके लिए दुःख का कारण है और हमारे लिये सुख का। आखिर आप सोचें, आत्म पुरुषार्थ आपके जीवन का वास्तविक रहस्य है। पुरुषार्थ को प्रधान मानकर आपकी प्रत्येक क्रिया होती है। तब फिर आप बीती बातों के लिए इस तरह घबराते क्यों हैं? दीन क्यों बनते है? यह कैसा आपका पुरुषार्थ? विश्वास रखिये, मनुष्य जीवन मे ऐसी स्थितियाँ आती ही रहतीं है। आज जो कंगाल दीखते हैं कल वे ही धनकुबेर बन सकते हैं और आज जो धनकुबेर दीखते हैं कल वे कंगाल बन सकते हैं। इसपर रंज, अफसोस और वेदना कैसी? आप पुरुषार्थवादियों के लिये ऐसा करना हास्यास्पद है। पुरुषार्थियों को मेरी इस सान्त्वना से अवश्य कुछ न कुछ राहत मिली। उन्होंने त्याग के रहस्य को पहचाना और यह समझा कि बलात् त्याग और वास्तविक त्याग मे कितना अन्तर है। किसी वस्तु को छीनकर एक व्यक्ति को त्याग के लिए विवश कर देना और स्वयं किसी वस्तु का त्याग कर देना इन दोनो बातों मे कितना अन्तर है। एक मे जहाँ घोर अशान्ति, दुःख, खेद और असंतोष की ज्वालाएँ फूटती रहतीं हैं वहाँ दूसरे मे महान् शान्ति, सुख और सन्तोष की शीतल लहरें उठती रहतीं हैं।

त्याग का महत्त्व है न कि अर्थ का

यह आज करामल की तरह स्पष्ट है कि चारों ओर से जनसाधारण शोषण का भारी शिकार बना हुआ है। मेरी बात से कोई नाराज हो, इसका मुझे कोई भय नहीं। मै भयातीत हूं। भय उसे होता है जिसका किसी वर्ग, जाति या व्यक्ति से गठबन्धन होता है। मैं इन सबसे अतीत हूं। मुझे किसी के पास जाकर हाथ नहीं फैलाना है और न मुझे किसी से कुछ लेने की आकाक्षा है। जिस किसी वर्ग मे जो-जो बुराइयाँ हैं बिना किसी व्यक्तिगत चर्चा के उन पर प्रकाश डालने मे मुझे कोई संकोच नहीं होता। आज देश मे दो वर्ग प्रमुख माने जाते हैं—एक राज-कर्मचारी-वर्ग और दूसरा व्यापारी-वर्ग। ये दोनो वर्ग आज दो महारोगों से पीड़ित हैं। राज-कर्मचारी-वर्ग रिश्वत के भयंकर राजरोग से पीड़ित है तो व्यापारी-वर्ग ब्लैक के भयानक प्लेग रोग से पीड़ित है। ये रोग इतने असाध्य हुए जा रहे हैं कि जिनकी

चिकित्सा आज अत्यन्त कठिन हो रही है। रिश्वत और ब्लैक करनेवाले अपनी वकालत करते हुए अनेक युक्तियाँ प्रस्तुत किया करते हैं मगर वे सब निष्प्रयोजन है। उनका कोई मूल्य नहीं! वास्तव में उनकी आदतें ही इतनी खराब पड़ गई हैं कि जिनके कारण वे इन बुराइयों से मुक्त नहीं हो सकते। जीवन में सादगी को प्रश्रय दिये बिना उनकी आदतों मे सुधार होना संभव नहीं। वे समझें, त्यागी ऋषि-महर्षियों की तत्त्वगर्भित वाणी को वे याद करें। उन्होंने—**"धिगर्थं दुःखभाजनम्"** कहकर अर्थलुब्ध मानव के अन्तर-नयनों को खोलने का प्रयत्न किया है। मानव की अन्त-र्वृत्तियाँ आज अपने मार्ग से भटक गई हैं। उनको मार्ग पर लाने के लिये यह आवश्यक है कि मानव यह समझे कि अर्थ ही सब कुछ नहीं है, सब कुछ है परमार्थ। अर्थ तो अनर्थ का मूल है। यदि मानव की दृष्टि सही रहे तो समस्यायें बनने ही न पायें। जबतक दृष्टि अर्थ पर केन्द्रित रहेगी, तबतक समस्यायें हल नहीं होंगी। अर्थ तो सिर्फ रोग का इलाज है। भूख लगती है रोटी खानी पड़ती है। अतएव रोग के इलाज के लिये अर्थ भी संचय करना पड़ता है। इस तरह अर्थ न तो साध्य रहता है और न आदर्श। वह तो साधन मात्र है। मुख्य साधन भी नहीं, साधन भी नहीं, साधन का साधन है। मनुष्य-जीवन का आदर्श और साध्य त्याग है। त्याग का महत्त्व है न कि अर्थ का। त्याग के स्थान पर अर्थ को महत्त्व देने से बड़ी-बड़ी उलझनें पैदा होतीं हैं। त्याग को विकसित करने के लिये सर्वप्रथम अहिंसा के द्वार खटखटाने होंगे।

कुछ लोगो का विश्वास अहिंसा की शक्ति पर नहीं होता। वे हिंसा की शक्ति के उपासक होते हैं। हिंसा के द्वारा वे समाज व राज्य के नव-निर्माण का स्वप्न देखा करते हैं। यह अपनी-अपनी समझ है। यह सम्भव नहीं कि सब एकमत और एक ही विचारधारा रखनेवाले हो। मुझे हिंसा में तिल भर भी विश्वास नहीं। हिंसा के द्वारा बलात् मनुष्य को वश कर उसकी गति को मोड़ा जाता है। वहाँ हृदय-परिवर्तन का इतना ख्याल नहीं रखा जाता। हृदय-परिवतन के अभाव में बलात् हुआ कोई भी कार्य चिरस्थायी हो सके, ऐसा बहुत कम सभव है। यहीं आकर अहिंसा की विशेषताओ का अनुभव होता है। वह जबरदस्ती कुछ भी करना अनु-पादेय समझती है। वह मनुष्य के हृदय का परिवर्तन करती है। हिंसा आग बर-साती है और अहिंसा शीतल जल, हिंसा बैर-बिरोध का उन्नयन करती है और

अहिंसा प्रेम, वात्सल्य तथा सौहार्द्र का। मेरा दृढ़ विश्वास है कि मानव को जब मानव बनना होगा तब उसको अहिंसा तथा त्याग का आश्रय लेना ही होगा।

त्याग और भोग

त्याग की शिक्षा लेने के लिये हमें कहीं बाहर की ओर झाँकना नहीं होगा। वह भारत के चप्पे-चप्पे मे भरी पड़ी है। त्याग और भोग जीवन के दो पहलू होते हैं। मुख्य पक्ष त्याग है, भोग गौण और नगण्य है। त्याग को मुख्यता और भोग को तिलाँजलि देने से ही व्यक्ति, समाज और राज्य की समस्त व्यवस्थायें सुन्दर रूप से संचालित हो सकती हैं। त्याग की परम्परा अक्षुण्ण रहने से ही जीवन की विषम व गहन खाइयो को पाटा जा सकता है। भोग और हिंसा के हिमायती सच्चे नागरिक त्याग और अहिंसा पर चलनेवाले होते हैं। भोग पर चलनेवाले मनुष्य आगे चल-कर बुरी तरह पछताते है। उनकी क्रमशः दुर्दशा होती रहती है। भगवद्गीता में कहा है :—

ध्यायतो विषयान् पुन्सः सङ्गस्तेषूपजायते
सगात् सजायते काम·, कामात् क्रोधोभिजायते
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।

भोगों का ध्यान विषयो मे लगा रहता है। विषयासक्त पुरुष विषयों का संग करने के लिये दौड़ता है। विषयो का संग होने पर कामोत्पत्ति होती है, कामोत्पत्ति से क्रोध पैदा होता है, क्रोध से सम्मोह, सम्मोह से स्मृति-विभ्रम और स्मृति-विभ्रम से सद्बुद्धि का विनाश होने पर पुरुष नाश को प्राप्त हो जाता है। इस तरह भोग पुरुष को एक-एक सीढी गिराता-गिराता आखिर उसका सर्वनाश करके ही दम लेता है। अन्तर्वृत्तियो पर अंकुश लगाये बिना मनुष्य भोग की उद्दाम लालसा पर विजय नहीं पा सकता। सच्चा स्वाधीन कहलाने का अधिकारी वही है जो नियमानुवर्ती रहता है। जो आत्म-नियमों से नियमित नहीं होता वह आजाद कहाँ? गुलाम है। सच्चा नागरिक वही है जो अपने पर नियन्त्रण और अंकुश रखता है।

अणुव्रतों पर ध्यान दीजिये

अन्त मे, मैं नागरिको से यही अनुरोध करूँगा कि वे नागरिकता की कसौटी स्वरूप अणुव्रत-योजना का अनुशीलन कर अर्थ की दासता से अपने आपको मुक्त करते हुए

नैतिकता, सदाचार एवं चारित्र को अपना आदर्श बनायें तथा आकाश के समान असीम लालसाओं को समेट कर सन्तोष एवं त्याग के मार्ग पर आगे बढ़ें।

५५ : भगवान् महावीर का आदर्श जीवन

भगवान् महावीर का जीवन तीन अवस्थाओं में विभक्त किया जा सकता है—गृहस्थ-जीवन, मुनि-जीवन और कैवल्य-जीवन। उन्होंने तीस वर्ष गृहस्थावास में, साढ़े बारह वर्ष मुनि-अवस्था में और लगभग तीस वर्ष तीर्थंकर-अवस्था में व्यतीत किया। गृहस्थावस्था में जहाँ उन्होंने संसार को गृहस्थोचित शिक्षाएँ दी वहाँ कैवल्य-जीवन में आत्म-कल्याणकारी उपदेश दिये।

प्रथम साधना-काल आपने मौन रहकर बिताया। शरीर को एक तरह से विसरा दिया। इसे जीवित-समाधि कहा जा सकता है। जीते जी चाहे जितने कष्ट आयें उनकी बिल्कुल परवाह नहीं करना मामूली बात नहीं है। कीड़ियों ने उन्हें खाया, चूहों ने उन्हें काटा, साँपों ने उन्हें डँसा, देवताओं और मनुष्यों ने उन्हें उपसर्ग दिया फिर भी उन्होंने उनकी कोई परवाह नहीं की और सबको समभाव से सहा। इस तरह साढ़े बारह वर्ष की साधना के बाद वे सर्वज्ञ बने।

भगवान् ने अपने उपदेशों में कहा—**"संसार के सभी प्राणी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। ऐसी हालत में बड़ों के लिए छोटों को मारना उनके प्रति अन्याय है। मनुष्यों के लिए, असहाय और मूक पशुओं को मारना उनके प्रति निरा अत्याचार है। जहाँ मनुष्य, मनुष्य-समाज में बड़ा है वहाँ पशुओं में पशु बड़ा है। उनके प्रति ऐसा क्रूर व्यवहार नहीं किया जाना चाहिए।"**

"किसी को दुःख मत दो, किसी को सताओ मत। किसी को कष्ट देना पाप है, अपराध है।" लोग कह सकते हैं—फिर गृहस्थ का काम कैसे चलेगा? यह दूसरी बात है। यदि आप पूर्णरूपेण उस पर नहीं चल सकते, यदि महाव्रती नहीं बन सकते तो अणुव्रती ही बनें—निरपराध प्राणी को तो न मारें, आक्रान्ता तो न बनें। यदि यह सिद्धान्त जन-जीवन में उतर जाय तो मैं समझता हूँ कि किसी तरह का झगड़ा-फसाद नहीं रहेगा। यदि तुम किसी को कष्ट नहीं दोगे तो सम्भव है तुम्हें भी कोई कष्ट नहीं देगा।

भगवान् महावीर ने फरमाया—**"गृहस्थावस्था में हिंसा होती है, झूठ भी बोलना पड़ जाता है। न चाहने पर भी बुरा कार्य करना पड़ जाता है। पर बुरे को बुरा**

समझो, उसे अच्छा मत कहो। अच्छे और बुरे को एक मत कर दो। आप त्याग करते है यह अच्छा है। पर उसके साथ रखे जाने वाले आगार (छूट) को धर्म मत समझो। वह तो लोभ है। तुम्हारी कमजोरी से करना पड़ता है फिर वह धर्म कैसा ?

धर्म का द्वार सबके लिए खुला है। उसमें पुरुष-स्त्री, महाजन-हरिजन, सेठ-नौकर, पूँजीपति-श्रमिक का भेद नहीं हो सकता। हाँ, यद्यपि आज जैन-प्रचारकों का प्रचार-क्षेत्र व्यापारी-वर्ग तक ही सीमित रह गया है यदि वे अन्य लोगों पर भी ध्यान देते तो शीघ्र समझ सकते। आज धनवान की अपेक्षा गरीब आदमी धर्म को जल्दी और आसानी से समझ सकता है।

भगवान् ने तो सबके योग्य कथन कहे, आप उनको जीवन मे उतारें। उनके द्वारा बताये गये अहिंसा, त्याग और अपरिग्रह जैसे सिद्धान्तों के सहारे जीवन को ऊँचा उठायें और व्यक्ति-व्यक्ति उनसे लाभ उठा सके, ऐसा प्रयास करें।

वाव,
१६ अप्रैल '५९

५६ : दानवता की जगह मानवता

मानव-जीवन मे घुसी हुई बुराइयों को मिटाकर दानवता की जगह मानवता को प्रतिष्ठापित करने के लिए ही अणुव्रती-संघ की स्थापना की गई है। व्यक्ति सोच-समझ कर अपने आपको पहचाने—"मैं कौन हूँ ? मरना है या नहीं ? अजरामर तो नहीं रहना है। आज तक जितने पैदा हुए सबको मरना पड़ा, इसको आप भूलिये नहीं। इतना समझने के बाद जीवन को ऊँचा उठाने का प्रयास आप कल पर मत छोड़िये। कल कल मे न मालूम कब काल आ जाय ! व्यक्ति दो कालों के बीच मे जीता है। एक बीता और दूसरा आने वाला। एक काल जाता है तो दूसरा आने को तैयार रहता है। ऐसी हालत में उससे निश्चिन्त नहीं रहना चाहिए। जीवन-उत्थान के कार्य में लग जाना चाहिए।

मैं आपको आह्वान करता हूँ कि आप बिना किसी विलम्ब के, बिना किसी भेद-भाव के, जीवन-उत्थान के कार्य मे आगे बढ़ना शुरू कर दें।

वाव,
१७ अप्रैल '५४

५७ : मोक्ष-मार्ग का सोपान

मानव यदि कुछ करना चाहता है तो पहले वह ज्ञानोपार्जन करे। ज्ञान प्रकाश है। उसके सामने अज्ञान रूपी तिमिर ठहर नहीं सकता। अज्ञानी कुछ कर नहीं सकता। अज्ञान अँधेरा है, अन्तर का अँधेरा ऐसा अँधेरा है जहाँ सूर्य की किरणें भी पहुँच नहीं पातीं। वहाँ तो सिर्फ ज्ञान रूपी सूर्य की किरणें ही पहुँच सकती हैं।

आज व्यक्ति पैसे को परमात्मा के समान समझता है। इसका कारण अज्ञान ही तो है। पैसे को भी महत्त्व कैसे न मिले जब उसमें व्यक्ति की पूछ है, प्रतिष्ठा है। फिर भला पैसे को पाने की आशा क्यों न बढे? यह आशा नदी के समान है, मनोरथ उसका जल है, तृषा रूपी लहरें हैं, वितर्क रूपी जल-जन्तु हैं, मोह रूपी भँवर हैं, जिसके चिन्ता रूपी तट हैं। ऐसी आशा रूपी नदी में कल्पनाएँ लगानेवाले व्यक्ति का धैर्य टूट जाता है। वह आशा की आशा में निराश हो जाता है। माना कि पैसे बिना काम नहीं चलता, पर उसे इतना महत्त्व क्यों? यह सब अज्ञान का प्रताप है। व्यक्ति जब सद्गुरु से ज्ञानार्जन करेगा, उसमें ज्ञान का प्रकाश होगा तब उसे सही रास्ता मिलेगा और फलस्वरूप वह त्याग और चारित्र को महत्त्व देगा। आपलोगों को भी चाहिए कि जीवन में सम्यग्-ज्ञान को स्थान दें और उसके सहारे जीवन को परखें। ज्ञान ही सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान, और सम्यक्-चारित्र रूपी मोक्ष-मार्ग की पहली सीढ़ी है।

वाव,
२१ अप्रैल '५४

५८ : धर्म की परिभाषा

अपने आपको पहचानने का तरीका धर्म है। लोग कहेंगे—"हम धर्म भूले थोड़े ही हैं। समय पर भोजन करते हैं, नहाते हैं अन्य सब काम करते हैं।" पर इनके सिवाय भी आप कुछ और भी करते हैं—पाँच पैसे के लिए कुछ भी करते हिच-किचाते नहीं, रुपये के लिए खुद बिक जाते हैं—वोट बेच देंगे, झूठी गवाही दे देंगे, ये सब इस बात के प्रतीक हैं कि आप अपने आपको भूलते हैं अन्यथा ये मानवता से परे की प्रवृत्तियाँ आप करते नहीं।

धर्म वह है जिसके स्मरण मात्र से शांति मिलती है। वह धर्म नहीं जिससे कलह

होता हो, कदाग्रह होता हो। सच्चा धर्म वह है जो जीवन में उतरा हो। जो धर्म जीवन में नहीं उतरता वह वास्तव में सच्चा धर्म ही नहीं। सच्चा धर्म सिर्फ दुहाइयों तक ही सीमित नहीं रहता। आप अपने को अहिंसा के पुजारी समझते हैं। इसका मतलब इतना ही नहीं होना चाहिए कि आप हाथ से तलवार नहीं चलाते, शिकार नहीं करते, पानी छानकर पीते हैं। पर साथ ही साथ यह याद रखना चाहिये कि जब बाजार मे बैठकर आप कलम चलाते हैं तो वह कलम तलवार का काम न करे। इसी तरह की प्रवृत्तियाँ हर क्षेत्र मे कार्य करनेवालों मे पाई जाती हैं। आप प्रगतिशील अहिंसक हैं तो इन्हें छोड़ दीजिए, बुराइयों से आत्मा कलुषित बनती है। वह मंदिर, तीर्थ और साधु-चरण के स्पर्शमात्र से उज्ज्वल नहीं बनती। उसे धोने के लिये संयम रूपी जल चाहिए। जीवन में सत्य, शील और दया होनी चाहिए। उनसे आत्मा उज्ज्वल बनती है। यही धर्म है।

ऐसा धर्म विश्वबन्धुता का प्रतीक है। उसको लेकर लड़ा जाय, संघर्ष किया जाय, यह तो शर्म की बात है। जैन-धर्म जो कि विश्व को शान्ति का मार्ग दिखा सकने की क्षमता रखता है यदि उसके अनुयायी भी आपस में झगड़ते हैं तो इससे बढ़कर और खेद की बात क्या होगी ? जातीय संघर्ष जैसी चीजें धर्म के नाम पर कभी नहीं होनी चाहिए। धर्म त्याग है, बलिदान है। आप उसे जीवन मे स्थान दीजिये।

वाव,
२२ अप्रैल '५४

५६ : रूढ़िवाद का अन्त हो

जब मैं राजस्थान में था तब सोचता था कि यहाँ के लोग ज्यादातर अशिक्षित हैं, इस कारण इनमें रूढि-प्रधानता है, अन्य प्रदेशों में इतनी रूढ़ि-प्रधानता नहीं होगी। लेकिन यहाँ आकर भी मैंने देखा कि रूढ़ि-प्रधानता कम नहीं है। यद्यपि आज का शिक्षित व बुद्धिवादी वर्ग इस रूढ़िगत साम्प्रदायिक भावना को तोड़ देना चाहता है मगर पुराने युग का प्रवाह जो बह रहा है उसको सहजतया बदल देना आसान नहीं है। प्रवाह में कुछ मुड़ाव आया है—यह खुशी की बात है। फिर भी हमें इससे डरना नहीं है। पुरुषार्थवादियों को इसके लिये सदैव सचेष्ट रहना है और प्रवाह अपनी दिशा बदल ले—ऐसा प्रयास करते रहना है।

आज लोग समाज और राष्ट्र-उत्थान की बातें करते है लेकिन जब तक अपने को नहीं उठाया जायगा, अपना आत्मा का विकास नहीं होगा तबतक समाज और राष्ट्र सुधर जाये यह कभी सम्भव नहीं। व्यक्ति मे जागरण आयेगा, उत्थान की भावना का विकास होगा तो उसके साथ साथ समाज मे भी चेतना आयेगी। व्यक्ति के जागने पर समाज नहीं सोता। जब तक व्यक्ति स्वयं नहीं उठेगा, सुधार व उत्थान की सारी कल्पनाएँ निरर्थक होंगी।

जहाँ जातिवाद की शृङ्खला टूटती जा रही है वहाँ लोगों में अब भी साम्प्रदायिक भावना घर किये हुए है यह चिन्ता का विषय है। दूसरे के प्रति आक्षेप की प्रवृत्ति जारी है—यह उससे भी अधिक चिन्ता का विषय है। लोगों को इनसे परे रहकर युग के अनुसार ज्यादा से ज्यादा सहिष्णु बनना चाहिये। आक्षेप-भावना को छोड़कर जो चीज अच्छी लगे उसे अपनाना चाहिये, यही आप लोगों को मेरी प्रेरणा है।

राधनपुर,
२९ अप्रैल '५४

६० : जीवन-विकास का क्रम

मानव-जीवन विकास की पहली सीढ़ी है। जितना विकास किया जा सकता है वह सब मानव-जीवन मे ही किया जा सकता है। उसके अभाव मे इतना विकास सम्भव नहीं है। नर से नारायण बनने की उक्ति इसी तथ्य पर प्रकाश डालती है; मगर मैं तो इससे आगे बढ़कर कहूँगा कि केवल मानव होने मात्र से किसी का विकास नहीं होता। आगम मे कहा गया है :

माणुस्सं विग्गहं लद्धं सुइ धमस्स दुल्लहा

मनुष्य-जीवन प्राप्त करने के बाद भी श्रुतिधर्म प्रवचन अर्थात् सिद्धान्तो का श्रवण अत्यन्त दुर्लभ है; क्योंकि यदि पास मे पैसे हैं तो जगह-जगह पर सिनेमा, थियेटर, रेडियो आदि के गाने सरलता के साथ सुने जा सकते हैं; देश-परदेश की नित्य नई खबरें भी अखबारों में सुलभतापूर्वक पढ़ी जा सकतीं हैं किन्तु जीवन-शुद्धि और जीवन-जागृति की बातें सुनने को कहाँ मिलतीं हैं? इसीलिये कहा गया है कि मानव-जीवन मिलने पर भी धर्म-श्रुति मिलना अत्यन्त दुर्लभ है।

प्रश्न होगा—इसका क्या कारण है ?

कारण यह है कि सिद्धान्त श्रवण में तीन बातें अपेक्षित होतीं हैं—वक्ता, श्रोता और सिद्धान्त। जहाँ तक सिद्धान्तों का सवाल है यह निर्विवाद है कि चाहे किसी भी मजहब के सिद्धान्त को उठाकर देखा जाय, उनमें जीवन-विकास के लिये काफी सामग्रियाँ संग्रहीत हैं। मगर उन सिद्धान्तों के अनुकूल चलनेवाले कहाँ मिलते हैं ? उन्हीं उपदेष्टाओं का महत्त्व और मूल्य है जो हर बात को अपने जीवन में प्रयुक्त करने के बाद लोगों तक पहुँचाते हैं। यत्र-तत्र-सर्वत्र बातें बनानेवाले और सुननेवाले खूब मिल सकते हैं किन्तु वास्तविक सुनानेवाला और सुननेवाला मिलना मुश्किल है। सुनानेवालों में यदि त्याग और संयम का अभाव है तथा सुननेवालों में जिज्ञासा और विराग का अभाव है तब न तो सुनानेवालों का ही कोई महत्त्व है और न सुननेवालों का ही। आप पूछेंगे, श्रुति का इतना महत्त्व है ? आप जानते हैं, केवल भूमिमात्र से खेती नहीं हो सकती। खेती में अच्छी जमीन, बीज बोनेवाला और अच्छी बारिश की अपेक्षा रहती है। इनमें से किसी एक चीज का भी अभाव होने से अनाज पैदा नहीं हो सकता—घास-फूस भले ही हो। इसी प्रकार सच्चे सुननेवाले, सुनानेवाला और धर्म-प्रवचन का सयोग मिलने से ही मानव-जीवन सफल और सार्थक बन सकता है वरना यह बेकार, निष्फल और निरर्थक है।

जिज्ञासा

श्रवण के पहले जिज्ञासा का होना अत्यन्त आवश्यक है। जिज्ञासा के अभाव में केवल सुनने मात्र से ही कोई उपलब्धि नहीं हो सकती, यही तो ऋषियों ने कहा है—

विविदिषामपि श्रवणमति दुर्लभं धर्मशास्त्रस्य गुरु सन्निधाने।
वितथ विकथादितद्रसाऽवेशतो विविधविक्षेपमलिनेऽविधाने॥

जिज्ञासा होना अति कठिन है—यह बात वास्तव में बड़ी सही कही गई है। हम नई सड़कों से निकलते हैं तब ऐसे अनेक मनुष्य मिलते हैं जो पशुओं से भी बढ़ कर हैं। वे तनिक जिज्ञासा तक भी नहीं करते कि ये कौन हैं ? किस मतलब को लेकर ये साधु बने हैं ? इनमें कोई तथ्य है या नहीं ? वे तो केवल 'ये ढूँढ़िये हैं, ये ढूँढ़िये हैं'—इस प्रकार की निरर्थक बातें करते रहते हैं।

जिज्ञासा होने के बाद सच्चे उपदेष्टाओं का सयोग अति कठिन है। सच्चे उपदेष्टा 'लेना एक न देना दो' का सिद्धान्त रखते हैं। ये क्या उपदेष्टा हैं जो कुछ प्राप्ति की

आशा से कथा कहते हैं ? ऐसे कथा कहनेवाले आज अनेक मिलेंगे जो कथा समाप्त होने पर भेंट की ओर ललचाई आँखों से निहारने लगते हैं। यह कोई कथा है या व्यथा है ? यह वास्तविक कथा या उपदेश नहीं, कथा के नाम पर दुकानदारी, स्वार्थ-पोषण और दम्भचर्या है। कुछ उपदेष्टा व्याख्यान समाप्ति कर लोगों को चंदा देने के लिये प्रेरित करते हैं। वे कहते हैं—"बंधुओ, आपको मालूम होना चाहिये कि अमुक फंड स्थापित किया गया है उसमें आप यथा-सामर्थ्य एक रुपया, दस रुपया अवश्य चंदा दीजिये। यह फंड बड़े परोपकार के लिये स्थापित किया है। आप पैसे में ममता उतारिये अन्यथा यहाँ पर आपका आना बेकार है।" साधुता की ओट में इस प्रकार के अफंड, पाखण्ड और दम्भचर्चा क्या नहीं चलती ? जिस स्थान के लिये 'कौड़ी लगे न पैसा' वाली कहावत का उपयोग किया जाता था वहाँ इस प्रकार चन्दे-चिट्ठे की प्रेरणा देना अत्यन्त निन्दनीय और लज्जास्पद है। साधक का कर्त्तव्य मार्ग बताना है ; लोगों के नैतिक-धरातल को उन्नत करना है, उनको विशुद्ध धार्मिक उपदेश के सिवाय अन्य बहानाबाजियों में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं।

विकास क्रम के मुख्य तीन सूत्र

जीवन-विकास-क्रम के मुख्य तीन सूत्र हैं—श्रवण, श्रद्धा और पराक्रम। जिस प्रकार श्रवण दुर्लभ है उसी प्रकार सुने हुए पर श्रद्धा, विश्वास, दृढ़ता होनी भी अत्यन्त मुश्किल है। घड़ा तैयार होने पर भी जब तक उसको अग्नि में नहीं पकाया जाता तब तक वह जल धारण करने के योग्य नहीं बनता। उस समय उसमें जल डालने पर घड़ा भी फूट पड़ेगा, जल भी बह निकलेगा और वह जल डालनेवाला भी मूर्ख और बेवकूफ कहलायेगा। इसी तरह सुने हुए पर श्रद्धा किये बिना उसमें मजबूती तथा पक्कता नहीं आती। इसलिये श्रद्धाशून्य सुनना विशेष महत्त्व नहीं रखता। श्रद्धा आपको यह नहीं कहती कि आप जो कुछ सुनें उसको आँख मींच कर मान लें। वह तो कहती है—आपको जो सत्य लगे उस पर फिर पक्के श्रद्धालु और मजबूत बन जाइये, तभी सुनना सफल, सार्थक और उपयोगी है।

शक्ति-स्फुरण

तीसरा सूत्र है—पराक्रम, जिसको हम पौरुष, वीर्य, शक्ति-स्फुरण या अनुशीलन भी कहते हैं। आज कमी इसी बात की हो रही है कि अधिकांशतः सुननेवाले और सुनानेवालों में आचरण का अभाव है। अच्छी चीज को समझकर भी वे अपने

आचरणों में उतारने से कतराते हैं, बहानेबाजी करते हैं। घर-घर और जगह-जगह पर आज यही हो रहा है —"कहनेवाले सब, पर करनेवाला कौन ?" यह कमी अत्यन्त चिन्तनीय है कि आज कहनी और करनी में कोई सामंजस्य नहीं रह गया। इसीलिये सायंकालीन भगवद् प्रार्थना में प्रभु से यही याचना की गई है :—

कहनी-करनी इकसार बना, तुलसी तेरा-पथ पायें हम

प्रभु ! हममे ऐसी शक्ति जागृत हो जिससे कि हमारा स्वभाव ही ऐसा बन जाये कि हम जो कुछ कहें वही करें और जो कुछ करें वही कहें। यही वह मार्ग है जिससे आत्मा परमात्मा और नर नारायण बनता है। यही वह कठोर साधना है जिससे मनुष्य अपने चरम लक्ष्य और चरम मंजिल को प्राप्त होता है। इसलिये यह शक्ति-स्फुरण जितना मुश्किल है उतना ही अनुपम और उत्तम फलप्रद है।

वैदिक साहित्य

जीवन-विकास का यह क्रम अन्य दर्शनों में भी प्रतिपादित किया गया है। वैदिक साहित्य में जीवन-विकास-क्रम के चिन्तन, मनन और निदिध्यासन ये तीन सूत्र बताये गये हैं। सुने हुए पर चिन्तन और मनन के साथ-साथ उसको निदिध्यासन यानी अभ्यास में, जीवन में, उतरने पर वैदिक साहत्य भी पूर्ण बल देता है। वह यह नहीं चाहता कि व्यक्ति केवल मनन करके ही रह जाय, वह आगे बढ़े, अभ्यास करे और की हुई बात को अपने जीवन के कण-कण में अभिव्यक्त करे।

सत्संग

जीवन-विकास का यह क्रम कैसे होगा ? कहना होगा, सत्संग के बिना कुछ नहीं है। उसके अभाव मे मनुष्य को जीवन-विकास और जीवन-शुद्धि के लिये प्रबल प्रेरणा मिलनी असम्भव है। सत्संग क्या-क्या नहीं करता, उससे बढ़कर दूसरी कोई चीज नहीं है। भर्तृहरि ने सत्संग की महिमा बताने हुए कितना सुन्दर लिखा है :

जाड्य धियो हरति सिंची वाचि सत्यं, मानोन्नति दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्ति, सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसां॥

सत्संग से बुद्धि की कुण्ठा दूर होती है, सत्य की प्रतिष्ठा होती है, गौरव की वृद्धि होती है, पाप दूर होते हैं, दूर-दूर तक प्रतिष्ठा का संचार होता है। मजे की बात तो यह है कि अकिंचन फकीरों के पास आने से मनुष्य की प्रतिष्ठा फैलती है। हाँ, किसी धनवान, राजा या नेता के पास जाय तो उसकी प्रतिष्ठा फले क्योंकि उनके लिये धन

सम्पत्ति के द्वार खुले हुए हैं। परन्तु अकिंचन फकीरों के पास कौन सी सम्पत्ति है ! यह ठीक है कि साधुओं के पास वैसी सम्पत्ति नहीं है जैसी कि लोग आँका करते हैं, उनकी सम्पत्ति औरों से भिन्न कुछ और ही है। वह है त्याग, संयम और संतोष। ऐसे संतों के पास आने मात्र से अनेक पाप विलीन हो जाते हैं, चित्त प्रसन्न हो उठता है। अपनी आत्मा से पूछिये—आप जब संसार के समस्त बन्धनों को छोड़कर एक घटे के लिये संतों के पास आते हैं तब आपको कितना दिव्य आनन्द और कितनी स्वर्गीय शान्ति का अनुभव होता है। चित्त का प्रसन्न होना, इसका प्रत्यक्ष फल है और चाहे कुछ हो या न हो मगर सत्संगी मनुष्य नुकसान से तो सदा बंचित ही रहता है। यह क्या कोई कम फायदा है ?

सिद्धान्तों में कहा गया है कि सत्संग से १० बातें मिलती हैं, जैसे :—

सवणे नाणेच विन्नाणे पचक्खाणेय संजमे,
अणणहए नवे चेव बोदाणे अकिरिया सिद्धि।

सत्संग से जो पहली बात मिलती है वह श्रवण। वास्तविक संतो के पास आत्म-शुद्धि और आत्म-विकास की ही बातें सुनने को मिलतीं हैं। इसीको लक्षित करके ही तो कहा गया है कि ज्ञान की बातें ही सुनने को मिलतीं हैं। श्रवण से ज्ञान की प्राप्ति होती है और ज्ञान से विज्ञान की। ज्ञान और विज्ञान में क्या अन्तर है ! ज्ञान तो साधारण जनता भी जानती है और विज्ञान उसको कहा जाता है जो अन्वेषण के द्वारा प्रयोग में लाकर बताया जाता है। आज का जमाना विज्ञान का जमाना है। लोग उसी बात को खरी मानते हैं जो विज्ञान की कसौटी पर कसी हुई होती है। विज्ञान कोई आज की देन नहीं है। अहिंसा का सिद्धान्त कितना पुराना है। वह विज्ञान की कसौटी पर कसके दुनयाँ के लिये उपयोगी बनाया गया है। विज्ञान से प्रत्याख्यान होता है। प्रत्याख्यान से मतलब असत् अप्रशस्त प्रवृत्तियों को छोड़ने से है। कौन ऐसा है जो अमृत और विष को समझ कर भी विष ही पीता रहेगा ? प्रत्याख्यान से संयम और संयम से अनाश्रव होता है। संयम से कर्म आने के जो रास्ते हैं बे रुक जाते हैं और रास्ते रुक जाने से आत्मा अनाश्रव बन जाती है। जिस प्रकार नौका के छेद को रोकने से नौका में जल का आगमन रुक जाता है और नौका ठीक हो जाती है उसी प्रकार संयम से आत्मा के द्वार तो अवरुद्ध हो गये किन्तु जो पहले से आत्मा में कर्म इकट्ठे हुए पड़े हैं उनको बाहर निकलने के लिये जो प्रक्रिया प्रयुक्त की जाती

है उसको ही तप कहा जाता है। जिस प्रकार सरोवर को साफ करते समय पहले उसके जल आने के नाले बन्द किये जाते हैं और फिर अन्दर का गन्दा जल निकाला जाता है उसी प्रकार आत्मा को विशुद्ध बनाने के लिये पहले उसको संयम द्वारा अनाश्रव बना कर फिर तप द्वारा उसमें सचित्त कर्म कदम को निकाला जाता है। तप के द्वारा ही अनुपम दान होता है यानी आत्मा प्राचीन कर्मों से मुक्त हो जाती है। इस अवस्था के आने पर आत्मा अक्रिय अर्थात् हिलने-चलने, स्पन्दन करने आदि क्रियाओं से विमुक्त होकर बिल्कुल समाधिस्थ हो जाती है और इसके बाद जो अवस्था प्राप्त होती है वह है : प्राणीमात्र की अन्तिम मंजिल—सिद्धि, मुक्ति या मोक्ष। अथ से लेकर अन्त तक का यह क्रम कितना सुन्दर और कितना वैज्ञानिक है। स्मरण रहे ये सारगर्भित दस बातें सत्संग से ही मिल सकती हैं। सत्संग में आकर ही मनुष्य श्रवण से लेकर मोक्ष तक की सुदूर दुःसाध्य व दुष्प्राप्य मंजिल पर विजय का झण्डा फहरा सकता है किन्तु यह सब होना है—संतों के नजदीक आने से ही। केशिकुमार श्रमण जैसे संतों के निकट आकर महाराज प्रदेशी जैसे घोर पापी भी पावन बन गये, महान् अधम उत्तम बन गये और कट्टर नास्तिक परम आस्तिक बन गये। यदि संतों के निकट आकर उनसे वार्त्तालाप नहीं करते तो क्या ऐसा होना सम्भव था ? सिद्धान्तों में कहा गया—

सुच्चा जाणइ कल्लाणं, सुच्चा जाणइत पावगं।
उभयंपि जाणइ सुच्चा, जमं सेव्यं तं समायरे॥

संतो के पास सुनने से ही पाप और धर्म, न्याय और अन्याय, भलाई और बुराई का ज्ञान होता है।

उपसंहार

यह जीवन विकास का क्रम बताया गया है। लोग इसे अच्छी तरह से समझें, विकास-क्रम के श्रवण, श्रद्धा और पराक्रम इन तीन महत्त्वपूर्ण सूत्रों को सदैव याद रखें। इन सूत्रों के अनुकूल प्रवृत्ति करने से निःसंशय आपकी जिन्दगी सफल व सार्थक बनेगी। इसके साथ साथ यह भी निश्चित है कि यदि आप इन सूत्रों का विपर्यय करेंगे तो आपसे सफलता कोसों दूर भागेगी। इसलिये मैं आपसे यही कहूँगा कि आप जिन्दगी को सफल नहीं बना सकते तो उसको विफल बनाकर पृथ्वी पर भारभूत क्यों बनते हैं ! एक कवि ने क्या ही ठीक कहा है :—

येषां न विद्या न तपो न दानं, न चापि शील न गुणो न धर्मः ।
ते मर्त्यलोके भूवि भारभूताः, मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥

जो मनुष्य विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील और धर्म आदि से बिल्कुल राहत हैं वे मनुष्य नहीं, मनुष्य रूप में पशु हैं और पृथ्वी पर पैदा होकर उसके लिये भारभूत हैं। मनुष्य अपने आपके कर्त्ता-धर्ता हैं। वे जब पृथ्वी के भारभूत बन सकते हैं तो क्या पृथ्वी के शृंगार और आधार नहीं बन सकते? इसपर आप गौर करें। अपने जीवन को उठाने का प्रयास करें। एकबारगी आप संसार की चिन्ता छोड़कर अपने जीवन की चिन्ता करें। यह स्वार्थ नहीं, सही परमार्थ है। जीवन-चिन्ता में ही संसार-चिन्ता समाई हुई है, इसलिये जिन्दगी से जिन्दगी का निर्माण, जागरण, उन्नयन और विकास करने का प्रतिक्षण सद्प्रयत्न करें।

६१ : सम्प्रदायवाद का अन्त

जैन लोगों के सामने अहिंसा की प्रशंसा व उपयोगिता बताते हुए कुछ संकोच-सा होता है फिर भी सच बात है कि जैनों ने अहिंसा के विषय में जितना कहा और लिखा उतना उसे जीवन में नहीं उतारा। कुछ किये बिना कहा जाय यह सुन्दर नहीं लगता। लोग कुछ करके ही कहे, यही इस युग की माग है।

जैन-युवक, अब तक उन्हें जितना प्रचार कार्य में जुटना चाहिये, उतने नहीं जुटे। बुजुर्गों का कहना है कि युवकों में धर्म के प्रति श्रद्धा नहीं है जो कि कुछ अंशो में ठीक भी है किन्तु सर्वांशतः ठीक है—ऐसा नहीं माना जा सकता। उनमें आडम्बर के प्रति घृणा है, धर्म के नाम पर होनेवाली पूँजी के खर्च व आडम्बर के प्रति रोष है—यह धर्म के प्रति अश्रद्धा का सही कारण बन रहा है। वास्तव में धर्म तो सत्य और अहिंसा था, उसे आडम्बर में फँसाना उन्हें कैसे सह्य हो सकता है? मेरा अनुभव तो यह कह रहा है कि उनमें सही धर्म के प्रति सच्ची श्रद्धा है जैसा कि अणुव्रत-आन्दोलन में शरीक युवकों से प्रमाणित है।

आज लोग सम्प्रदाय को खत्म करना चाहते हैं मगर प्रवृत्तियाँ ऐसी कर रहे हैं कि जिनसे सम्प्रदायवाद घटने के बदले और बढ़ता जा रहा है। सम्प्रदाय घटें किन्तु साथ ही सम्प्रदायवाद घटे यह जरूरी है। इसका सही उपाय यही है कि लोग अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रचार करें, आक्षेपात्मक नीति को न अपनायें, इससे सम्प्रदायवाद अपने आप घट जायगा। जैन लोगों पर इस समय विशेष उत्तरदायित्व आता है कि

उन्होंने जिस अमूल्य निधि को प्राप्त किया है वह निधि त्याग की, साधना की निधि है। हमारे तीर्थंकरों और संतों ने अनेक कष्ट झेलकर जिसको कायम रखा है उसे जन-जन तक फैलायें।

माण्डल,
४ मई '५४

६२ : अध्यात्मवाद की प्रतिष्ठा

आज लोगों मे अध्यात्मवाद के प्रति श्रद्धा नहीं है, दृढ़ विश्वास नहीं है। हो भी तो कैसे ? जबकि यह युग भौतिकतामय है। अध्यात्मवाद की प्रेरणा मिले भी तो कैसे ? समाजवाद और साम्यवाद के सिद्धान्त क्या हैं, आदि-आदि बातों की जानकारी स्कूलो, कालेजों मे दी जाती है इसलिये कि वहाँ रोटी का सवाल है मगर अध्यात्मवाद जो जीवन का तत्त्व है उसे हेय दृष्टि से देखा जाता है। यह प्रमुख गलती अध्यात्मवाद का वातावरण बनने मे बाधक बन रही है।

एक दूसरा प्रमुख कारण धर्म का शुद्ध रूप जनता के सामने नहीं आने का है। धर्म स्थानों में पूँजी की प्रतिष्ठा हो रही है, देव-दर्शन पैसे बिना सुलभ नहीं होता, मन्दिर के किवाड़ पैसे बिना नहीं खुलते। वास्तव मे आज उनमे ऊपरी दिखावा तथा आडम्बर अधिक है, अन्दरूनी श्रद्धा कम। अगर इस अभाव की पूर्ति हुई तो पूँजी के स्थान पर त्याग की प्रतिष्ठा होगी, धर्म का सही रूप सामने आयेगा और तभी अध्यात्मवाद का वातावरण फैलेगा।

माण्डल,
४ मई '५४

६३ : त्याग की महत्ता समझें

आज उत्थान का युग है, विकास का जमाना है। रोटी और पानी की व्यवस्था हाथ से करनी पड़े, यह आज विकास की सामान्य रेखा मानी जा रही है। इससे भी ज्यादा विकास प्रलयकारी शस्त्रों के निर्माण को माना जा रहा है। विध्वंसक शस्त्रास्त्र बनाये जा रहे हैं; लेकिन अध्यात्मवादी दृष्टिकोण से वह विकास क्या जो मानवता के नाश के लिये हो ? वह क्या विकास जो मनुष्य को मानवता से दानवता की ओर अग्रसर करता हो ! अगर इसीको विकास कहा जाय तो कहना चाहिये कि भारत में तो ऐसे

विकास की आवश्यकता ही नहीं है। उसे तो अहिंसा के विकास की अपेक्षा है, चारित्र उत्थान की अपेक्षा है और भारत मे सदा से उसीका महत्त्व रहा है। यहाँ के धनिकों और सम्राटों का मस्तक त्यागियों के चरणो में झुका है न कि भोगियों के। लोग त्याग की महत्ता को समझें और उसकी ओर ज्यादा से ज्यादा अग्रसर हों।

विरमगाँव,
५ मई '५४

६४ : सही दृष्टिकोण

यहाँ की जनता ने हमारा हार्दिक अभिनन्दन किया यह उनकी हार्दिक भक्ति का परिचायक है। लोग हँसकर कहेंगे—साधुओं का कैसा स्वागत ? स्वागत तो राजा, महाराजा, नेता या पूँजीपतियों का होता है, लेकिन बात ऐसी ही नही है। भारत की संस्कृति और परम्परा में त्यागी साधुओं का सदा से गौरवमय स्थान रहा है। यहाँ के लोगो के मस्तक सम्राटों के सामने नहीं झुके, भोग और वैभव के पुतलो के सामने नहीं झुके, लेकिन त्यागियों के चरणों पर झुक पड़े। इसी त्याग-मूलक संस्कृति के आधार पर भारत ने अपना अतीत गौरव कायम रखा है। भारतीय जनता की रग-रग मे त्याग की भावना रमी हुई है, अतः लोग त्यागियो का स्वागत करें, इसमें जरा भी आश्चर्य की बात नहीं। परन्तु त्यागियो का स्वागत औरो से भिन्न है। उनका सच्चा स्वागत त्याग के द्वारा करें, यही उनका वास्तविक स्वागत है।

आज तो व्यक्ति का दृष्टिकोण ही गलत बनता जा रहा है। उसे जहाँ व्यक्तिवादी बनना चाहिये था वहाँ वह समाजवादी (बहुवादी) बना और जहाँ समाजवादी बनना था वहाँ व्यक्तिवादी बन गया। अध्यात्म के मार्ग मे जहाँ व्यक्तिवादी बनने की अपेक्षा थी, वहाँ वह समाज-सुधार की भावना ले बैठा और अपने व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को भूल बैठा। लोक-दृष्टि मे जहाँ समाजवादी दृष्टिकोण की अपेक्षा थी वहाँ व्यक्ति-वादी बना क्योंकि वहाँ उसका अपना स्वार्थ सधता था। यह वर्तमान की चिन्ताजनक स्थिति है। इसका उपचार नहीं हुआ तो व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के सुधार मे बहुत बाधायें उत्पन्न होंगी।

धर्म के बारे में भी मैं कुछ कहूं। धर्म आज पूँजी और सत्ताधारियों की तरह चन्द व्यक्तियों का ही रह गया है। इसे पूँजी का बन्दी बनाया गया, जिससे संकीर्णता

की भावना जगी। फलतः धर्म नफरत का विषय बन गया। उसके लिए धर्म खतरे में है, ऐसी आवाज बुलन्द की गई। मेरी दृष्टि मे धर्म कभी भी खतरे में नहीं हो सकता क्योकि जहाँ जीवन में त्याग है, बलिदान है वहाँ धर्म खतरे में हो, कैसे सकता है? अन्य साधु-सन्त भी मठों, मन्दिरों और धामो का मोह छोड़कर सच्चे धर्म के प्रचार मे लगें। यह मेरे अन्तर की पुकार है, जो सुनी जायगी, ऐसा मेरा विश्वास है। गुजरात की भूमि प्राचीन काल मे ऋषियों की भूमि रहा है। यहाँ की जनता अपने अतीत के गौरव को कायम रखेगी, त्याग की प्रेरणा लेगी, यही मेरी हार्दिक भावना है।

अहमदाबाद,
९ मई '५४

६५ : परिवर्तन की मूल भित्ति

जब से 'समाज' नाम की चीज का विकास हुआ, तब से समय-समय पर ये सवाल पैदा होते चले आ रहे हैं कि समाज किस रूप में रहे? उसमें रहनेवाले व्यक्तियों का जीवन कैसा हो? सामाजिक व्यक्तियो का पारस्परिक व्यवहार कैसा हो? सामाजिक जीवन का सन्तोषप्रद सन्तुलन कैसे स्थापित हो? समय-समय पर विशिष्ट महापुरुषो ने अपने-अपने अनुभवों के आधार पर इन प्रश्नों का समाधान दिया है और समाज को सदैव गतिशील रहने की दिशा प्रदान की है। आज संक्रमण-काल है। चारो ओर नाना संस्कृतियो, नाना सभ्यताओं, नाना वादों और नाना आवाजों का एक तुमुल-सा छा रहा है। राजनैतिक व सामाजिक स्थितियों में एक अस्थिरता-सी व्याप्त हो रही है। विभिन्न वर्गों, विभिन्न पन्थों और विभिन्न विचारों में विश्वास रखनेवाले लोग अपनी रुचि, अपने विश्वास और अपने विचारों मे फँसाने के लिए नाना तरीको से लोगो को आकृष्ट कर रहे है। सबके पीछे प्रलोभनों की एक शृंखला-सी जुड़ी हुई है। ऐसे वातावरण में मानव का दिमाग अस्थिर-सा बना हुआ है। उसमे इतना सामर्थ्य नहीं रह गया है कि वह ठण्डे दिमाग से इतना सोच सके कि मुझे अपने-अपने समाज के जीवन-पथ के लिये किस दिशा का अनुगमन करना चाहिए। मैं समझता हूँ, ऐसी स्थिति में 'समाज-परिवर्तन की दिशा' का विषय आज कुछ दृष्टियों से विचारकों व चिन्तकों के लिये अवश्य विचारणीय हो गया है।

आज अधिकाश लोगों का मत समाज को बदलने के लिये लालायित है। समाज

मे जो कुरूढ़ियाँ, अनैतिकताएँ और पापाचार घुस गये हैं उन सबसे समाज की सुरक्षा करने के लिये आज समाज को कौन नहीं बदलना चाहता ? अलग-अलग दिमाग इस परिवर्तन के लिये नाना दिशायें सोच रहे हैं। कुछ दिमाग तो समाज को बदलने के लिये ऐसा धक्का लगाना चाहते हैं कि एक साथ समूचा समाज बदल जाय। मेरी समझ में तो इसका मतलब यही लगता है कि इस प्रकार एक साथ धक्का लगाने से समाज गिर पड़ेगा और उसका ध्वंस हो जायगा। मेरी धारणा इससे भिन्न है। यह मेरी समझ में नहीं आता कि व्यक्ति को बदले बिना समाज बदल जाय। आज लोग समाज में परिवर्तन करना चाहते हैं, उसे बदलना चाहते हैं मगर वे समाज की रीढ़–व्यक्ति की ओर देखते तक नहीं, जिसका सामूहिक रूप ही समाज है। समाज मे परिवर्तन लानेवालों को सबसे पहले व्यक्ति को देखना चाहिये। जबतक व्यक्ति मे परिवर्तन नहीं आयेगा तबतक समाज में परिवर्तन आ जाय यह किसी प्रकार भी संभव नहीं लगता। मान भी ले कि अगर किसी तरह समाज मे एक साथ परिवर्तन आ भी जाय, तो ऐसा परिवर्तन कभी चिरस्थायी नहीं बन सकेगा। कतिपय इंजेक्शनों का प्रयोग रोग को दबाकर जल्दी ही शान्ति देनेवाला होता है और जड़ी-बूटी का प्रयोग बहुत देर से। मगर इंजेक्शनों द्वारा रुका हुआ रोग आगे चलकर वापस बुरी तरह उभड़ता है और कितनी ही नई खराबियाँ उत्पन्न करता है, जबकि जड़ी-बूटी के द्वारा मिटाया हुआ रोग धीरे-धीरे बिल्कुल शान्त हो जाता है और शरीर को स्वस्थ बना देता है। परिणाम दोनों के भिन्न-भिन्न होते हैं। पहले मे जहाँ दुष्परिणाम की कल्पना जुड़ी हुई है वहाँ दूसरे में सुपरिणाम के आसार नजर आते है। यही बात हठात् समाज-परिवर्तन और व्यक्ति-व्यक्ति के माध्यम से समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया पर लागू होती है। व्यक्ति-परिवर्तन के माध्यम से किया गया समाज-परिवर्तन चिरस्थायी होगा और व्यक्ति-परिवर्तन की उपेक्षा कर थोपा गया समाज-परिवर्तन दबे हुए रोग की तरह भविष्य मे अनेक समस्याओं का उत्पादक बनेगा। अतएव व्यक्ति के सुधरे बिना समाज सुधरने की कल्पना नहीं की जा सकती। उपरोक्त मन्तव्य में विश्वास न रखनेवालों की सबसे बड़ी यही शंका उपस्थित होती है कि ऐसे एक-एक व्यक्ति को बदल-बदल कर कोटि-कोटि व्यक्तियों को कबतक बदलेंगे ? हम जो अखिल-समाज-परिवर्तन का स्वप्न अपनी आँखों के सामने साकार हुआ देखना चाहते हैं वहाँ ऐसा मानकर चलने से कैसे, कब और कितनी पीढ़ियों के बाद हम कहीं जाकर सफल बनेगा ? इस तरह कबतक हम अपने स्वप्न को साकार देखने की राह निहारते रहेंगे ? इसका समा-

थान् हमें यों सोचना चाहिये कि हम देखते हैं कि किसी भी कार्य की शुरुआत में बड़ी-बड़ी विपत्तियाँ, बाधाएँ और कठिनाइयाँ खड़ी होती हैं। जितने अवरोध प्रारम्भ में खड़े होते हैं उतने आगे नहीं रहते। प्रारम्भिक स्थिति को धैर्य से पार करने पर आगे का पथ सरलता से पार किया जा सकता है। मुश्किल से अगर एक व्यक्ति बदल गया तो अब जिस कार्य को एक व्यक्ति संचालित करता था अब उसे दो व्यक्ति सम्पादित करेंगे। इस तरह क्रमशः दो से चार और चार से यावत् हजार व्यक्तियों को आसानी से बदलकर इस कार्य में जोड़ा जा सकेगा। जिस कार्य को प्रारम्भ मे एक व्यक्ति, जितने समय मे करनेवाला था अब उतने समय में हजार व्यक्ति एक साथ उसे सम्पादित करेंगे। इस तरह उपरोक्त कार्य-पद्धति दिन-प्रतिदिन अपनी शक्ति को सुसंगठित बनाती हुई क्रमशः बहुत कम समय में समूचे समाज को आमूल-चूल बदल देगी। अतः परिवर्तन की मूल भित्ति व्यक्ति का परिवर्तन है। व्यक्ति का पड़ोस पर, पड़ोस का समाज पर, समाज का राष्ट्र पर और राष्ट्र का विश्व पर असर पड़े बिना कभी नहीं रहेगा। तब व्यक्तिव्यापी परिवर्तन अपने-आप पड़ोसव्यापी बनकर अपनी असाधारण क्षमता का परिचय प्रस्तुत करेगा।

आज मनुष्य मे दो विरोधी दिशायें प्रवाहित हो रही हैं। जहाँ स्वार्थ-सिद्धि का अवसर—सवाल आता है वहाँ मनुष्य एकदम व्यक्तिवादी रहता है। वह सोचता है—मैं सुखी बनूँ, मुझे धन और सुविधायें मिलें, मेरी प्रतिष्ठा हो, मेरा स्वार्थ सधे, इस बीच मे चाहे घरवाले, पड़ोसवाले, समाजवाले और राष्ट्रवाले घन की तरह पिसते चले जायँ, मुझ पर उनका कोई उत्तरदायित्व नहीं। इसके विपरीत, जहाँ सुधार का प्रश्न आता है वहाँ मनुष्य व्यक्तिवादी नहीं रहता। वहाँ वह अपने आपसे सुधार प्रारम्भ नहीं करता। वह चाहता है पहले देश सुधरे, समाज सुधरे और मेरी बारी सबसे पीछे आये। यदि वहाँ वह व्यक्तिवादी बने, अपने आपको पहले सुधारे तो औरों को भी सुधार की दिशा दे सकता है। आज व्यक्ति का आत्मबल विकसित नहीं है, बिना जाग्रत हुए उपदेश टिकते नहीं। अतः आत्मबल का जाग्रत होना आवश्यक है। इसके लिए बुरी वृत्तियों का त्याग किया जाय और अहिंसा का प्रसार किया जाय। व्यक्ति अहिंसा को प्रश्रय दे और वह 'तू' और 'मैं' के भेद-भाव को भूल जाय। यदि समता, मैत्री और एकत्व की भावना बढ़ेगी तो व्यक्ति, समाज और राष्ट्र सभी सुधर जायेंगे। व्यक्ति इसी भावना को लेकर आगे बढ़े।

६६ : शान्ति की ओर

एक ओर मनुष्य क्रूर बनता है, दूसरी ओर शान्ति को पुकारता है। कहना चाहिये यह युग क्रूरता और कोमलता की स्पर्धा का युग है। दुनियाँ एक दिन में होमी जा सकती है, अमुक राष्ट्र इतने घंटों में स्वाहा किया जा सकता है—विज्ञान-परिषद् के मुखियों और युद्ध समिति के नेताओं की ये भविष्यवाणियाँ मानव-समाज को संदिग्ध किये हुए हैं। जो थोड़ा-सा चिन्तनशील है उसके सामने प्रलय का चित्र खिंच रहा है। तीसरे महायुद्ध की कल्पना मनुष्य को झकझोर देती है। सद्बुद्धि जागे, तीसरा महासमर न हो, किन्तु यदि वह छिड़ गया, प्रलयकारी अस्त्रों के मुँह खुल पड़े, तो क्या होगा ? हाय ! मानव-सभ्यता चूर-चूर हो जायेगी। मानव जाति बचेगी ? यह प्रश्न है और यदि वह बच गई तो दीन-हीन और अपंग होगी—यह निश्चित है।

कुछ एक अधिकार-लोलुप व्यक्ति समूचे संसार को खतरे मे डाल रहे हैं—वे प्राणी—जाति के दुश्मन हैं। वे दूसरों को मिटाना जानते हैं, किन्तु यह नहीं जानते कि "दूसरों को मिटा देने पर उनका क्या होगा ?"

एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को मिटाकर स्वस्थ रह सके—यह सभव नहीं। अपेक्षा है—राष्ट्रों का नेता-वर्ग इस तथ्य को ठंडे दिल और दिमाग से सोचे। मानव-समाज को मिटाकर भौतिक-स्वार्थ भी नहीं साधा जा सकता—यह सत्य आँखों से ओझल नहीं होना चाहिये। अहिंसा का राजपथ यह है कि दूसरों के अधिकार हड़पने की वृत्ति न जागे। मनुष्य अपने अधिकारों से बाहर न जाये तभी शान्ति की पुकार सफल हो सकती है—यह तत्त्व शान्ति के समर्थकों को अधिक समझना है। दूसरों के अधिकार-हरण के पर्दे पर जो शान्ति का अभिनय किया जाता है उसका परिणाम शान्ति नहीं होता। कोई किसी पर अपनी सत्ता, अपने विचार, अपनी प्रणाली न थोपे—शान्ति की दिशा में यह एक बहुत बड़ा कदम होगा। मुझे विश्वास है—शान्तिवादी इस दिशा में स्वयं आगे बढ़ेंगे। हिंसा और सत्ता में विश्वास रखनेवालों को यह तथ्य समझाने में यदि वे सफल हुए तो उनकी यह सफलता प्राणिमात्र के लिये एक महान् वरदान होगा।

शान्ति-सम्मेलन की भूमि हिंसा के क्रूर अभिशापों की भूमि रह चुकी है—शत्र राष्ट्रों में संधि हो चुकी है किन्तु भूमि की पूर्व स्थिति से अब भी संधि नहीं हुई है। यह एक शिक्षा है, जो शाति-पथ को प्रशस्त करती है।

६७ : पढमं नाणं तओ दया

जीवन में ज्ञानाराधन का बहुत बड़ा महत्त्व है। जब तक जीवन में ज्ञान का समावेश नहीं होता तब तक मनुष्य सही और गलत मार्ग की पहचान नहीं कर सकता। हेय और उपादेय तत्त्व का ज्ञान नहीं पा सकता। इसीलिये शास्त्रों में कहा गया है—'पढमं नाणं तओ दया'—पहले ज्ञानी बनो और फिर दयावान्। ज्ञान और क्रिया का सम्बन्ध गहरा है। ज्ञान के बिना क्रिया अन्धी है। ज्ञान से क्रिया को मार्ग-दर्शन मिलता है। जीवन में सत्क्रिया का महत्त्व तो है ही, यदि वह ज्ञान युक्त हो तो उसका महत्त्व और भी ज्यादा बढ़ जाता है। प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह सही तत्त्व को जानने के लिये सदैव प्रयत्नशील रहे, ज्ञान की आराधना करे। ज्ञान और क्रिया के सम्बन्ध से ही जीवन का परम विकास हो सकता है।

अहमदाबाद,
१२ मई '५४

६८ अहिंसा और दया

अपनी तरफ से किसी प्राणी को न मारना, संतप्त न करना, क्लेश न देना तात्त्विक दया है। तात्त्विक क्षेत्र को छोड़कर व्यवहार मे चलिये—वहाँ किसी मरते को बचाना, रोटी खिलाना, पानी पिलाना व्यवहार-धर्म माना जाता है। जहाँ आध्यात्मिक दया का सम्बन्ध हृदय-परिवर्तन है वहाँ लौकिक दया का सम्बन्ध सिर्फ बचाने मात्र से है, हृदय-परिवर्तन से नहीं। लेकिन जब तक हिंसा करनेवाले प्राणी का मन नहीं बदलता और भावना परिवर्तित नहीं होती, और अहिंसा का बीज बपन नहीं होता तब तक यह सम्भव नहीं कि वह प्राणी अहिंसक बन जाय।

जहाँ धन और बल प्रयोग के जरिये अहिंसा-पालन का प्रयत्न किया जाता है वहाँ भी थोड़ी देर के लिये बिना मन के, बिना भावना बदले हिंसा रुक जाय यह सम्भव है क्योंकि जिसको रुपये मिलेंगे, दण्ड का भय होगा, उनकी वृत्ति तो नहीं बदलेगी। वृत्ति के बदले बिना सम्भव है कि वह उन रुपयों को अपने व्यवसाय की वृद्धि में भी लगाये और इससे ज्यादा हिंसा बढ़ने की सम्भावना हो। इसलिये अहिंसा और दया का सम्बन्ध वृत्ति-परिवर्तन से है। वृत्ति के बदलने पर अहिंसा की भावना जागृत होगी, शाश्वत अहिंसा का प्रचार होगा। वृत्ति-परिवर्तन अहिंसा और दया के लिये पहला साधन है।

अहिंसा और दया मानव-जीवन के परमावश्यक तत्त्व हैं, अतः मानव को इनकी आराधना में प्रतिपल निरत रहना चाहिये।

साबरमती आश्रम,

१४ मई, '५४

६६ : काव्य : बहुजन सुखाय हो

कवित्व जीवन के नैसर्गिक गुणों मे से एक विशिष्ट गुण है, जो हर व्यक्ति को प्राप्त नहीं होता, बिरले ही लोगों को यह मिलता है। अभ्यास या अध्ययन ही इसका कारण नहीं, इसका मुख्य कारण है शक्ति या प्रतिभा; या यदि जैन-दर्शन के शब्दों मे कहूँ तो क्षयोपशम। कवि की वाणी सहज रूप में ममस्पर्शिता; मार्दव और प्रभाव लिए रहती है। इसलिए किसी प्राचीन कलाकार ने कवि और धनुर्धर की तुलना करते हुए कहा है कि उस कवि की कविता भी क्या, जिसे सुनकर श्रोतागण अपना सिर न हिलाने लगें, धनुर्धर के धनुष संचालन की क्या विशेषता यदि उसका छोड़ा हुआ वाण उसीको बींधे। आशय यह है कि कवि की वाणी में ओज होता है, स्फुरणा होती है, चैतन्य होता है, जिसका प्रभाव पड़े बिना रह नहीं सकता। कवि संस्कारी होता है। वह युग को बदलने की क्षमता रखता है क्योंकि उसके पास वाणी का अमोघ बल जो है। आचार्य हेमचन्द्र ने कविता के गुणों का उल्लेख करते हुए आनन्द, यश, आदि के साथ उसे 'उपदेशयुजे' भी बताया है अर्थात् जन-जीवन को सन्मार्ग दिखलाने का गुण भी वह रखती है। काव्य के माध्यम से प्रचारित उपदेश हृदयग्राही और यथार्थ होता है। यही कारण है कि उसे 'कान्ता-सम्मित' उपदेश कहा गया है।

काव्यकला की सृष्टि आत्मप्रेरणा का प्रतिफल है। वास्तव में काव्य का लक्ष्य 'स्वान्तः सुखाय' है। आत्मानन्द और आत्मोल्लास के लिए कलाकार कला की सर्जना करता है। वह कला 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' होती है क्योंकि कलाकार के जीवन की सत्य अनुभूतियों का लेखा-जोखा जो उसमें होता है। जैन-आगमों मे तीर्थंकरों को 'तिन्नाणं-तारयाणं' कहा है अर्थात् स्वयं तरनेवाले, आत्म-विकास करने वाले और दूसरों को तारनेवाले—आत्म-विकास के मार्ग पर ले जानेवाले। आत्म-साधना या आत्म-सुधार के बिना दूसरों के उत्थान की बातें बनाना केवल आत्म-विडंबना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। कलाक्षेत्र के कार्यकर्त्ताओं से मैं कहना चाहूँगा कि वे 'स्वान्तः सुखाय' और 'स्वान्तः शोधाय' को तथ्य-दृष्टि मे रखते हुए अपनी

प्रतिभा और बल से उस ओजपूर्ण काव्य की सृष्टि करें जो आज की पथ-विचलित मानवता मे आत्म-चैतन्य और जागृति का सदेश प्रवलित कर दे सके। आज कवियों को लोकरंजन की भूलभुलैया मे अपने को नहीं भुला देना है। उन्हें आज के अनीतिग्रस्त, अन्यायपूर्ण, अनाचारमय वातावरण की जड़ें खोखली कर देनी हैं। डूबती हुई मानवता को वे अपनी तपःपूत वाणी से, अपनी ओजभरी स्वर-लहरी से बचा सकते हैं। क्या मैं आशा करूँ कि कविजन अपने इस गौरव भरे उत्तरदायित्व को निभायेंगे? साहित्य वह है जिससे सत् का हित हो जिससे सत् के तत्त्व पोषित हों। अपने कवियों से मेरा निवेदन है कि वे जीवन के अमृत तत्त्वों को जरूरी समझ सिर्फ ख्याली दुनियाँ में न भ्रमण करें।

७० : विकास का सही उपयोग

मनुष्य-जन्म मिला, विकास की सम्पूर्ण सामग्रियाँ मिली। ऐसा होते हुए भी यदि व्यक्ति जीवन का सही उपयोग नहीं करता तो वह उसकी अज्ञता है। हर मनुष्य का यह प्रयास होना चाहिए कि उसे सही माने में अपने जीवन का विकास करना है। मनुष्यके पास विवेक नामक एक विशिष्ट शक्ति है, जिसके द्वारा वह हेय क्या है, उपादेय क्या है, कार्य क्या है, अकार्य क्या है इन सबका निर्णय कर सकता है। हंस जिस प्रकार दूध और पानी में से दूध अलग कर लेता है और पानी छोड़ देता है, उसी प्रकार विवेकशील व्यक्ति को समूल तथ्य ग्रहण कर लेना चाहिए तथा अतथ्य का परित्याग कर देना चाहिए। भगवान् महावीर ने ज्ञान के सम्बन्ध में कहा है कि जिस व्यक्ति को सत्-असत् का ज्ञान नहीं है, वह क्या करेगा? अर्थात् क्रिया और ज्ञान का आपस में गहरा सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे के पूरक है। जैन-दर्शन मे कहा गया है: 'ज्ञान क्रियाभ्या मोक्षः'—मोक्ष के लिए क्रिया और ज्ञान की नितात आवश्यकता है। मैं चाहूँगा कि ससार का समग्र मानव समुदाय सद्ज्ञान और सत्क्रिया की आराधना करता हुआ जीवन को सफल बनाये, अपने जीवन को विकास के उच्चतम शिखर तक ले जाए। देश और विदेश के बहुत से व्यक्ति सम्पर्क मे आते रहते हैं। सास्कृतिक समन्वय और सद्भावनामूलक बातें चलती है। डा० नारमन ब्राउन की तरह अमेरिका के कुछ कलाकार व राजनीतिज्ञों से बड़ा सुन्दर सास्कृतिक सम्बन्ध रहा है। मुझे आशा है—डा० नारमन ब्राउन उसमें एक कड़ा और जोड़ेंगे।

बम्बई,
१२ मई '५४

७१ : आज की स्थिति में अणुव्रत

अणुव्रत का मार्ग प्रतिस्रोत का मार्ग है, अर्थात् दुनियाँ से प्रतिकूल चलने का मार्ग है। दुनियाँ जहाँ अनुस्रोत में बहती है वहाँ अणुव्रती को प्रतिस्रोत मे चलना होता है। भगवान् महावीर की वाणी है :

> **अणुसोयपट्ठिए बहुजणम्मि पडिसोयबद्धलक्खेणं।**
> **पडिसोयमेव अप्पा दायव्वो होउकामेणं ॥२॥**
> **अणुसोयसुहो लोगो, पडिसोओ आसवो सुविहियाण।**
> **अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो ॥३॥**

—दशवैकालिक सूत्र : चूलिका-२

कितना हृदयस्पर्शी पद्य है। लोग कहेंगे कि आप सन्त-वाणी का व्याख्यान कर रहे है या अपनी बात कह रहे है ? लेकिन मेरे पास मेरा तो कुछ भी नहीं है। जो तत्त्व आप्त-पुरुषों से मुझे मिला है, वही आपको देना है। अपनी बात तो वीतराग ही कह सकता है। सर्वज्ञ के सिवाय दूसरे का बोलना अधिकार से परे है। हम भी अपनी बात आपसे नहीं कहते बल्कि सर्वज्ञ महापुरुषो की वाणी ही आपके सामने रख रहे हैं।

आज बहुसंख्यक जनता अनुस्रोत मे बह रहा है। लेकिन जिसे कुछ करना है, कार्यशील बनना है, उसे प्रतिस्रोत मे चलना होगा। यद्यपि अनुस्रोत का मार्ग सरल है, और प्रतिस्रोत का दुःसाध्य, फिर भी अनुस्रोत मे चलनेवाला सागर मे पत्थर की तरह गायब हो जाता है और प्रतिस्रोत मे चलनेवाला अपने अभीष्ट स्थान को प्राप्त कर अपना अस्तित्व कायम कर लेता है। अभीष्ट मार्ग कठिन जरूर है, कॉटो का है फिर भी अभीष्ट है अतः उस पर चलना ही पडता है। बिना कठिनाई के तो रोटी भी नहीं खाई जाती तो साध्य को बिना तकलीफ कैसे पाया जा सकता है ?

अणुव्रत का मार्ग प्रतिस्रोतमय है, इसीलिये लोग अणुव्रत को कठोर साधना कहते हैं। भले ही कहें, पर यह तो सही है कि यह इष्ट तक पहुँचाने वाला है। अणुव्रत महाव्रत नहीं है। अणुव्रत अर्थात् छोटे-छोटे व्रत। आज अणुबम से लोग पूर्णतः परिचित हैं। अणुबम जहाँ विध्वंसात्मक है वहाँ अणुव्रत निर्माणात्मक। अणुबम जहाँ भौतिक पदार्थों का विध्वंस करता है, वहाँ अणुव्रत दुराचार का विध्वंस करता है—इस दृष्टि से दोनों में साम्य भी है।

कई व्यक्तियों का सवाल होता है—अणुव्रतों को चलाने की क्या आवश्यकता थी ? लेकिन अणव्रत आज के नवीन व्रत तो नहीं हैं। जैन-परम्परा में पहले से हा उनका विधान किया हुआ है। महाव्रती जहाँ पूर्ण निराश्रय मार्ग में चलता है वहाँ अणव्रती अपनी सासारिक सुख-सुविधाओं का भी ख्याल रखता है। अणव्रती का अहिंसा पर विश्वास होता है। चूँकि वह अणुव्रती ही बना है, अतः संकल्पी हिंसा नहीं करेगा। जहाँ राष्ट्र की, समाज की और व्यक्तिगत सम्पत्ति या कीर्त्ति पर आक्रमण होता है वहाँ उसका प्रतिकार करता है, इसलिये कि वह समाज से बँधा हुआ है अतः रक्षात्मक लड़ाई के लिए अपवाद रखता है। वह झूठ बोलना नहीं चाहेगा, उसे पाप समझेगा फिर भी सामाजिक प्राणी होने पर ऐसा न हो सके तो अनर्थकारी झूठ नहीं बोलेगा। वह अपरिग्रही नहीं बन सकता ; उसे समाज मे अपनी कीर्त्ति का भी ख्याल रखना होता है। रोटी भी खानी पड़ती है। उसके लिए भिक्षा उचित नहीं है इसलिए वह पूर्णतः संयमी नहीं है, तो भी वह शोषण अथवा अन्या-याचरण के द्वारा धन-संग्रह नहीं करेगा। केवल अपनी आवश्यकता की पूर्त्ति ही उसका दृष्टिकोण होगा। इस तरह यह अणुव्रत का मार्ग है। वह कहता है—पूर्ण संयम अच्छा है परन्तु चूँकि मैं पूर्णव्रती बन नहीं सकता, अतः अणुव्रती हूँ।

एक समय था जब अणुव्रत का मार्ग इतना कठिन नहीं था। उस समय मानव के जीवन मे प्रामाणिकता थी। वे पूँजी का संग्रह करते थे पर शोषण और अन्याय के द्वारा नहीं। युग ने करवट बदली। लोग विकास की बातें करने लगे। धीरे-धीरे भौतिक विकास का चक्र जोर से घूमने लगा। लोग उसे 'विकासवादी युग' कहने लगे। लेकिन मुझे लगता है कि यह ह्रास का युग है। जहाँ आध्यात्मिक यानी चेतना का विकास ही विकास समझा जाता था वहाँ भौतिक-विकास को, जड़वाद की वृद्धि को विकास कहा जाने लगा। युग की स्थितियो ने मानव के दृष्टिकोणों को भी बदल दिया।

दृष्टिकोण की गलती देखिए—लोग अहिंसा को अव्यावहारिक बताने लगे हैं। सत्य-पालन की तुलना मरने से की जाने लगी है। यह सुनकर मार्मिक पीड़ा होती है। अहिंसा आपसे पाली नहीं जा सकती, सत्य को आप जीवन मे उतार नहीं सकते—यह दूसरी बात है। दूसरा भी उसे नहीं पाल सकता, वह अव्यावहारिक है —आदि बातें मेरी दृष्टि मे नास्तिकत्व और मिथ्यादृष्टि के परिणाम हैं। जैन-दर्शन में

दो दृष्टियों का प्रतिपादन किया गया है—सम्यक्-दृष्टि और मिथ्या-दृष्टि। सम्यक्-दृष्टि पाप नहीं करता, ऐसी बात नहीं है। वह पाप भी कर सकता है पर उसे समझेगा पाप ही। पाप करता है इसलिये उसे धर्म नहीं कहेगा। मिथ्यात्वी गलत को भी सही कहेगा। आज इस जड़वादी युग में मिथ्या-दृष्टि का विस्तार हो रहा है। इसीका नाम दृष्टि-दोष है।

आज जब लोग अर्थ के ही पीछे पड़े हैं, तब भर्तृहरि के इस पद्य का स्मरण हो रहा है :

> **जातिर्यातु रसातलं गुणगणस्तस्याप्यधो गच्छता-**
> **च्छीलं शैलतटात् पतत्वभिजनः सन्दह्यतां वह्निना**
> **शौर्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतात्वर्थोऽस्तुनः केवलम्**
> **येनैकेन विनागुणास्तृणलव-प्रायः समस्ता इमे ।**

आज का मनुष्य सिर्फ पूँजी की ही आवश्यकता महसूस करता है। कवि कहता है—अरे! तुम्हारी जाति शोषण कर धन कमाने से रसातल मे पहुँच जायगी। भले ही पहुँचे। अरे! तेरे गुण कलंकित हो जायेंगे। मेरे गुण रसातल से भी और नीचे क्यो न पहुच जाँय! तेरे कुलाचार का क्या होगा? भले ही मेरे कुलाचार पहाड़ से नीचे गिर कर चूर-चूर हो जाँय। तुम्हारा परिवार तुम्हे क्या कहेगा? मेरा परिवार चाहे भाड़ मे चला जाय। तुम अपने शौर्य को क्यो लजाते हो? मेरे शौर्य पर भले ही वज्रपात हो जाय। मुझे ये कुछ नहीं चाहिये। कवि पूछता है—तुझे फिर क्या चाहिये? मुझे सिर्फ पूँजी चाहिये। उसके बिना उपरोक्त गुण तृण के भी बराबर नहीं हैं।

आज मिल मालिकों से शोषण छोड़ने के लिए कहा जाता है और पूँजी से मोह त्यागने की प्रेरणा दी जाती है, तो वे जवाब देते हैं—"यह तो पुण्यबन्ध का फल है। पूर्व भव के पुण्यसंचय से हमे यह सम्पत्ति मिली है।" तब मुझे हँसी आती है। ये भले ही कर्म का फल न मानें, कर्मवाद के दर्शन से अभिज्ञ न हों, फिर भी उनके स्वार्थों पर कुठाराघात होता है इसलिए कर्मवाद की बात करते हैं। स्वार्थों के पोषण के लिए वे कर्मवाद की दुहाई देते हैं। यह कितने आश्चर्य की बात है।

ऐसी स्थिति में हमारा कर्त्तव्य होता है कि यदि हम व्यक्ति के दृष्टिकोण को सुधारें। तो एक बहुत बड़ा सुधार होगा। परतन्त्रता के समय में लोग 'अंग्रेजो, भारत

छोड़ो' का नारा लगाते थे, आज उस नारे की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता इस नारे की है—"बन्धुओ ! स्वार्थ छोड़ो।" ऐसा लगता है कि विदेशी हुकूमत में व्यक्ति जितना गुलाम नहीं था आज उससे भी ज्यादा गुलाम है। व्यक्ति आज जितना दुर्व्यसनों का दास बन रहा है ? उतना पहले कभी नहीं था। हमारी यह मान्यता है कि सभी व्यक्ति पूर्ण आचारी नहीं बन सकते। हमारा यह दावा नहीं है कि हम समस्त विश्व को अहिंसक बना देंगे। प्रयत्न यह है कि जिस तरह हींग और कस्तूरी के संसर्ग मे हींग की सुगन्ध से कस्तूरी का विनाश हो जाता है किन्तु हींग का कुछ नहीं बिगड़ता उसी तरह से अहिंसा का सर्वथा लोप न हो जाय। लोप तो नहीं होगा यह तो हमे विश्वास है फिर भी हिंसा अहिंसा पर छा न जाए बल्कि अहिंसा का उस पर प्रभाव रहे। हिंसा के प्रचार के लिए आज जितने उपक्रम किए जा रहे है अगर उतने अहिंसात्मक तरीके अहिंसा के प्रचार मे लगाए जाते तो आज विश्व-शान्ति की पुकार नहीं करनी पड़ती। आज अहिंसकों की संख्या कितनी है ? उनमें अधिकाश अहिंसक कहलानेवाले तो केवल अहिंसा की बात ही करते है। जिनके हृदय में अहिंसा के प्रचार की तड़प नहीं, पतन का विचार नहीं, केवल आवाज लगाते हैं। बहुत कम व्यक्ति ऐसे हैं जिनके हृदय मे अहिंसा के प्रचार की सची तड़प है। अहिंसकों का यहा कार्य है कि हर क्षण अहिंसा के पलड़े को भारी रखे।

यह काम सरल नहीं है पर इसमें प्रकाश की रेखा अवश्य है। अगर सची लगन के साथ काम लिया जाय तो बहुत कुछ सफलता मिल सकती है।

आज लोग विषयों के दास बन रहे हैं। लोगों के जीवन-स्थिति भगवद् गीता का यह पद्य चरितार्थ कर रहा है :

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।

अर्थात्—प्रतिपल विषयों का चिन्तन करते रहने से मनुष्य की उनमें आसक्ति हो जाती है, आसक्ति होने से उन्हे प्राप्त करने की कामना प्रबल हो उठती है, प्राप्ति की भावना के प्रबल होने पर मनुष्य को उनके सिवाय दूसरी प्रवृत्तियों के प्रति क्रोध आने लग जाता है, क्रोध आने पर उसके भावो में अस्थिरता आ जाती है ; भाव-वैचित्र्य से उसकी स्मृति का नाश होने पर उसकी बुद्धि किसी कार्याकार्य का निर्णय नहीं कर

सकती और इस प्रकार बुद्धिनाश होने पर तो उसका जीवन ही नष्ट हो जाता है। आप इस सत्य को एक उदाहरण के द्वारा समझिए।

एक राजा को आमवात का रोग हो गया। अनेक चिकित्सकों से इलाज कराया गया पर रोग नहीं मिटा। आखिर एक वैद्य ने चिकित्सा की कि राजा कभी भी अपने प्रिय खाद्य आम को न खाय। आखिर मृत्यु के भय से राजा ने जीवन भर के लिये आम खाना छोड़ दिया। राज्य की सीमा में जितने भी आम के वृक्ष थे, सब कटवा दिये गये, इसलिये कि कहीं राजा भूल से भी आम न खा ले। कुछ दिनों के बाद राजा बिलकुल स्वस्थ हो गया।

हमारे यहाँ कहावत है—भवितव्य कभी नहीं चूकता। ग्रीष्म ऋतु थी। राजा और मन्त्री सुबह के समय घोड़ों पर घूमने के लिये निकले। चलते-चलते बहुत दूर चले गये। राज्य की सीमा को लाघ गये। गर्म लू और मध्याह्न काल की धूप से राजा बेचैन-सा होकर मंत्री से कहने लगा—मंत्री! धूप तेज पड़ रही है। चलो, उस सघन वृक्ष की छाया में जाकर थोड़ी देर के लिये विश्राम करें।

मंत्री ने निषेध किया कि राजन्! वह आम का वृक्ष है। आपको आम की छाया में नहीं बैठना चाहिये। राजा ने कहा—अरे, छाया में बैठने मात्र से क्या होना है? राजा ने मंत्री की बात नहीं मानी। दोनों जाकर छाया में बैठे।

राजा वृक्ष की ओर ही देख रहा है। उसकी इच्छा होने लगी कि आम खाऊँ पर पास में मंत्री बैठा है। वह प्रतिक्षण राजा को इस उपक्रम के लिये सचेष्ट कर रहा है। सहसा क्या होता है? हवा का एक झोंका आया और एक पका हुआ आम राजा की गोद में आ गिरा। मंत्री ने बीमारी का स्मरण दिलाते हुए राजा को आम-सेवन का निषेध किया। पर राजा ने नहीं माना, आम को सूँघा, छिलका उतारा, सारा आम खा लिया यहाँ तक कि छिलके को भी नहीं छोड़ा। वासना की भूख थी। उसके प्रभाव ने राजा को वैद्य की सूचना को भुला दिया। आम खाते ही राजा को चक्कर आने लगे। राजा तथा डरा हुआ-सा मंत्री वहाँ से उठे और शहर में प्रवेश कर राजमहल में प्रविष्ट हुए। राजा तो जाते ही शैया पर लेट रहा, और अचेत हो गया। पुराने चिकित्सक को बुलाया गया पर क्या होने वाला था? राजा की मृत्यु हो गई।

अब उस पीछे बताये गये क्रम की एकरूपता पर दृष्टि डालिये—राजा को आम

में आसक्ति हुई। आसक्ति से आम खाने की भावना प्रबल हो उठी फिर मंत्री पर क्रोध हुआ, क्रोध से भाव-वैचित्र्य हुआ, भाव-वैचित्र्य से स्मृति का नाश हुआ और फिर बुद्धि का नाश हुआ और बुद्धि के नाश से सर्वनाश हो गया। विषय-भोगी और रस-लिप्सु राजा की स्थिति एक समान दृष्टिगोचर होती है।

लोग कहेंगे—राजा मूर्ख था जिसने एक आम खाने के लोभ में अपने प्राण को खो दिया। लेकिन मैं आपसे पूछूँगा क्या आप ऐसा नहीं कर रहे हैं? आप जानते हैं कि पूँजी और विषयों से आपकी आत्मा का पतन होने वाला है, फिर भी आप उसका मोह नहीं छोड़ते।

ऐसी विषम स्थिति को सुधारने के लिये आवश्यकता महसूस हुई कि एक ऐसी योजना जनता के सामने प्रस्तुत की जाय जो इस स्थिति का सही उपाचार कर सके। इसीके परिणामस्वरूप अणुव्रती-संघ की स्थापना की गई। मैं जानता हूँ—यह कोई आर्थिक योजना नहीं, राजनैतिक नहीं, भौतिक सुख-सुविधाओं को प्रदान करनेवाली नहीं; बल्कि एकमात्र चारित्र-उत्थान की योजना है। इस योजना में सम्मिलित होने वाला व्यक्ति शोषण से पूँजी उपार्जन नहीं कर सकता, ब्लैक नहीं कर सकता, वह तो सत्य और अहिंसा में निष्ठावान होता है।

गुजरात की भूमि मे इस चारित्रिक योजना को लेकर मेरा प्रथम आगमन हुआ है। लोग त्याग और चरित्र की आदर्श-परम्परा को समझते हुये इस योजना को अपनायें।

अहमदाबाद,
(अणुव्रत-प्रेरणा दिवस)
१४ मई, '५४

७२ : तेरापंथ की मन्डनात्मक नीति

जैनधर्म वीतराग का धर्म है, प्राणिमात्र को उठाने का पथ है, यह कहते हुए हमें गौरव होता है मगर गौरव के साथ-साथ खेद भी होता है कि जैन सम्प्रदायों ने अपने साम्प्रदायिक और जातीय संघर्षों के कारण उस गौरव को बढ़ाने के बदले घटाया ही है। भगवान् महावीर के बाद अनेक जैन-सम्प्रदाय बढ़े, कुछ शिथिलता आई, आचार और विचार की रेखायें अपनी ताकत के आधार पर आँकी जाने लगीं, शास्त्रीय सिद्धान्तों पर कलिकाल की दुहाई देकर कुठाराघात किया जाने लगा, स्थानों

व उपाश्रयों आदि के लिये ममत्व बढ़ा, शिष्यों की परम्परा ने जोर पकड़ा। इन सबको देखकर अपने १२ शिष्यों के साथ तेरापंथ के आद्यप्रवर्तक आचार्य श्री भिक्षु जैन-धर्म के स्थानकवासी सम्प्रदाय से अलग हुए और मजबूत आचार तथा शुद्ध विचार के परिपालन के लिये दृढ़-प्रतिज्ञ हो विचरने लगे। लोगों ने उनके पंथ को 'तेरापंथ' की संज्ञा दी।

आचार्य भिक्षु ने अपने सिद्धान्तों को मजबूत बनाते हुए कहा कि पंचम काल या कलिकाल का नाम लेकर अगर साधुत्व के साथ खिलवाड करना है तो साधु मत बनो। शुद्ध आचार और विचार की प्रणाली का अक्षरशः पालन करो। इसी भित्ति पर उनके संघ का निर्माण व विकास हुआ।

अपने संघ-संगठन को मजबूत बनाने के लिये उन्होंने मर्यादायें बनायीं—सब साधु-साध्वी एक ही गुरु के शिष्य हों, गुरु की अखण्ड आज्ञा पालें, स्थानक तथा उपाश्रय न रखें, गुरु के आदेशानुसार विहार, चातुर्मासादि करें, सब आपस में हिल-मिलकर रहें, जनता को सही मार्ग-दर्शन करावें। मैं समझता हूं कि उन मर्यादाओं ने हमें जीवन दिया है, हमारे संघ को सजीव बनाया है और संगठन को मजबूत शृङ्खला में बाँध दिया है।

भगवान् महावीर के सिद्धान्तों तथा आचार्य भिक्षु द्वारा निर्मित मर्यादाओं पर संचालित यह तेरापंथ संघ अपनी मण्डनात्मक नीति व शुद्ध आचार को लिये हुए आगे बढ़ रहा है। आज हमारे ६५० के लगभग साधु-साध्वी देश के विभिन्न भागों में नैतिकता व सदाचार की प्रेरणा देते हुए भ्रमण कर रहे हैं। उनका एकमात्र लक्ष्य स्व-उत्थान के साथ पर-उत्थान रहता है।

अहमदाबाद,
१५ मई '५४

७३ : राष्ट्र-विकास का सक्रिय कदम

समाज तथा राष्ट्र के उत्थान की भित्ति व्यक्ति का निर्माण है। प्रत्येक व्यक्ति सन्मार्ग पर आयेगा तो समाज और राष्ट्र में एक आकस्मिक परिवर्तन आयेगा। अतः आवश्यकता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यवहार को शुद्ध बनाये, जीवन में चारित्र, सदा-

चार, नैतिकता आदि गुणों का समावेश करे। यह समाज और राष्ट्र के विकास की ओर एक सक्रिय कदम होगा।

आज विकास के लिये अनेक योजनायें चल रही हैं, लोग विकास के नाम पर दौड़-धूप कर रहे हैं लेकिन मैं कहूँगा आज आप जिसको विकास कह रहे हैं उस विकास को छोड़कर आपको कुछ पीछे हटना होगा। लोग हँसेंगे और पीछे हटने की बात पर रोष-प्रदर्शन करेंगे, मगर वास्तव मे बात सही है। आपको भौतिक विकास से पीछे हटना होगा। अगर वास्तविक विकास करना है तो पीछे हटकर आप समान धरातल पर आ जायेंगे पीछे आपको विकास के लिये चेष्टा करनी होगी। वह विकास चाहे पूँजी प्रदान करनेवाला न हो पर जीवन को चैतन्यशील बनानेवाला जरूर है। उस विकास से आत्मा का संरक्षण और आत्मा के संरक्षणसे ही जाति, समाज और राष्ट्र का संरक्षण हो सकेगा।

आत्मा के संरक्षण के लिये या यों कहें मानवीय शक्ति के विकास के लिये सदाचार और नैतिकता का आश्रय लेना ही होगा। इनके आचरण से ही भारत की वह अतीत की गुणगाथा और ज्यादा गतिशील बन सकेगी। वह ख्याति, पूँजी और विलास की वृद्धि करने से नहीं मिलनेवाली है बल्कि चारित्र के उत्थान से बढनेवाली है। अतः मैं प्रत्येक व्यक्ति से कहूँगा कि वह चारित्र को अपने जीवन में अधिकाधिक स्थान दे।

बड़ौदा,
२१ मई '५४

७४ : सत्संग के द्वारा जीवन-सुधार

समस्त जनता को सुधारने की बात करने से पहले व्यक्ति को अपने जीवन मे सुधार लाना चाहिये। इसमें स्वार्थ-भावना है, अगर ऐसा किसी का ख्याल है तो वह गलत है। व्यक्ति अपने जीवन को सुधारेगा और उससे प्रेरणा पाकर कोई दूसरा व्यक्ति सुधरेगा इस तरह से वह सबके सुधार और परमार्थ की भूमिका बनेगा। परमार्थ में प्रत्येक व्यक्ति के सुखी रहने की भावना होती है। सुख का सही मार्ग आत्म-दमन है। तपस्या, साधना, इन्द्रिय-दमन आदि ही आत्म-दमन हैं।

तपस्या से मनुष्य को कष्ट जरूर होता है लेकिन वह कष्ट परम सुख की ओर ले जानेवाला है। जैनधर्म में अनशन की महिमा देखिये—आत्म-दमन के लिये किये गये अनशन से अगर व्यक्ति की मृत्यु भी हो जाय तो वह त्याग है। प्राप्त भोग-सामग्री को ठुकरा कर संयम-मार्ग मे प्रवृत्त होना ही सच्चा त्याग है।

व्यक्ति को संयम-मार्ग में प्रवृत्त होने के लिये सत्संग की बहुत बड़ी आवश्यकता है। सत्संग जहाँ कहीं भी हो सके करना चाहिये। उसके लिये किसी जाति, कौम या सम्प्रदाय का बन्धन नहीं। व्यक्ति दूध लेते समय अच्छे बुरे का ख्याल करे वह तो युक्तिसङ्गत है पर गाय का रंग पूछे यह कुछ विचित्र-सा है। अतः प्रत्येक व्यक्ति सत्संग कर अपने जीवन को सुधारे।

बड़ौदा,
२१ मई '५४

७५ : नैतिक निर्माण की योजना

प्रत्येक व्यक्ति सुख की कामना रखता है? लेकिन सुख के लिये अपेक्षा है कि व्यक्ति स्वयं सुखी बने पर दूसरे के सुख में बाधक न बने; उसे भी सुख से रहने दे। व्यक्ति स्वयं पूँजीपति बनने की भावना रखता है लेकिन यह सत्य है कि दूसरे पर शोषण और अन्यायाचरण के बिना व्यक्ति पूँजीपति नहीं बन सकता। केवल अपने सुख की जहाँ भावना होती है वहाँ शोषण और संग्रह की भावना बल पाती है तथा अशोषण और असंग्रह की भावना नीचे दब जाती है। त्याग की भावना को तो अवकाश ही कहाँ? पूँजी को छिपाये रखने के लिये तुच्छ दान उपचार होता है किन्तु जबतक संग्रह की वृत्ति नहीं टूटती तबतक सब सुखी बन जायें यह असम्भव-सा है। संग्रह और शोषण की वृत्ति टूटे—यह आज के युग की सबसे बड़ी माग है।

भारत की संस्कृति में त्याग की परम्परा अविरम बहती रही है। त्याग की परम्परा ने यहाँ की जनता को भोग और विलास से विमुख कर संयम की ओर गति दी है, जनता का प्रवाह जो प्रेय की ओर था उसे श्रेय की ओर मोड़ा है। इसी कारण से कहना चाहिये कि नैतिकता, ईमानदारी और प्रामाणिकता जैसे सद्गुण आज भी यहाँ की जनता में मिलते हैं।

जनता के दैनिक व्यवहारों को शुद्ध बनाने व इसी परम्परा का अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित होते रहने के लिये अणुव्रती-संघ की एक असाम्प्रदायिक व असकीर्ण योजना हमारी तरफ से जनता के सामने रखी गई है। यह एक चरित्र व नैतिक-निर्माण की योजना है जिसकी आज राष्ट्र को बहुत बड़ी आवश्यकता है। प्रत्येक व्यक्ति इसके विकास में गति दे, यही मेरी सबको प्रेरणा है।

भड़ौंच,
२७ मई '५४

७६ : अहिंसा

अहिंसावादी शताब्दियों एवं सहस्राब्दियों से अहिंसा पर विचार करते रहे हैं, अनुशीलन करते रहे हैं फिर भी यह विषय पुराना नहीं पड़ता। आज भी जब कभी इस विषय पर चिन्तन करते हैं, नवीनता का अनुभव होता है। हमारे यहाँ कहावत है कि रामायण चाहे कितनी ही बार पढ़ी जाय, फिर भी वह नवीन का नवीन प्रतीत होता है। ऐसी ही बात अहिंसा के विषय में भी है। कारण यह है कि अहिंसा जीवन-दर्शन का तत्त्व है। उसकी व्यापकता सामयिक या देशीय नहीं अपितु सार्वकालिक और सार्वदेशिक है।

जैन-आगमों में अहिंसा के साठ नाम आये हैं: मैत्री, समता, बन्धुता, अभय, शुद्ध प्रेम ये सब अहिंसा के ही तो नाम हैं। इनसे स्पष्ट है कि निषेधात्मक की तरह अहिंसा का विधेयात्मक रूप भी है। यद्यपि व्युत्पत्ति के अनुसार अहिंसा का अर्थ निषेधात्मक ही निकलता है मगर उसकी परिभाषा में जितना व्यापक नकारात्मक अर्थ प्रतिष्ठित है उतना ही व्यापक हकारात्मक। जिस प्रकार किसी को न मारना, न सताना, अहिंसा की परिभाषा के अभिधेय हैं उसी प्रकार सबके साथ मैत्री और बन्धुता का बर्ताव रखना भी उसकी परिभाषा के वाच्य हैं। अतएव अहिंसा विधेयात्मक और निषेधात्मक दोनों पहलुओं को एक समान दृष्टि से अवलोकन करती है। अहिंसा के केवल निषेधात्मक रूप को लेना वास्तव में उसकी एकांगी व्याख्या है।

अहिंसा का प्रश्न मानव की स्व-वृत्तियों से सम्बन्धित है, किसी के मरने-जीने से नहीं। जैन-आगमों में विवेचना मिलती है कि साधु चलता है, मार्ग में कोई भी जीव मरा नहीं फिर भी वह हिंसक है—अगर चलने में असावधानी करता है क्योंकि असावधानी प्रमाद है और प्रमाद हिंसा है। ठीक इसके विपरीत वृत्ति में विशुद्धि और निर्मलता हो, किसी के प्रति शत्रुभाव न हो, सबके प्रति आत्म-संयम और समता हो, सावधानी और अप्रमाद हो तो किसी के प्राण-वियोजन होने पर भी उसे हिंसा-दोष नहीं लगता।

अहिंसा जीवन तत्त्व है, ज्ञान की सार्थकता है। अहिंसा के इस महान् गूढ़ार्थ को प्रकट करते हुये भगवान् महावीर ने कहा :—

एय खुनाणिो सारं, जं न हिंसइ किंचण।
अहिंसासंयमं चेव, एयावंतं वियाणिया॥

अर्थात् **ज्ञानी के ज्ञान का सार इसी में है कि वह किसी की हिंसा न करे। वह अहिंसा और समता को समझ कर उनमें पूर्ण निष्ठावान् बने। अहिंसा और समता**

ज्ञान का सार है। जिसने इन दोनों को जान लिया उसने समूचे ज्ञान-विज्ञान को हस्तगत कर लिया।

उपरोक्त पद्य में जहाँ अहिंसा ज्ञान की सार्थकता के रूप मे प्रगट होती है वहाँ उससे यह भी स्पष्ट होता है कि किसी को न मारना, सबके साथ समता से बर्ताव करना, आत्म-भाव से रहना, ये अहिंसा के निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनों रूप सदा से प्रचलित रहे हैं। अहिंसा के ये दोनों पहलू जीवन मे उतारे जाने चाहिये अन्यथा अहिंसा का प्रयोग अधूरा और एकांगी बनकर रह जायगा।

अहिंसा की उपयोगिता केवल मोक्ष आराधना तक ही सीमित नहीं है। जीवन के प्रत्येक कदम मे उसकी उपयोगिता निर्विवादतया सिद्ध है। अहिंसा जीवन की स्वाभाविक-परिणति है और हिंसा विभाव-परिणति। वास्तव मे हिंसा धर्म है ही नहीं। तात्त्विक दृष्टि से हिंसा को धर्म मे परिगणित नहीं किया जा सकता पर चूंकि लोगो को 'धर्म' शब्द अति प्रिय है अतः लोकसमाज और राष्ट्र की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो हिंसामय कार्य करते हैं उन्हे 'धर्म' शब्द से अभिहित करना अभीष्ट समझते हैं। समाज-धर्म और राष्ट्र-धर्म आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। वास्तव मे समाज या राष्ट्र की अनिवार्य आवश्यकता के रूप मे जिस हिंसा को धर्म कहकर अभिहित किया जाता है वह शाश्वत धर्म नहीं है। जहाँ 'गीता' और 'मनुस्मृति' आदि ग्रन्थो में आपद्धर्म आदि विशेष परिस्थितिवश हिंसा को धर्म माना गया है उसको सदा उसी रूप में अक्षरशः मानना और सिद्ध करना युक्ति-संगत नहीं कहा जा सकता। एक समय किसी परिस्थितिवश हिंसा को जो धर्म माना गया वह वास्तव मे धर्म नहीं, तत्कालीन सामाजिक या राजनैतिक नीति थी। धर्म और नीति एक नहीं है। धर्म अपरिवर्तनशील है और नीति परिवर्तनशील। देश-काल आदि के परिवर्तित होने पर भी धर्म में कोई परिवर्तन नहीं होता और नीति में देश-काल आदि के परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तन होता रहता है। अतएव शाश्वत-धर्म अहिंसा है जो सदा प्रकाश-पुञ्ज की तरह जन-जन का मार्ग-दर्शन करती आई है, करती है, और करती रहेगी।

गीता और मनुस्मृति की तरह जैन-साहित्य मे भी कुछ प्रसंग ऐसे आते हैं जहाँ हिंसा को हिंसा नहीं माना जाता। उदाहरण के लिये, जैन-धर्म के कुछ सम्प्रदायों की मान्यता है कि संघ की रक्षा का जहाँ सवाल है वहाँ चक्रवर्ती की सेना को नष्ट करना भी हिंसा नहीं है। आश्चर्य की बात है—अहिंसा-प्रधान जैन-धर्म के साहित्य में भी

ऐसी मान्यता को स्थान दिया गया है। वस्तुतः यह मान्यता किसी विशेष परिस्थिति की देन है; इसको न तो अहिंसा ही माना जा सकता है और न इसको धर्म कहकर ही स्वीकार किया जा सकता है।

अहिंसा का उद्देश्य किसी प्राणी की प्राण-रक्षा नहीं, बल्कि आत्म-शुद्धि है—पापाचरणों से कलुषित होती हुई आत्मा की रक्षा करना है। इस व्यापक उद्देश्य को भुलाकर कुछ लोग प्राणरक्षा को ही अहिंसा मानकर इस पर विशेष बल दिया करते हैं। जीवरक्षा के सिद्धान्त को लेकर उसकी पूर्ति के लिये लोग जंगल में चीटियों के बिलों पर आटा, चीनी आदि डाला करते हैं। ऐसा करने का उद्देश्य यही होता है कि चीटियाँ मरें नहीं। यहाँ सोचने की बात यह है कि संसार का कोई प्राणी मरता है तो यह कोई हिंसा है क्या? अहिंसा का मर्म यह है हा नहीं। किसी के जिन्दा रहने, किसी को जिन्दा रखने या किसी के मरने से अहिंसा का सम्बन्ध नहीं है। अहिंसा का मतलब है—हिंसात्मक वृत्तियों में परिवर्तन। हिंसक की आत्मा में अभय-दान का जागरण होगा। अभयदान हिंसक में नहीं मिल सकता। अहिंसा का पहला गुण और पहला परिणाम अभयदान है। अतएव किसी तरह से एक प्राणी के प्राण बचा देने का उतना महत्त्व नहीं है जितना किसी को अहिंसक वृत्ति में लाना है। अहिंसक वृत्ति में आये हुए व्यक्ति से एक को नहीं, सहस्रों प्राणियों को अभय मिलता है। जहाँ एक-एक बकरे की रक्षा करने का प्रयास असफल और पंगु होता है वहाँ किसी कसाई की कसाईपन से रक्षा करने का प्रयत्न सार्थक और सहस्रों बकरों के लिये अभयदान का प्रतीक होने के कारण अहिंसा की महान् साधना का द्योतक है।

कुछ लोग मिश्र-सिद्धान्त को माननेवाले होते हैं। वे कहते हैं—अहिंसा की साधना के लिए कुछ हिंसा भी क्षम्य है। हम इससे सहमत नहीं। वह क्या अहिंसा, जिसकी साधना के लिये हिंसा में प्रवृत्ति की जाय? अहिंसा आत्म-शुद्धि और आत्म-विकास का साधन है और हिंसा आत्म-विकृति तथा आत्म-पतन का। जिसका उन्नयन हिंसा के द्वारा हो वह अहिंसा कैसे कहला सकती है? यह याद रखने की बात है कि शुद्ध साध्य के लिए शुद्ध साधन का ही प्रयोग होना चाहिये। ऐसी स्थिति में अगर शुद्ध साध्य के लिये अशुद्ध साधनों का प्रयोग किया जाता है तो यह युक्ति शास्त्र-सम्मत नहीं। शुद्ध-साध्य के लिये अशुद्ध-साधनों का प्रयोग कर उसमें मिश्र-धर्म की स्थापना करना इसलिये यौक्तिक नहीं है कि जहाँ धर्म होता है वहाँ सिर्फ धर्म ही

होता है और जहाँ अधर्म होता है वहाँ सिर्फ अधर्म ही। धर्म-अधर्म की मिश्र मान्यता पर आचार्य भिक्षु ने कड़ा प्रहार करते हुए कहा है :—

सांभर केरा सींग में रे, सींग, सींग में सींग।
मिश्र परूपे तिणरी बात में रे, धींग, धींग में धींग॥
बाजर केरा बूंट में रे, बूंट, बूंट में बूंट।
मिश्र परूपे तिणरी बात में रे, भूठ, भूठ में भूठ॥
बावल आवे तह में रे, धूड़, धूड़ में धूड़।
मिश्र परूपे तिणरी बात में रे, कूड़, कूड़ में कूड़॥

अगर विचार कर देखा जाय तो मिश्र-धर्म की मान्यता बड़ी कमजोर है। उसे मानकर चलना हितकर नहीं।

एक दृष्टि से देखा जाय तो यह मानना होगा कि जब तक प्रत्येक आत्मा के साथ एकत्व दृष्टि पैदा नहीं होगी तब तक अहिंसा का पालन नहीं होगा। यद्यपि जैन-दर्शन एक ही आत्मा को सर्वव्यापक नहीं मानता, अनेक आत्माओं के अस्तित्व को स्वीकार करता है फिर भी उसका यह आग्रह नहीं कि उसे एकान्त रूप में ऐसा ही माना जाय। अपेक्षा-भेद से अन्य प्रकार भी इसे स्वीकार्य हैं। अनेकात्मवाद के सिद्धान्त को मानते हुए भी वह प्रकारान्तर से एकात्मवाद का भी समर्थन करता है। 'स्थानांग' सूत्र में 'एगे आया' एक आत्मा लिखकर जैन-दर्शन यह स्वीकार करता है कि एकात्मवाद भी किसी दृष्टि से हमें स्वीकार है। झगड़े और संघर्ष एकान्तवाद से पनपते हैं। जहाँ अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा है वहाँ उलझनों के लिये कोई स्थान नहीं। गलती 'ही' में होती है। अगर यह कहा जाय कि आत्मा एक ही है या आत्मा अनेक ही है तो यह उलझन और और विग्रह की झोंपड़ी खड़ी करना है। जैन-दर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। अनेकान्त समन्वय का प्रतीक है। झगड़ते हुओं में समझौता स्थापित करना उसका ध्येय है। इसी सद्वानवाद के सहारे जैन-दर्शन व्यक्ति की दृष्टि से अनेकात्मवाद और जाति की दृष्टि से एकात्मवाद इन दोनों विचार-पद्धतियों को स्वीकार करता है। प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है। उनके अलग-अलग अस्तित्व हैं। इस दृष्टि से व्यक्ति-व्यक्ति के पृथकत्व होने से आत्मा अनेक हैं और प्रत्येक आत्मा अनन्त धर्मवाली है, प्रत्येक में चेतन गुण का अस्तित्व है, प्रत्येक को सुख-दुःख का अनुभव होता है, प्रत्येक दुःख की अनभिलाषा और सुख की अभिलाषा रखती

ऐं प्रत्येक में आत्मत्व है इस तरह जैन-दर्शन एकात्मवाद व अनेकात्मवाद दोनों सिद्धान्तों को अपनी-अपनी जगह सही मानता है। अहिंसा का जहाँ सवाल है वहाँ एकात्मवाद का विशेष महत्त्व है। जैन-दर्शन बताता है : 'आय तुले पयासु'। इस पाठ को समझे बिना अहिंसा का स्वरूप भी नहीं समझा जा सकता। अहिंसा का स्वरूप बताते हुये जैन-दर्शन मे बताया गया है —"हे पुरुष ! अगर तू अहिंसक बनना चाहता है तो प्रत्येक आत्मा में एकत्व बुद्धि स्थापित कर। बिना एकत्व बुद्धि के अहिंसा की वास्तविक सीमा तक तू नहीं पहुँच सकता।" इस आत्म-एकत्व-बुद्धि पर प्रकाश डालते हुए यहाँ तक कहा गया है—"अरे पुरुष ! तू विचार कर। जिसे तू मारना चाहता है वह तू ही है, जिसे तू सन्ताप देना चाहता है वह तू ही है, जिस पर तू हुकूमत करना चाहता है वह तू ही है। आत्मन् ! अगर तू इस 'आत्मौपम्य-बुद्धि' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के पाठ को भूलकर उपरोक्त कथन के विपरीत आचरण करता है तो तू अहिंसक नहीं, हिंसक बनता है।" अतएव अहिंसा की परिपूर्ण या आंशिक साधना के लिए आत्मौपम्य-बुद्धि अथवा आत्म-एकत्व बुद्धि के सिद्धान्त का अनुशीलन करना अत्यन्त आवश्यक है। अगर अनेकान्तवाद के प्रयोग के द्वारा इस सिद्धान्त को हृदयंगम किया गया तो अग्रवर्ती-मार्ग बिल्कुल साफ और निष्कंटक रूप से उपलब्ध होगा।

लोग यह सोचकर फूले नहीं समाते कि हमारे आचार्यों ने, हमारे गुरुओं ने जगत को अहिंसा की बहुत बड़ी देन दी है। वे यह दावा करते हैं कि अहिंसा उनकी परम्परा-प्राप्त निधि है। इस प्रकार अगर अहिंसा सिर्फ दावे तक ही सीमित रहती है, वह जीवन में नहीं उतरती है, विचारों और आचरणों में प्रतिष्ठित नहीं होती है तो इससे कोई लाभ नहीं। सार्थकता इसीमें है कि अहिंसा को अपनी निधि माननेवाले उसे अपने जीवन मे उतारकर दिखावें। जीवन में उसे न ढालकर केवल बातें बनाना ढोंग और दिखावे के सिवाय और कुछ नहीं। नहीं तो क्या कारण है कि लोग धर्म-स्थान में तो अहिंसा को याद करते हैं और बाजार में दुकान पर बैठते समय उसे बिलकुल भूल जाते हैं। इसलिये अहिंसा किसी व्यक्ति विशेष या किसी समाज विशेष की न होकर वह उसीकी है, जो उसे जीवन में ढालते हैं। आज अहिंसा-वादियों के लिये विशेष मौका है। संसार हिंसा के घात-प्रतिघात से थक चुका है। उसका विश्वास हिंसा से लड़खड़ा चुका है। हिंसाजनक जितने भी अस्त्र-शस्त्र बन

रहे हैं उनके विध्वंसक परिणामों की कल्पना कर आज का जन-मानस भय-भ्रान्त बन रहा है। वह आज कोई सहारा ढूँढ़ रहा है। निश्चय ही अहिंसा में वह सामर्थ्य है जिससे संसार उससे सहारा पाने की आशा कर सकता है।

मैं सबसे यही अपील करूँगा कि अहिंसा मे विश्वास रखनेवाले लोग उसे क्रियात्मक रूप में अपने जीवन में अपना कर जन-जन मे उसके व्यापक प्रसार के लिये कोशिश करें। अहिंसा वह सारपूर्ण वस्तु है जिससे थके-मादे व क्षत-विक्षत जगत को त्राण मिलेगा। एक नई राह मिलेगी और एक नई सफलता के दर्शन होंगे। क्या अहिंसा में निष्ठा रखनेवाले इस पर सोचेंगे ?

७७ : आत्म-सुधार की आवश्यकता

सूरत मे आज हमारा प्रथम आगमन है। कितने बुजुर्ग श्रद्धालु जनों की प्रतीक्षा थी कि मैं सूरत आऊँ, प्रतीक्षा प्रतीक्षा में ही बहती सी चली गयी। मैंने अहमदाबाद आने की घोषणा की थी। आज मेरा वह वचन पूरा हुआ। मैं अपने को हल्का—मुक्तभार समझता हूँ। जोधपुर से लगभग ८५० मील की लम्बी यात्रा कर यह सूरत का आगमन हुआ है।

सूरत के नागरिकों ने स्वागत किया। पर वे समझते हैं—साधु-संतों के स्वागत और नेताओं व राजा महाराजाओं के स्वागत में अन्तर होता है जैसा कि उनके जीवन में भी अन्तर होता है। साधु-संतों के जीवन का लक्ष्य और साधु-जीवन का पथ त्याग है। अतः उनके स्वागत का अभिप्राय है—त्याग का स्वागत और जीवन मे उसका स्वीकरण। जहाँ तक बन पड़े सूरत के नागरिक ऐसा करने का प्रयत्न करेंगे।

मैं यह सही मानता हूँ कि आज कहीं-कहीं धर्म के नाम पर धोखा, दया के नाम पर दम्भचर्या और पुण्य के नाम पर पाप का प्रसार है। यही कारण है कि आज तथाकथित धर्म और धार्मिकों से लोग दूर हटते जा रहे हैं, उनके प्रति श्रद्धा कम होती जा रही है। यह लज्जा की बात है कि जो भारतवर्ष धर्म-प्रधान देश कहलाता है वहाँ लोगों में मानवता तक का अभाव होता जा रहा है। पर, आज केवल इस पर खेद-प्रदर्शन करने से क्या बनेगा ? कुछ कर गुजरने की आवश्यकता है। मैं धर्म-प्रेमियों से कहना चाहूँगा—वे धर्म के सही तत्त्वों को समझें और उन्हें जीवन में ढालें तथा अन्य लोगों में प्रसारित करें किन्तु जीवन-

सुधार की शुरूआत उन्हें अपने से करनी होगी। आज बातों का या दूसरों को केवल उपदेश देने का समय नहीं है।

इसमें वे नियम रखे गये हैं जो सर्व-धर्म-सम्मत हैं। व्यक्ति-जीवन को सत्य और सात्विकपन के मार्ग पर लाएं—यह इस आन्दोलन का बीज है। लोग इसे समझेंगे, हृदयंगम करेंगे और जीवन में उतारेंगे ऐसा मुझे विश्वास है।

सूरत,
३० मई '५४

७८ : जीवन-विकास के चार साधन

मानव बुद्धिशील प्राणी है इसलिए वह विशेष रूप से विकास करना चाहता है। विकास की माग वर्तमान समय में कुछ ज्यादा बढ़ गई है। माग बढ़ी, फलतः कोशिश की गई, परिणामस्वरूप वायुयान बनाये गये। जल मे चलनेवाले विशाल समुद्री जहाज बनाये गये। विध्वंसक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण हुआ। इस विकास की वृद्धि मे दूसरी तरफ क्या हुआ? अध्यात्म का जलता चिराग मंद होता चला गया। मानव जीवन से नैतिकता, प्रामाणिकता और सादगी जैसे सद्गुण निकलने लगे। इनका सबसे बड़ा हेतु गलत विचार-सरणी है। आकाश में पक्षियों की तरह उड़ना, पानी मे मछलियों की तरह तैरना और प्रकृति पर नियन्त्रण करना विकास माना जाने लगा। इसे अध्यात्म की अविकसित दशा कहना चाहिये और इसका ही परिणाम है कि सही विकासी अध्यात्मवाद की उपेक्षा हो रही है। यह मानव के सामने पग-पग पर बाधाएँ उपस्थित कर रही है।

अध्यात्म मूलक संस्कृति मे विकास के चार साधन बतलाये गये हैं—लज्जा, दया, संयम और ब्रह्मचर्य। लज्जा से मतलब बुरे कार्यों को करते हुए लज्जा का अनुभव होना। दया से मतलब पापाचरणों में जाती हुई आत्म-संयम और ब्रह्मचर्य—ब्रह्म की साधना है। इस आध्यात्मिक विकास की परिभाषा में भौतिक विकास की सत्ता गौण हो जाती है— चेतन के विकास की प्रमुख। जब व्यक्ति चारों की आराधना करेगा तो उसे जीवन की परम विकासावस्था के दर्शन होंगे। परम विकास जैसा कि पहले

बताया गया है सब चाहते हैं। अतः सबको जीवन-विकास के इन चारों सूत्र को जीवन में उतारना चाहिये।

सूरत,
३० मई '५४

७६ : सत्संग की आवश्यकता

प्रत्येक मनुष्य को 'मानव धर्म क्या है'—यह समझना चाहिये। मनुष्य मन पर लाये तो आत्मा से परमात्मा बन सकता है। सचमुच वह इतना शक्तिशाली है। कार्यक्रम की पूर्ति के लिये ज्ञान की अपेक्षा है। ज्ञान के बाद ही सत्क्रिया हो सकती है। अन्यथा भले और बुरे तत्त्व की जानकारी के बिना सद् का आचरण कैसे किया जा सकेगा? यद्यपि आज वैज्ञानिक व सामाजिक शिक्षा की कमी नहीं है, उसे प्राप्त करने के साधन हैं और क्रमशः बढ़ते ही जा रहे हैं। ज्ञान आज के इन स्कूलों, कालेजों व विश्वविद्यालयों में नहीं मिलता। उनकी शिक्षा पद्धति इसको आवश्यक नहीं समझती। विद्यार्थी समुद्र के उस पार क्या हो रहा है—; विश्व के देशों में क्या हो रहा है, आदि-आदि बातें जानने को उत्सुक रहता है लेकिन स्वयं अपनी तरफ नहीं देखता। दूसरे की तरफ देखने में उसकी दृष्टि जितनी सूक्ष्मतया पहुँचती है उतनी अपने दोष देखने में नहीं। इसका परिणाम होता है कि मनुष्य को अपने में दोष नहीं दिखते फिर दोष देख ले भी तो कैसे? अन्तर्ज्ञान अपना दोष देखने के लिए अपेक्षणीय होता है। बाह्य ज्ञान व दृष्टि इस कार्य में सहायक नहीं हो सकती।

मानव-धर्म को समझने के लिए सत्संग की बहुत बड़ी आवश्यकता है। ज्ञान से संतों की वाणी को तोलो और उसे जीवन में उतारो। मत सोचो कि यह हमारे सम्प्रदाय की नहीं है। गुण को अपनाओ क्योंकि वह अच्छा है। हिचकिचाहट, संकुचितता और समाज के भय को छोड़ो। सत्य और अहिंसा की शक्ति आपको बल प्रदान करेगी। अतः सत्य, अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच तत्त्वों पर आधारित जो मानव-धर्म है, उसकी ओर अग्रसर बनो।

सूरत, (हरिपुरा)
३१ मई '५४

८० : मानव-जीवन और हमारा दृष्टिकोण

संसार भर की आश्चर्य से आश्चर्यजनक व दुर्लभ से दुर्लभ वस्तुओं में जितना आश्चर्यजनक व दुर्लभ मनुष्य-जीवन है उतना और कोई चीज नहीं। मनुष्य आश्चर्यजनक तो इसलिये है कि संसार के आश्चर्यों का केन्द्र व जनक वही है। दुर्लभ इसलिये है कि और वस्तुओं का निर्माण वह अपनी प्रतिभा से कर सकता है किन्तु मनुष्य-जीवन पाना उसकी प्रतिभा के वश की बात नहीं। प्रश्न हो सकता है कि मनुष्य मे ऐसी क्या असाधारण विशेषता है जिससे उसको इतना महत्त्व दिया जाता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य-जीवन वह भित्ति है जिसके सुदृढ आधार पर आत्मा अपने चरम लक्ष्य परमात्मा-पद को आत्मसात् कर सकती है। यह दूसरी बात है कि बहुधा मनुष्य ऐसे स्वर्णिम अवसर को पाकर भी अनादि-अज्ञान-अन्धकार मे पड़े रहते हैं और आत्म-पतन के मार्ग को अपनाकर इस दुष्प्राप्य मानव-जीवन को यों ही बर्बाद कर देते हैं। ऐसा करनेवाले वैसे ही हास्यास्पद बनते हैं और अन्त मे पछताते हैं जैसे कि एक स्वर्णथाल को कीचड़ फेंकने के काम में लेनेवाले, काले कज्जल से मतवाले गजराज पर लकड़ियों का भार देनेवाले तथा चिन्तामणि रत्न को काक उड़ाने में काम लेनेवाले व्यक्ति हास्यास्पद और अनुताप के भागी बनते हैं।

मानव-जीवन के लक्ष्य की सफलता की अनेक कड़ियाँ है। जिनमें आचारी, ज्ञानी और निःस्वार्थी संतों की सगत, सम्यक्त्व-ज्ञान और सम्यक् आचरण ये सर्व-प्रमुख है। स्वार्थी, ठग व नामधारी साधु न अपने को बन्धन-मुक्त बना सकते हैं और न औरों को। सासारिक बन्धनों मे बँधे हुए व्यक्ति से निर्बन्ध होने की आशा नहीं की जा सकती। यहाँ पर एक शिक्षाप्रद पौराणिक कथा याद आ जाती है:—

एक समय किसी राजा ने पैसे लेकर कथा सुनानेवाले किसी लालची व्यास जी से पूरे एक सप्ताह तक ध्यान लगाकर कथा सुनी। कथा सम्पूर्ण होने पर व्यासजी ने राजा को इसकी सूचना दी। राजा ने आश्चर्य भरे स्वरों मे कहा—क्या कहते हो व्यासजी; कथा समाप्त हो गई? यह कैसे? मुझे तो अभी तक कुछ ज्ञान हुआ ही नहीं।

व्यास जी ने समाधान के स्वरों मे राजा पर आरोप लगाते हुये कहा—'राजन्! ज्ञान न होने का तो यही कारण हो सकता है कि आपका ध्यान कथा सुनने मे न रहकर राज्य में लगा हुआ हो।' राजा ने प्रतिवाद करते हुए कहा—'नहीं, व्यास जी!

यह कहना बिलकुल मिथ्या है। मैंने पूरे ध्यानपूर्वक कथा सुनी है। हो सकता है आपने मुझे कथा पूरी न सुनाई हो।' इस प्रकार राजा और व्यास जी एक दूसरे पर आरोपों की झड़ी लगाकर आपस में झगड़ने लगे। इतने में ही वहाँ अकस्मात् नारदजी आ पहुँचे। उन्होंने सारी स्थिति का अध्ययन किया। फिर दोनों को युक्ति से समझाने का विचार कर उन्होंने राजा और व्यास जी के हाथों को रस्सी से बाँधकर तथा पैरों मे लकड़ी फँसाकर दोनों को अलग-अलग गड़ा दिया और फिर दोनों से परस्पर एक दूसरे को बन्धनमुक्त करने के लिये अनुरोध किया। दोनों ने कहा—'नारदजी! आप कैसी बात कर रहे हैं? हम खुद बँधे हुए हैं। ऐसी स्थिति में हम परस्पर एक दूसरे को कैसे खोल सकते हैं?' नारदजी ने राजा को सम्बोधित करते हुए कहा—'राजन्! समझे या नहीं? जो खुद बँधा हुआ है उससे निर्बन्ध बनने की आशा कैसे की जा सकती है? ये व्यास जी, जो सासारिक बन्धनों में फँसे हुए हैं और पैसे के मूल्य पर ज्ञान विक्रय करते हैं, उनसे तुम ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो, यह तुम्हारी कितनी बड़ी भूल है। तदनन्तर नारदजी ने राजा को निर्बन्ध करते हुए कहा—

बध्या स्यूँ बध्या मिले, त्यां स्यूँ कछुय न होय।
कर सगत निर्बन्ध की, छिनमें छोड़ें तोय॥

यह कथा तो दृष्टान्त है। दृष्टान्त में ऐसा समझना चाहिये कि मानव-जीवन की सफलता के लिये त्यागी व निर्लोभी सन्तो की सतत संगति अत्यन्त आवश्यक व उपयोगी है। देश मे आज सन्तो की कमी नही है, कमी है सच्ची साधना की। यही कारण है आज के तथाकथित साधओ के स्वार्थपूर्ण हथकंडों के कारण लोगो के हृदय उनके प्रति सशंक बने रहते हैं। आज उन्हे यदि कोई सच्चा साधु मिल जाता है तो यकायक उनपर उनका विश्वास नहीं होता। दूध से जला व्यक्ति छाछ को भी फूँक-फूँक कर पीता है। सच्चे साधु वे होते हैं जो कंचन और कामिनी के त्यागी होते हैं। वे न तो सामाजिक प्रपंचों मे पड़ते हैं और न राजनैतिक उलझनों मे उलझ कर अपना समय बर्बाद करते हैं। वे न पूंजीपतियों के पिठलग्गू होते हैं; और न पूंजी कही जानेवाली वस्तुओ से ही अपना निजी गठबन्धन जोड़ते हैं। वे निस्स्वार्थ भाव से प्रेरित होकर स्व-कल्याण के साथ-साथ एकमात्र परोपकार दृष्टि से जन-मंगल व जन-कल्याण के लिए प्रतिपल अपनी मूल्यवती सेवायें प्रदान करते हैं।

उनके विशुद्ध धार्मिक सन्देश व प्रवृत्तियाँ हर जाति, हर वर्ग और हर देश के नागरिकों के उद्धारार्थ ही होती हैं। वे अपने-आप पर नियंत्रण रखते है और औरों को आत्म-नियंत्रण का पाठ पढ़ाते हैं। वे स्वयं अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अकिंचनता का पूर्णतया पालन करते हैं और जन-जीवों को यथाशक्ति अपने जीवन में इनको उतारने की प्रेरणा देते हैं। शान्ति और समता उनका मूलमन्त्र होता है और उनको ही जन-जन व्यापी बनाने का वे सद्प्रयत्न करते रहते है। ऐसे साधुओं को परख कर अगर उनकी संगत की जाय तो आज का मनुष्य अपने बर्बरतापूर्ण नारकीय जीवन का अवश्यमेव कायापलट कर सकता है और एक नये नैतिक युग के निर्माण में अपनी मजबूत आधारशिला रखकर दुनियाँ के सामने एक अनुकरणीय आदर्श उपस्थित कर सकता है।

मनुष्य सच्चे सन्तों की संगत का अवसर पाकर भी उतना लाभ नहीं उठाता जितना उसे उठाना चाहिये। इस कथन का यही तात्पर्य है कि मनुष्य सन्तों के जीवन में चरितार्थ जो बातें देखता है, जो बातें उनके सदेशों में सुनता है उनमें वह यथेष्ट प्रेरणा ग्रहण नही करता। उसका देखना और सुना सिर्फ देखने और सुनने तक ही सीमित रह जाता है। आचरणों में उसका कोई सामंजस्य नही देखा जाता। देखने और करने, सुनने और करने, कहने और करने इन तीनों के बीच आज गहरी खाई पड़ी हुई है। इस खाई को पाटे बिना आज अनेक ज्वलन्त समस्याओं का समाधान निकल नही सकता। अगर मनुष्य यह सोचकर चले कि जिन बातों को मैं जीवन के लिये आवश्यक और उपयोगी समझता हूं उन्हें मैं यथाशक्य क्रियात्मक रूप में ही ग्रहण कर चलूँगा तो इससे वह अपने जीवन की गति मोड सकता है। थोड़े अंशो में भी अपनाई गई अच्छी चीज बड़ी हितप्रद और लाभदायक सिद्ध होती है। बीज बहुत छोटा होता है फिर भी वह अनुकूल परिस्थितियों को पाकर एक विशालकाय वृक्ष के रूप में अपनी महान् उन्नति कर लेता है। इसी तरह आंशिक रूप में अपनाई गई आत्मिक श्रद्धा व विश्वासरूपी सत् क्रिया, अनुकूल परिस्थितियों के बीच फलती-फूलती एक दिन व्यापक रूप अपनाकर लहलहा उठती है। ऐसा होने से निश्चित रूपेण कीमती मनुष्य-जिन्दगी का सही रूप में मूल्यांकन हो सकेगा और प्राणिमात्र का अभिकाम्य-सौख्य व शान्ति का पथ निष्कटक व निर्बन्ध बन सकेगा।

भलाई और बुराई का विवेक होना मनुष्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है। उनको जाने बिना भलाई का ग्रहण और बुराई का परिहार कैसे हो सकता है? भलाई और

बुराई ये दोनों संसार में अनादिकाल से चलती आ रही हैं। ये मनुष्य की अन्त-र्वृत्तियों में छिपी रहती हैं। जब-जब संसार में भलाई का ह्रास और बुराई का विकास होता है तब-तब संसार में दुःख, दैन्य व विपत्तियों का नृशंस आक्रमण होता है। आज मनुष्य-जाति की हिंसा-प्रधान वृत्तियाँ बुराई के उत्थान-काल की सूचक हैं। बुराइयाँ आज जन-जीवन में इस प्रकार घर कर गई हैं कि आज उनको पहचान कर जीवन से दूर करना दुःसाध्य-सा हो गया है। बुराइयों के कारण मनुष्य खोखला हो रहा है। वह पनप नहीं रहा है। अच्छाइयों से उसने आँखें मूंद रखी हैं। यह स्थिति भयानक है। यह दौरदौरा अगर ऐसा ही चलता गया तो वह दिन दूर नहीं जब मानवता और दानवता के बीच कोई भेद-भाव नहीं रह जायेगा। अतएव समय रहते मनुष्य सचेत होकर इस दुर्निवार स्थिति के प्रतिकार के लिये सक्रिय उद्योग करें।

आजकल एक नई संकीर्णता और चल पड़ी है। वह यह कि भाई! यह चीज तो अच्छी है, मगर यह अपने मत, अपने सम्प्रदाय व अपने समाज की नहीं; अमुक मत, अमुक सम्प्रदाय व अमुक समाज-विशेष की है इसलिये ग्राह्य नहीं। किसी के अच्छे तत्त्वों को भी अगर ऐसा समझकर अग्राह्य समझा जाता है तो यह बुद्धि-विपर्यय के सिवाय और कुछ नहीं। और तो और, धार्मिक सम्प्रदायों में भी जो यह बात चल पड़ी है वह विचारणीय है। अमुक धर्म ठीक नहीं, या ठीक है, पर ग्राह्य नहीं, क्योंकि वह अपनी सम्प्रदाय द्वारा नियमित नहीं है—यह कैसा न्याय! क्या वर्षा के जल में कोई अन्तर हो सकता है? वह कहीं भी पीकर देखा जाय उसका स्वाद मीठा ही होगा। यह दूसरी बात है कि यदि वह अच्छे पात्र में गिरेगा तो अच्छा कहलायेगा और गन्दे पात्र में गिरेगा तो गन्दा। मगर जल के मौलिक स्वरूप से इस भेद की कल्पना करना यथार्थ नहीं। गन्दे पात्र का गन्दापन दूर हटाते ही जल अपने निर्मल रूप में निखर उठेगा। इसी तरह सत्य, अहिंसा, त्याग, तपस्यामय मौलिक धर्म चाहे कहीं भी हो वह सबके लिए ग्राह्य है। वाक्यान्तर और स्थानान्तर से न तो उसके स्वरूप में किसी प्रकार के अन्तर की कल्पना की जा सकती है और न वह अग्राह्य ही समझा जा सकता है। हाँ, यह अवश्य है अगर धर्म के ठेकेदार कहलानेवाले धर्म की वास्तविक मर्यादाओं के अनुकूल अपने आपको नहीं बनाते हैं तो वे भले पात्र कहलाने के अधिकारी नहीं हो सकते। ऐसी स्थिति में

धर्म का स्वरूप विशुद्ध होते हुए भी उपयुक्त पात्र के अभाव में वह आलोचना का विषय बन जाता है। विशुद्धात्मा में ही विशुद्ध-धर्म का निवास हो सकता है। अतएव जीवन को विकसित व उन्नत करनेवाली प्रक्रिया चाहे कहीं भी प्राप्त हो उसे लेने मे मनुष्य को किसी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं होनी चाहये।

आज के युग की जलती समस्याओं और हिंसा के प्रबल वातावरण की चुनौती को देखते हुए धार्मिक सम्प्रदायों का यह कर्तव्य होना चाहिये था कि वे अहिंसा के सार्वजनिक मन्त्र पर संगठित होकर युग की चुनौती के विरुद्ध एक प्रतिशोधात्मक मोर्चा स्थापित करें। मगर आज इसके विपरीत हो रहा है। धार्मिकों का वह पवित्र उद्देश्य कहाँ कि वे विश्व-बन्धुता और विश्व-मैत्री का अधिक से अधिक प्रचार व प्रसार करेंगे और कहाँ आज की स्थिति कि वे परस्पर लड़-झगड़ कर अपनी शक्ति को विनष्ट कर रहे हैं। साम्प्रदायिकता का भूत एक ऐसा ही भूत है कि जो मनुष्य को संकीर्णता की सीमा के बाहर नहीं झाँकने देता। इतना ही नहीं, वह मनुष्य को ऐसे षड्यन्त्र रचने की ओर प्रेरित करता है जो उन धार्मिक कहलानेवाले व्यक्तियों के लिये एक कलक का टीका है। एक धार्मिक सम्प्रदाय, इतर धार्मिक सम्प्रदाय के साथ अमानवीय व्यवहार करता है, एक दूसरे पर आक्षेप व छींटाकशी करता है, एक के विचारों का विकृतरूप बनाकर लोगों को भड़काने व बहकाने के लिये प्रचार करता है तो यह अपने आपके साथ धोखा है, अपनी कमजोरी का प्रदर्शन है, अपने दुष्कृत्यों का रहस्योद्घाटन है और अपनी संकीर्ण भावना व तुच्छ मनोवृत्ति का परिचायक है। अगर कोई धार्मिक सम्प्रदाय, दूसरे धार्मिक सम्प्रदाय को गिराने का प्रयास करता है तो यह उसकी अनधिकार चेष्टा व अहिंसा के प्रति अनुत्तरदायी होने का द्योतक है।

इस बार जोधपुर में एक सम्प्रदाय-विशेष के द्वारा हमारा विरोध किया गया। हमारे विचारों को विकृत रूप में ढालकर जन-मानस में हमारे प्रति घृणा फैलाने के लिये दुष्प्रयत्न किया गया। यह अहिंसा-धर्म को जीवन मे ग्रहण कर चलने वाले व्यक्तियों के लिये नितान्त अशोभनीय व अनुचित था। विचार-भेद होना एक बात है लेकिन उसको लेकर मतभेद पैदा करना और विरोधी वातावरण को उभाड़ना मानवीय-आदर्शों के सर्वथा प्रतिकूल है। दिमाग-दिमाग के जब अलग-अलग विचार होने अस्वाभाविक नहीं तब उनको लेकर गन्दे वातावरण का निर्माण करना अपनी

शक्ति का दुरुपयोग करना है। मैंने यहाँ दिवालों और दूकानों पर तो क्या, आम सड़कों पर भी बड़े-बड़े पोस्टर चिपके हुए देखे जिन पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा हुआ था—'आचार्य तुलसी के अमानवीय सिद्धान्त'। पुस्तक के भीतर वे ही सदा वाली बातें, सदा की तरह, विद्रूपता मे परिणत कर अंकित की गई थीं। मुझे इस प्रकार के मिथ्या लाँछनों व गलत कदमों से कोई क्षोभ, रोष या भय नहीं। मगर मुझ में यह विचार अवश्य आया करता है कि कोई भी व्यक्ति जो अपने आपको धार्मिक मानता है, वह युग, धर्म व मानवता के प्रतिकूल इस प्रकार के कृत्यों में कैसे भाग ले सकता है ! उसके हृदय में यह विचार क्यों नहीं आता कि मैं गलत तरीके से किसी को गलत प्रचारित करने के लिये कितनी दुश्चेष्टाएँ कर रहा हूँ !

कई व्यक्तियों ने, जो बाद मे मेरे सम्पर्क मे आये मुझसे कहा—'महाराज ! हमने आपके विरोध मे यहाँ खूब पढ़ा व खूब सुना। हम देखते रहे कि देखें अब दूसरी ओर से इसके प्रतिकार में क्या-क्या आता है। मगर आखिर मे निराश होना पड़ा। कई दिनों तक प्रतीक्षा करने के बावजूद हमे आपकी ओर से प्रतिकार के रूप में एक जलती हुई छोटी-सी चिनगारी भी नहीं मिली। हम तो सोचते थे कि यह जो एक सम्प्रदाय-विशेष के प्रति चिनगारियाँ प्रज्वलित की जा रही हैं और इस तरह विष-वमन किया जा रहा है इसका परिणाम बड़ा ही भयंकर आयेगा। मगर आपने प्रतिकार-रूप मे कुछ भी न कर उन जलती हुई चिनगारियों को आत्मिक सहिष्णुता के छींटे छिड़क कर बुझा दिया और उस उगले हुए विष को अपने उदार उदर में निगल कर हजम कर लिया, यह देखकर हमें आपके पास आने की प्रेरणा मिली और हमे यह विश्वास हुआ कि जो विरोध का विरोध के द्वारा प्रतिकार नहीं करता वह अवश्य ही कोई सामर्थ्यवान व्यक्ति है।' सचमुच हमारे पूर्वजों ने जिस नीति का उन्नयन किया वह वास्तव मे प्रत्येक भिन्न विचार रखनेवाले सम्प्रदायों, संस्थाओं व व्यक्तियों के लिये अत्यन्त उपयोगी है। हमारी नीति यह है कि हम न तो किसी का विरोध करते हैं और न किसी के विरोध करने पर विरोध के द्वारा उसका प्रतिकार करते हैं। विरोध के सामने विरोध लेकर बढ़ने में जहाँ समय की बरबादी है वहाँ मानसिक पतन भी कम नहीं। विरोध को विनोद समझकर हँसते-हँसते उसको लाँघ जाना कायरता व कमजोरी नहीं बल्कि आत्म-बल का जीता-जागता उदाहरण है। विरोध का हम स्वागत करते हैं और उसको हम अपने प्रचार तथा प्रगति के अन्यान्य अंगों में से एक मुख्य अंग

समभते हैं। न हमारे पैसे लगते हैं और न कागज, न स्याही लगती है और न समय, फिर भी हमारी प्रख्याति हो जाती है। अनभिज्ञ लोगों में हमारा प्रचार होता है। फिर क्यों न हम अपने विरोध को अपनी प्रगति का सूत्र समभें। मैं अनेक बार कह चुका हूँ और आज भी उसी बात को दुहराऊँगा कि मुझे विरोध का उत्तर काम से देना है। मुझे ऐसा लगता है कि जो विरोध करनेवाले हैं संभवतः उनके पास कोई काम नहीं, वे निकम्मे बैठे हैं; अन्यथा वे विरोध करके कौन-सी प्रगति कर लेंगे? व्यक्तिगत आक्षेपों को मैं प्रगति नहीं, घोर दुर्गति मानता हूँ। आज युग की माँग को देखते हम अहिंसावादियों के सामने इतना कार्य पड़ा है कि हम अपनी समूची शक्ति लगा कर भी उसकी पूर्ति नहीं कर सकते। ऐसे अनुकूल समय में भी अगर हममें से कोई उस ओर से मुँह मोड़कर प्रतिक्रियावादिता की कीचड़ उछालता है तो यह उसके लिये शर्म की बात है। जहाँ तक मैं समभता हूँ, यहाँ हमारे विषय मे जो मिथ्या भ्रान्तियाँ फैलाई गईं, उनका उस समाज के व्यक्तियों पर कोई असर नहीं हुआ जो किसी भी बात को गम्भीर-चिन्तन के बाद ग्रहण करते हैं तथा जिसके विरुद्ध में जो भ्रातियाँ फैलाई जाती हैं उनके सिद्धान्तों का सही अध्ययन करने के बाद किसी एक निर्णय पर पहुँचते हैं। अब रही साधारण लोगों की बात, जिनका भ्रान्त बनना मेरी दृष्टि मे कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता और जो विरोधियों द्वारा प्रचारित की जानेवाली बातों को हा यथातथ्य मानने में किसी ऊहापोह का अनुभव नहीं करते, उनसे तत्त्व को हृदयङ्गम करने की क्या आशा की जाय?

अब मुझे संक्षेप में यह बताना है कि हमारे सिद्धान्त क्या हैं? किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप किये बिना अपने सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण करना पहले भी मेरा काम रहा है और आगे भी रहेगा। इस प्रसङ्ग में एक बात मैं लोगों से जोर देकर कहूँगा कि जिस प्रकार दूसरे के विचारों को जानबूझकर उन्हें विकृत बनाकर दुरुपयोग करना एक अक्षम्य भूल और न्याय-नीति का गला घोंटना है उसी प्रकार विरोधियों के विरुद्ध प्रचार को उसका ईमानदारीपूर्वक अन्वेषण किये बिना सही मान लेना भी एक भयंकर भूल है। ऐसी स्थिति मे सही रास्ता यही है कि जो मनुष्य जिसके विषय में विरुद्ध प्रचार सुने उसका सर्वप्रथम कर्तव्य तो यह है कि वह उसके सिद्धान्तों का निष्पक्ष बुद्धि से अध्ययन कर फिर किसी निर्णय पर पहुँचे। बिना ऐसा किये जो

सुना उसे सही मान बैठना अपनी बुद्धि, दिमाग व हृदय के साथ खिलवाड़ करना है।

विरोधी लोग जनता को गुमराह करने के लिये मुख्यतया हम पर ये आक्षेप लगाते हैं—"ये तेरापन्थी लोग किसी मरते हुए प्राणी को बचाने में पाप मानते हैं; माता-पिता की सेवा मे पाप मानते है और अपने सिवाय किसी अन्य साधु को दान देने मे पाप मानते हैं; आदि-आदि।"

इस विषय मे हमारे सिद्धान्त ये हैं कि हम धर्म को बलात्कार और प्रलोभन के साथ नहीं जोड़ना चाहते। धर्म वहाँ है जहाँ हृदय-परिवर्तन है। धर्म पर एक गरीब व निर्बल का उतना ही अधिकार है जितना एक अमीर व बलवान का है। धर्म के मंच पर यह नहीं हो सकता कि एक धनवान अपने चन्द चाँदी के टुकड़ों के बल पर तथा एक बलवान् अपने डण्डे के प्रभाव पर धर्म को खरीद लें और गरीब व निर्बल अपनी निराशाभरी आँखों से ताकते ही रह जायें। धर्म को ऐसी स्वार्थमयी असंतुलित स्थिति कभी मंजूर नहीं। उसका धन और बल-प्रयोग से कभी गठबन्धन नहीं हो सकता। उसे उपदेश या शिक्षा द्वारा हृदय-परिवर्तन कर ही आराधा जा सकता है। कसाई और बकरे का ही उदाहरण लीजिये। बल-प्रयोग द्वारा कसाई से बकरा छुड़ाना हिंसा है और हिंसा से कभी हिंसा नहीं मिटाया जा सकती। क्या खून से सना वस्त्र खून से साफ किया जा सकता है? दूसरा साधन है—प्रलोभन। कसाई को रुपये देकर बकरे को बचाया जा सकता है लेकिन सोचना यह है कि क्या रुपये देने से बकरा बच गया? क्या कसाई की आत्मा जो सदा मरती रहती है वह बची? क्या उन रुपयों से कसाई दूसरे दिन दुगुने बकरे खरीदकर नहीं काटेगा! पैसे के बल पर धर्म का अर्जन करनेवाले के पास इन सब प्रश्नों का कोई समाधान नहीं मिल सकता। पैसों के द्वारा बकरे को बचानेवाले जहाँ कसाई के व्यापार को सहयोग प्रदान करते हैं, हिंसा की वृद्धि मे परोक्षतया अपनी सक्रिय सहायता पहुँचाते हैं, वहाँ धर्म की सार्वजनीनता में भी अनुचित हस्तक्षेप करते हैं। वस्तुतः चाहे धन दें, चाहे बल का प्रदर्शन करें और चाहे बकरा बच भी जाये मगर जब तक कसाई की हिंसा-जर्जर आत्मा का सुधार नहीं होगा और उसके हृदय में हिंसा के प्रति विद्रोह और विद्वेष जागृत नहीं होगा तब तक धर्म का कोई सवाल ही नहीं उठ सकता। मूलतः धर्म का सम्बन्ध शरीर-रक्षा के साथ न होकर आत्म-रक्षा के साथ जुड़ा हुआ है।

अतः आध्यात्मिक दृष्टि में बकरे की शरीर-रक्षा को महत्त्व न देकर कसाई की आत्म-रक्षा को महत्त्व दिया जाता है। एक कसाई की अन्तर्वृत्तियाँ सुधर जायेंगी तो फिर उससे संसार के सारे बकरों को किसी प्रकार का भी खतरा नहीं पहुँचने वाला है। कसाई की अन्तर्वृत्तियों का सुधार उपदेश, शिक्षा व हृदय-परिवर्तन से ही हो सकता है। अतएव लौकिक-दृष्टि से चाहे बकरे के बचाने को प्रमुखता दी जाय, मगर आध्यात्मिक व यौक्तिक दृष्टि से बकरे की अपेक्षा कसाई की आत्मा का बचना अत्यन्त आवश्यक है। कसाई के बचने की क्रिया का प्रासंगिक परिणाम ही बकरे के बचाव के रूप में प्रगट होता है। धर्म-नीति, समाज-नीति और राज-नीति का अन्तर भी इन्हीं सब बातों से पहचाना जाता है। जहाँ राज-नीति व समाज-नीति, प्रलोभन व डण्डे के बल पर लालच व आतंक पैदा कर अपनी साम्राज्य रचना करती है वहाँ धर्म-नीति हृदय-परिवर्तन के माध्यम से जन-जन के अन्तर—हृदय तक अपनी स्फटिकोज्जवल किरणें बिखेरती हुई अपनी निर्दोष व निर्विघ्न भूमि का निर्माण करती है।

दूसरे प्रश्न के विषय में मुझे सिर्फ इतना ही कहना है कि हमारी ऐसी मान्यता है ही नहीं कि तेरापंथी साधु-साध्वियों के सिवाय अन्य कोई भी दान का अधिकारी व सुपात्र नहीं है। हमारी तो यह मान्यता है कि संसार में जो भी शुद्ध साधु और साध्वी हैं उन सब को दान देने में धर्म होता है। अब अगर कोई यह जानना चाहे कि शुद्ध साधु-साध्वी कौन-कौन हैं, किस-किस सम्प्रदाय के साधु-साध्वियों को आप शुद्ध मानते हैं, तो इसका मैं कुछ भी उत्तर नहीं दे सकता। जहाँ व्यक्तिगत चर्चा हो वहाँ उलझना मैं अपने विचारों के बिलकुल प्रतिकूल मानता हूँ। हाँ, यह मैं अवश्य बता सकता हूँ कि शुद्ध साधु-साध्वियो की परीक्षा—कसौटी क्या है? मेरी दृष्टि मे वह कसौटी है—सम्यग्-ज्ञान, सम्यग्-दर्शन और सम्यग्-चारित्र। जिस व्यक्ति मे ये तीनों बातें मिलती हों, चाहे फिर वह किसी भी सम्प्रदाय या पंथ का हो वह शुद्ध साधु या शुद्ध—साध्वी है और उसको दान देने मे एकान्त-धर्म है।

इसके साथ यह भी कहा जाता है कि ये तेरापंथी लोग भूखे-प्यासे को भिक्षा देने का निषेध करते हैं। यह बात एकान्त मिथ्या है और हमारे विचारों की हत्या है। हम किसी को देने में निषेध करनेवाले को साधु नहीं मानते। भूखों-प्यासों को खिलाना-पिलाना सामाजिक व्यवस्था व आपसी सहयोग है; जो समाज मे रहते हैं उन्हे सब कुछ करना ही पड़ता है। कोई पूछे कि इसमें धर्म है या अधर्म? इस प्रश्न का

उत्तर समझने के लिए आप यह समझिए कि जहाँ संयम का पोषण है वहाँ धर्म है और जहाँ यह नहीं वहाँ धर्म का भी कोई सवाल नहीं। भूखा-प्यासा प्राण भी समाज का एक अंग है और इस नाते से समाज उसे अपना सामाजिक बन्धु समझ कर उसे सामाजिक सहयोग प्रदान करता है। इसमें धर्म और पुण्य का सवाल ही कौन-सा उठता है ? अतएव यह स्पष्ट है कि सामाजिक दृष्टि से चाहे इसे कुछ भी कहा जाय—सामाजिक धर्म, सामाजिक कर्त्तव्य अथवा सामाजिक सहयोग, मगर आध्यात्मिक दृष्टि से यहाँ धर्म नहीं कहा जा सकता।

अन्त में मैं लोगों से यही कहना चाहता हूँ कि वे आज प्रगट किये गये हमारे विचारों पर गहराई से चिन्तन व मनन करें। मैं सबको यह सलाह दूँगा कि प्रत्येक व्यक्ति-सोच विचार कर यह निर्णय करे कि उसका अधिकार क्या है ? क्या उसको अपने विचारों का प्रचार करने का ही अधिकार है या औरो के विचारों का गलत प्रतिनिधित्व कर उनका गलत प्रचार करने का भी। मेरी दृष्टि मे सज्जनोचित तरीका यही है कि मनुष्य अपने विचारों का प्रतिनिधत्व करता हुआ उनका प्रचार करे। औरो के विचारो का गलत प्रतिनिधित्व व गलत प्रचार करना सज्जनोचित तरीका नहीं। वह दुर्जनोचित तरीका है इसलिये हेय है।

८१ : स्व और पर का उत्थान

आज १००० मील पूरी लम्बी यात्रा कर के हमारा बम्बई (बोरीवली) आगमन हुआ है। आज ऐसा लगता है कि चारों संघ मानो निश्चिंत हो गये हैं। इतनी गर्मी में इतने लम्बे-लम्बे विहार आदि का जो विचार हो रहा था वह भी आज दूर हो गया है। लोग बम्बई आगमन की कल्पना कर रहे थे लेकिन मैं तो फाल्गुन मास मे ही कल्पना तो क्या, अपनी डायरी मे भी लिख चुका था कि मुझे अबकी बार बम्बई पहुँचना है। जो विचार—कल्पना की और लिखा वह आज पूरा हो रहा है इस पर मुझे पूर्ण प्रसन्नता है। जिस तरह यह यात्रा सानन्द सफल हुई है उसी तरह मुझे विश्वास है कि यह प्रवास भी सफल होगा। सफल तो है ही पर विशेष होगा ऐसा मुझे पूर्ण भरोसा है। रास्ते मे हमारे साध-साध्वियों और श्रावक-श्राविकाओं ने भी बड़े आत्मबल का परिचय दिया है। वृद्ध और बीमार अवस्था होने पर भी साधु और साध्वियों ने लम्बी-लम्बी मंजिलें तय कीं और श्रावक-श्राविकाओं ने भी जगह और अन्य सुविधाओं के अभाव में भी अच्छा धर्म-लाभ लिया। रास्ते की भी अच्छी

सुविधा रही। यात्रा सम्पूर्ण है, ऐसा तो नहीं कहना चाहिये पर बम्बई की यात्रा आज एक प्रकार से पूर्ण हो गई है। जो आत्मबल हमें मिला है वह निरन्तर बढ़ता रहे, अपने प्रण को हम प्राणों की बलि चढ़ाकर भी पूर्ण करें—इसी भावना को सायंकालीन प्रार्थना के दो चरण व्यक्त करते हैं—

दृढ निष्ठा नियम निभाने में, हो प्राण बली प्रण पाने में।
मजबूत मनोबल हो ऐसा, कायरता कभी न लाये हम॥

प्रभु ! हम में वह आत्मबल जागृत करें जिससे हम स्व और पर के उत्थान में निरन्तर अधिकाधिक गतिशील बने रहें।

बोरीवली,
१२ जून '५४

८२ : सर्व धर्म समन्वय

यहाँ के लोगों ने हमारा स्वागत किया यह उनकी हार्दिक भक्ति के अनुरूप ही है। यद्यपि हमें इसमें कोई खास अभिरुचि नहीं क्योंकि साधु निन्दा और प्रशंसा में सम रहता है। निन्दा करने से वह क्षुब्ध नहीं होता और प्रशंसा से फूलता नहीं। अध्यात्म की भूमिका मे रमे हुए लोगों द्वारा अध्यात्म के उपासकों का स्वागत है। अतः उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। यहाँ त्यागियों का स्वागत होता रहा है भोगियों का उतना नहीं। भोग के सिंहासन यहाँ विशेष न टिक सके पर त्यागियों की जीवन-गाथाओं का आज भी पुण्य-स्मरण किया जाता है। त्यागियों के स्वागत की परम्परा त्याग के द्वारा निभे यही मेरी इच्छा है।

आज चारों तरफ से अशान्ति और दुःख की आवाजें आ रही हैं। उसका मूल कारण गलत रास्ते पर अनुगमन है। बाह्य साधन जो दुःख और अशान्ति बढ़ानेवाले हैं उनमे सुख और शान्ति की कल्पना की गई ! कल्पना भी क्या ? पानी मे से मक्खन निकालने की कल्पना ! सभव भी कैसे हो ? बाह्य साधनों से सम्पन्न व्यक्ति भी दुःखी रह सकता है और एक इनके अभाव में सुखी। फलितार्थ यही है कि बाह्य साधनों में सुख नहीं, सुख की भ्रमणा है। जब तक बाह्य साधनों से आकर्षण हटकर आत्मिक साधनों में नहीं लगेगा तब तक सुख और शान्ति का मिलना सम्भव नहीं।

आप शायद सोचेंगे—महाराज सुख-प्राप्ति के लिये साधु बनने को कहेंगे ! लेकिन हरएक के लिये मैं ऐसा नहीं कहूँगा। गृहस्थ-जीवन में भी आप सुखी हो सकते हैं। परन्तु शर्त यह है कि धनकुबेर बनने की भावना मिटे ; संग्रह की वृत्ति मिटे, अन्याय और अनीति के प्रति घृणा उत्पन्न हो। एक रूप मे मानव धर्म को अपनाना होगा। मानव धर्म मे सब धर्मों का समन्वय होगा। उसे जातिवाद और वितण्डवाद से परे रखना होगा। कानून की प्रणाली से वह भिन्न होगा। वहाँ हृदय-परिवर्तन को महत्त्व मिलेगा। उस मानव-धर्म के बिना कोई भी व्यक्ति ऊँचा नहीं उठ सकता, अतः सब को उसकी उपासना करनी होगी।

बोरीवली,
१२ जून '५४

८३ : संगठन के मूलसूत्र

यह एक सही बात है कि युवक अगर चाहें तो बहुत काम कर सकते हैं और इसके विपरीत यदि वे न चाहें (अर्थात् सहयोग से हाथ खींच लें) तो कोई भी कार्य नहीं बन सकता। और यह स्पष्ट भी है। इस बात के उदाहरणों की भी कोई कमी नहीं। प्रत्येक क्रान्ति युवकों के सहयोग व असहयोग पर हा सफल व असफल होती रही है। वृद्धों की अपनी जिम्मेवारी रहती है लेकिन कार्य युवक लोग ही करते हैं और वे हा कर भी सकते हैं।

युवकों मे जिस प्रकार शरीर-बल है उसी प्रकार अगर उन में चारित्र-बल भी हो तो संगठन टिक सकता है। बिना चारित्र-बल के कोई भी संस्था अधिक दिनों तक चल नहीं सकती। संगठन का आधार चारित्र होना चाहिये, यह मेरा निश्चित मत है। जहाँ चारित्र की असमानता होगी वहाँ एकता हो ही कैसे सकती है ! जिस संस्था में जितने अधिक चारित्रवान एवं निःस्वार्थ व्यक्ति होंगे वह संस्था उतनी ही अधिक सजीव और दीर्घायु होगी ; अन्यथा स्वार्थों के संघर्ष में संगठन कभी भी पिस कर मर जायेगा। यहाँ पर संगठन के लिये आवश्यक तत्त्वों का विवेचन किया जाता है।

युवकों से मेरा बहुत सम्पर्क रहा है अतः मैं उन्हें पहचानता भी खूब हूँ। कई युवकों को तूफान जैसा जोश आया करता है और उस समय, न जाने, वे क्या-क्या आयोजनायें व कल्पनायें बना डालते हैं। पर बाद में उनका जोश ठंडा पड़ता है और वे शिथिल होकर बैठ जाते हैं। ऐसे युवकों से कुछ होने-जाने का नहीं।

दूसरे प्रकार के युवकों में क्रान्ति आती है लेकिन वे स्थायी रूप में धीरे-धीरे काम करते हैं। वे एक साथ शोरगुल नहीं मचाते, अपनी शक्ति और स्थिति को देखकर काम करते रहते हैं और आखिर वे बहुधा सफल होते भी देखे जाते हैं।

चारित्र न तो किसी दूसरी जगह से आता है और न खरीदा हा जा सकता है। वह अपने-आप में ही है और अपने-आप ही उसका विकास किया जा सकता है। हां, सम्पर्क से प्रेरणा अवश्य मिल सकती है और वह सम्पर्क है चारित्रवान का। चारित्रवान के सम्पर्क में रहने से चारित्र की वृद्धि हो सकती है। साधुओं से बढ़कर कौन अधिक चारित्रवान हो सकता है! अतः अगर आपको चारित्र को समुन्नत करना है तो साधुओं का अधिक से अधिक सम्पर्क करें।

चारित्रवृद्धि का मतलब है सर्वथा अहिंसक बन जाना। पर यदि आप सर्वथा अहिंसक न बन सकें तो कम से कम निरर्थक हिसा को तो छोड़ें। पूर्ण ब्रह्मचारी न बन सकते हों तो व्यभिचार का तो त्याग करें। इस प्रकार सादृश्य आचार से आपके संगठन की नींव जम जायगी। **'संघे शक्तिः कलौ युगे'**—इस कहावत के अनुसार संगठन में बहुत बल आ जाता है और उसके प्रभाव से बड़े-बड़े कठिन कार्य भी सरल बन जाते हैं।

अब प्रश्न आता है कि संगठन का संचालन कैसे हो ! इस विषय में मेरा स्पष्ट मत है कि एकतन्त्रीय संगठन हा सब से अधिक सफल हो सकता है। जहाँ जनतन्त्र है वहाँ भी वास्तव में एकतन्त्र ही रहता है। कहने का मतलब यह है कि प्रमुख रूप से कोई-न-कोई एक ही नेता या पदाधिकारी होगा। अगर सारे हा व्यक्ति नेता बन जायें और अपने-अपने राग आलापने लगें तो उस संस्था का चलना मुश्किल हो जायगा। नीतिकारों ने कहा भी है :—

बहवो यत्र नेतारः सर्वे पण्डित-मानिनः।
सर्वे महत्त्वमिच्छन्ति तद्वृन्दमवसीदति ॥

और भी कहा है :—

नहि-पति बहु-पति निबल-पति पति-कुमार पति-नाथ।
और पुरनकी का कहौं सुरपुर होत उजाड़ ॥

इसका उल्लेखनीय उदाहरण हमारा ही लीजिये। हमारे यहाँ एक गुरु की ही आज्ञा चलती है। उसीके अनुशासन में सारे साधु-साध्वियाँ रहते हैं, तो क्या इसका

यह मतलब है कि उनमें कोई विद्वान है ही नहीं ? नहीं नहीं, इसका यह मतलब कभी नहीं है। हमारे बहुत से साधु-साध्वियाँ उच्च कोटि के विद्वान हैं फिर भी संगठन की सीमा में अधिक से अधिक योग्य बनें पर संगठन का आधार गुरु की आज्ञा ही हो। एकतन्त्रीय प्रणाली रहेगी तब ही संघ सुचारू रूप से चल सकेगा। संगठन मे अपने-आपको महत्त्व नहीं दिया जाता, वहाँ 'अहं' को भूलना होता है। वहाँ कोई यह नहीं कहेगा कि 'मैं बड़ा हूँ।' सभी का एक यही नारा होगा कि तुम बड़े हो। ज्योंही अपने-आपको अधिक महत्त्व देने की भावना जागेगी त्योंही फूट पड़े बिना न रहेगी क्योंकि 'अहं' वृत्ति में न्याय नहीं देखा जाता ; वहाँ तो यही सोचा जाता है कि किस प्रकार से मेरा 'अहं' सुरक्षित रहे और इसके लिये जैसा जो कुछ भी साधन मिलेगा, 'अहं' भावी मनुष्य उसे प्रयोग करने में भी संकोच नहीं करेगा। इसका मतलब यह होगा कि दूसरों मे असन्तोष पैदा होगा और इसी असंतोष की भावना से मनमुटाव बढ़ेगा और फलतः संघ अव्यवस्थित हो जायगा।

यह भी आवश्यक है कि संघ के नियन्ता निःस्वार्थ हों। यदि उनमें स्वार्थ आ गया तो न तो उनका नेतृत्व ही रहेगा और न संघ ही। इसलिये एकतन्त्रीय शासन मे निःस्वार्थ नेता होना सबसे अधिक आवश्यक है। उन्हें प्रत्येक आदेश देते समय यह ख्याल रखना होगा कि इसमें किसी व्यक्ति-विशेष का स्वार्थ न रहकर सारे संघ का कल्याण हो। इस प्रकार उनमे व्यक्ति को विशेष महत्त्व न देकर संघ को अधिक महत्त्व मिलेगा जिससे संघीय भावना विशेष जोर पकड़ेगी और संगठन अक्षुण्ण रूप से चलता रहेगा। अगर संचालन में वक्रता आ जायगी तो पंचों मे खड्डोंवाली कहावत सिद्ध हो जाती है। कई-कई पंच ऐसे होते हैं जो नीचे को सरकाते हैं। सारा काम तय हो जाने पर भी आखिर में वे एक ऐसी बात कह देते हैं कि जिससे सारे किये-कराये पर पानी फिर जाता है और ऊपर से कहते हैं—अरे ! यह सारा काम कैसे बिगड़ गया ? ऐसे संचालकों से संघ कभी नहीं चल सकता, उन्हें तो बिलकुल सरल और निःस्वार्थ होना चाहिए।

युवकों में यदि संगठन की सच्ची तड़प है तो उन्हें युवकों और बुजुर्गों के बीच-वाली खाई को पाट देना चाहिए। मैंने प्रायः यह देखा है कि युवक-दिमाग और बुजुर्ग-दिमाग आपस में मिलते नहीं है। युवकों में नया खून होता है। अतः उनका दिमाग भी न जाने किस तेजी से बढ़ना चाहता है। पर आप यह निश्चित समझें कि

इस प्रकार आप सफल नहीं हो सकेंगे, बुजुर्ग लोगों के सामने से जमाना गुजरा हुआ होता है अतः उससे उन्हे बहुत से अनुभव मिले हुये होते हैं पर उनकी शारीरिक शक्ति क्षीण हुई होती है। युवकों में शारीरिक शक्ति होती है पर वे अनुभवी कम होते हैं इस कारण से वे जगह-जगह स्खलित हो जाते हैं। अतः आप बुजुर्गों के अनुभवों से लाभ उठाकर हा आगे चल सकते हैं। युवकों और वयस्कों का सहयोग अंधे और पंगु का-सा सहयोग है। अंधा देख नहीं सकता, पंगु चल नहीं सकता पर अगर अंधा अपने कन्धों पर पंगु को बैठाले तो दोनों की गाड़ी ठीक प्रकार से चल सकती है। पंगु स्वयं बैठे नहीं पर अंधा स्वयं अपने कन्धों पर उसे बिठाले तब भी काम चल सकता है। अतः आप वृद्धों के अनुभवो का लाभ उठाकर, अगर वृद्धों और युवकों के बीच की खाई को पाटकर आगे बढ़ेंगे तो सगठन के कार्य मे सफलता मिलना पूर्णतः सम्भव है।

८४ : जीवन में आचार को स्थान दें

शिक्षा का प्रथम उद्देश्य जीवन का विकास है। अगर शिक्षा से उसकी सिद्धि न हुई तो कहना चाहिये कि शिक्षा अधूरी है। जीविका के साधारण उद्देश्य या आजीविका के लिये ही उसको प्राप्त किया जाय यह तो सरासर गलत उद्देश्य है।

प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति मे अन्यान्य विद्याओं को उतना स्थान नहीं दिया जाता था जितना अध्यात्म-विद्या को। वहाँ पर स्पष्ट कहा गया है—**'सा विद्या या विमुक्तये'** (विद्या वह है जिससे मुक्ति की प्राप्ति हो)। मुक्ति भी दो तरह की मानी गई है—एक राजनैतिक और दूसरी आध्यात्मिक। यहाँ मुक्ति का मतलब अध्यात्म-मुक्ति से है। आत्मा बन्धन से छूटकर निर्बन्ध बने यही अध्यात्म-मुक्ति है। अतः शिक्षा का उद्देश्य यही होना चाहिये कि उससे आत्मा की कलुषता मिट कर वह मुक्तिगामी बने।

आज शिक्षा सिर्फ शिक्षा के लिए मानी जा रहा है लेकिन जबतक उससे जीवन में आचार की प्रतिष्ठा नहीं होती तब तक शिक्षा पाने का सच्चा उद्देश्य सफल नहीं होता। आज हमें पण्डितों की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी आचारवानों की है। एक व्यक्ति २५ पुस्तकें पढ़कर पण्डित बना पर उससे हासिल क्या हुआ! वह तो केवल पढ़ा पर समझा कुछ नहीं। आचारवान यदि एक भी हो तो वह ऐसे अनेक पोथा-पण्डितों से लाख दर्जे अच्छा है। आचारवान वह होगा जो पढ़ी हुई शिक्षा को

जीवन में उतारेगा। इसलिये आज वैसे व्यक्तियों की आवश्यकता है। इन उपस्थित विद्यार्थियों से भी मैं कहूँगा कि वे जीवन में आचार को स्थान दें। भले ही इससे आपके अध्यापक और अभिभावक आपकी आज कद्र न करें; पर समय आने पर समाज और राष्ट्र आपकी कद्र करेंगे इसमें कोई शक नहीं।

बोरीवली,
१५ जून '५४

८५ : असन्तोष एवं संग्रह की वृत्ति त्याज्य

आज आप स्वतन्त्र हैं और विदेशी हुकूमत से मुक्त हैं पर इस बात का बड़ा दुःख है कि आजादी के बाद जो सुख और शान्ति देश तथा जन-जीवन में आनी चाहिए थी वह नहीं आई, बल्कि आज तो और भी दुःख एवं अशान्ति की आवाजें सुनाई दे रहा हैं। पूँजीपति-वर्ग भी दुःखी है और निर्धन-वर्ग तो है ही। तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो पूजीपति-वर्ग ज्यादा दुःखी है क्योंकि उसे धन के संरक्षण की चिन्ता है और इसलिये उसे रात को नींद तक नहीं आती। परन्तु याद रखिये पूँजी का संग्रह कभी सुख देने वाला नहीं हुआ और न हो ही सकता है। अगर ऐसा होता तो पूँजीपति और निर्धन दोनों दुःखी क्यों होते? न धनी सुखी है और न निर्धन; सच्चा सुखी तो वह है जो सन्तोषी है। उसके अभाव में पूँजीपति भी दुःखी है और निर्धन भी दुःखी और उसके सद्भाव में दोनो सुखी हो जायँगे।

साधु इसीलिये सुखी होते है कि उनमें संग्रह-वृत्ति नहीं होती। अल्प संग्रह भी जब शोषण और अन्याय को जन्म देता है तो असीम संग्रह की भावना तो लूट-खसोट और युद्ध को जन्म देगी ही देगी। यह इसका भयंकर परिणाम है। आप एक दूसरी मर्यादा का पालन तो अवश्य कर सकते हैं कि आवश्यकता से अधिक संग्रह न करो, अनुचित संग्रह न करो। अतः आप अगर सुख और शान्ति के प्रेमी हैं तो संग्रह-वृत्ति व असन्तोष को छोड़ कर त्याग एवं सन्तोष के मार्ग पर आइये।

आप दूकान पर पाप करें और मन्दिर व साधओ के पास आकर उपासक बनें, ऐसा धर्म आज जनता को आकृष्ट नहीं कर सकता। इसका मतलब यह नहीं है कि आप मन्दिर या साधुओं की उपासना ही न करें, उपासना करें—दूकान मे, साधुओं के पास

तथा मन्दिरों मे भी। सब जगहों को एक-सा मानकर धर्म का आचरण करें। दोनों जगहों मे इतनी विषमता न होने दीजिये। सत्य अहिंसामय धर्म के स्वरूप को समझ उसे जीवन में उतारिये यही मेरी आप सबको प्रेरणा है।

बोरीवली,

१५ जून '५४

८६ : छात्रों से

आज लोग धर्म की बातें बहुत करते हैं पर उतनी होशियारी उसे अपने जीवन मे उतारने में नहीं दिखाते। हमारा धर्म इतना उच्च, विशाल और उदार है, उसमें अहिंसा और सत्य की बड़ी गुणगरिमा गाई गई है, आदि-आदि बातें कही भी जाती हैं। पर मैं पूछना चाहूँगा—धर्म ऊँचा हो सकता है पर उसकी सफलता तब है जब वह आपके जीवन में उतरे। परन्तु क्या वह उतरा है? अगर नहीं, तो धर्म आपके मतलब का नहीं। फलितार्थ यही है कि धर्म वही अच्छा है जो व्यक्ति के जीवन मे रम जाय। अगर वह जीवन में नहीं उतरता है तो उस धर्म की जीवन में कोई कीमत नहीं। अगर केवल ऊँचे धर्म की बात व 'दुनियाँ को सुधारो' की आवाज जारी रही तो दुनिया सुधरेगी या नहीं यह तो दूर की बात है परन्तु आप स्वयं बिगड़ जायेंगे। आपका उद्देश्य तो यह होना चाहिये कि दुनियाँ सुधरे या न सुधरे मगर हम तो जरूर सुधरेंगे। और सच्चे सुधार की पहली मंजिल भी यही है।

कहा जाता है कि विद्या से विनयशीलता आती है पर आज तो शिक्षित विद्यार्थियों में उच्छृङ्खलता और उद्दंडता बढ़ती जा रही है। हो सकता है, इसमें आज के वातावरण का भी दोष हो पर मूल कारण तो यह है कि शिक्षा प्रणाली ही दोषयुक्त है। उसको दुरुस्त किये बिना विद्यार्थियों मे विनय की भावना नहीं आ सकती। इसलिये अध्यात्म-विद्या की ओर अग्रसर होकर आप विनयी और सच्चरित्रवान बनें, यही मेरी आपसे अपील है।

मलाड,

१७ जून '५४

८७ : युग की माँग

अपनी हजारों मीलों की यात्रा में मैंने लोगों को यही कहते सुना कि आज मानव मानवता से शून्य होता जा रहा है। इतना अमानवीयत्व उसमें आ गया है कि कुछ कहते नहीं बनता। प्रश्न होगा—क्या आज मानवता नष्ट हो गई है? इस पर मेरा यही उत्तर है कि मानव की चेतना आज मृत तो नहीं बल्कि सुषुप्त है। उसे जगाने की आवश्यकता है। अतः मैं धार्मिक नेताओं, साहित्यकारों, कवियों, महन्तो और पत्रकारों को आह्वान करता हूँ कि वे अध्यात्म और अहिंसा को जन-जन-व्यापी बनाने के लिये कमर कसें। आज का युग इसकी माग कर रहा है।

कुछ लोग कई बार ऐसा सवाल करते हैं कि आप अहिंसा का मिशन लेकर चल रहे हैं, तो क्या आप सारे ससार को पूर्ण अहिंसक बना सकेंगे? मैं कहा करता हूँ—अब तक के इतिहास में ऐसा कोई युग नहीं आया, जबकि सारा संसार अहिंसक बन गया हो। हमारा प्रयास यह रहना चाहिये कि अहिंसा की मात्रा बलवती रहे। इसके लिये संगठित प्रयास की आवश्यकता है पर जब इस पर गहराई से सोचते हैं तो दीखता है कि, न जाने, यह कैसा संयोग है—चोर, डाकू और बदमाश आपस मे मिल जाते हैं, पर भले आदमियों के मिलने में कठिनाइयाँ सामने आती हैं। फिर भी आज की अनैतिक वृत्तियों को मिटाने की जिनमें तड़प है वे इसके लिये जोरदार प्रयास करेंगे ही।

सम्प्रदाय और वर्ग-भेद के बिना मानव मात्र में नैतिक चेतना का प्रयास हो, इसके लिये अणुव्रत-आन्दोलन के रूप मे जो रचनात्मक योजना चल रहा है, उसे आप समझें, और उसे अपने जीवन मे उतारने का प्रयास करें।

अन्धेरी,

२० जून '५४

८८ : भगवान् महावीर का जीवन और उनके सिद्धान्त

आज भगवान् महावीर का जन्म-दिवस है, पर नहीं, वास्तव में यह कल्याण-दिवस है। भगवान् के पाँच कल्याणक माने गये हैं—च्यवन, जन्म, दीक्षा, कैवल्य और निर्वाण। इनमें से पहले दो तो सांसारिक कल्याण हैं और शेष तीन विराग-अवस्था के। अतः च्यवन और जन्म को सासारिक होने के कारण इतना बड़ा महत्त्व नहीं दे सकते। तब फिर प्रश्न होगा कि आज यहाँ यह विशेष व्याख्यान क्यों दिया जा रहा है ? तो मैं यही कहूँगा कि हम तो प्रतिदिन भगवान् का व्याख्यान करते हैं। हमारे लिये तो प्रत्येक दिन विशेष महत्त्व का है इसीलिये तो हम प्रतिदिन सायं भगवान् की प्रार्थना किया करते हैं। कई-कई सम्प्रदाय जन्म-दिवस को विशेष महत्त्व देते हैं, यहाँ तक कि कई लोग तो आज भगवान्-जन्म करवाते हैं। एक आदमी भगवान् का पिता बनता है और दूसरा माता। इस प्रकार वे आज भगवान् का जन्म-महोत्सव मनाते हैं। अरे, यह कितना अंधेर है ! भगवान् के नाम पर कितना हास्यास्पद और घृणित व्यवहार है यह !

सबकी तरह भगवान् की भी तीन अवस्थायें हुईं—बाल्य, यौवन और अन्तिम। वृद्धावस्था तो उन्हें आती ही नहीं क्योंकि उनके शरीर में अनन्त शक्ति होती है। अतः उसमें, वृद्धावस्था में होनेवाला शक्ति का क्षय कभी होता ही नहीं। हम भगवान् के जीवन को इन तीन विभागों में नहीं बाँटकर अन्य तीन भागो में बाँटें तो वह और भी उचित रहेगा। जैसे—गृहस्थ-जीवन, मुनि-जीवन और कैवल्य-जीवन। इस प्रकार वे तीस वर्ष तक गृहस्थावास में रहे, १२॥ वर्ष तक मुनि-जीवन में रहे और ३० वर्ष कैवल्य-अवस्था में। भगवान् का दूसरा नाम महावीर था। उनका वह नाम किसी से लड़ने-झगड़ने से नहीं पड़ा था लेकिन स्वयं कष्ट झेलने के कारण देवों ने आपका नाम 'महावीर' रखा था।

शिशु-जीवन में प्रवेश करने के बाद भगवान् पढ़ने के लिये पाठशाला भी गये, यद्यपि उन्हें पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं थी क्योकि गर्भावस्था में ही उन्हें तीन ज्ञान (मुनि, श्रुति, अवधि) प्राप्त हो चुके थे फिर भी सासारिक नीति को निभाने के लिये भगवान् पाठशाला में भी गये। जिससे प्रत्येक व्यक्ति यह समझे कि शिक्षा लेना जीवन में अनिवार्य है। सरकार आज प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बना रही है

लेकिन भगवान् ने २५०० वर्ष पहले ही पाठशाला में जाकर सारे गृहस्थ लोगों को इसकी शिक्षा दे दी थी। उनका प्रत्येक कार्य कुछ-न-कुछ शुभ उद्देश्य पूर्वक ही होता था। बाल्यावस्था में एक बार उनके सारे बाल-साथी एक साँप को देख कर भाग खड़े हुए तो भगवान् ने उन्हें निर्भयता की शिक्षा देते हुए साँप को हाथ में पकड़ कर दूर फेंक दिया। उन्होंने साँप जैसे जहरीले जानवर को भी मारा नहीं, इसमे भी यही रहस्य छिपा हुआ है कि अपनी रक्षा के लिये गृहस्थों को आते हुये उत्सर्गों से बचना पड़ता है पर निरर्थक रूप से किसी को मारना तो नहीं चाहिये। एक बहुत बड़ी शिक्षा जो भगवान् ने अपने क्रियात्मक जीवन से गृहस्थ लोगों को दी वह थी—माता-पिता का दिल न दुखाना। इसीलिये उन्होने उनके जीवन पर्यन्त दीक्षा नहीं लेने का सकल्प कर लिया था और इसके बाद बड़े भाई नन्दीवर्धन के कहने पर दो वर्ष तक उसके बाद भी दीक्षा ग्रहण नहीं की।

गृहस्थ-जीवन के अन्तिम बारह महीनों में भगवान् ने दान दिया। यह भी उनका लौकिक-कार्य ही था। लौकिक-प्रथा के अनुसार जो कुछ भी कार्य होते हैं वे उन्हें भी करने पड़ते हैं; लेकिन भगवान् ने कोई लौकिक-कार्य किया, उससे पुण्यबन्ध होता हो, ऐसी कोई बात नहीं; क्योंकि लौकिक-प्रथा के अनुसार दान के बाद उन्होंने स्नान भी किया था; तो क्या स्नान भी पुण्यबन्ध का कारण हो जायगा ? और इसी प्रकार जिस प्रकार कि स्नान पुण्य का कारण नहीं हो सकता, उसी प्रकार लौकिक-दान भी पुण्यबन्ध का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह लोक-प्रथा का आचरण-मात्र था। इसके बाद भगवान् के मुनि-जीवन का प्रारम्भ होता है। दीक्षा लेते ही भगवान् सप्तम गुणस्थान को प्राप्त हुए, क्योकि जैसा कि जयाचार्य ने अपने एक ग्रन्थ में कहा है :—

जिन चक्री सुर युगलिया रे वासुदेव बलदेव।
पंचम गुण पावै नहीं रे रीत अनादि स्वमेव॥

अर्थात्—तीर्थंकर भगवान् को, चक्रवर्त्ती राजा को, देवताओं को, युगलियों को, वासुदेव और बलदेवों को पाँचवाँ गुणस्थान नहीं आता। दीक्षा लेते ही चौथे से सातवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है और वहाँ से या तो अगले गुणस्थान में चले जाते हैं या छठे गुणस्थान मे इनकी स्थिति होती है। यह अनादिकाल का नियम है।

यहाँ से भगवान् पूर्ण अहिंसक बन जाते हैं। दीक्षा ग्रहण करते ही भगवान् ने साधना का कठिन मार्ग अपना लिया। उन्होंने बारह वर्षों तक शरीर का व्युत्सर्ग कर

दिया। व्युत्सर्ग का मतलब शरीर की विशेष सार-संभाल नहीं करने से है; जैसा कि स्वयं भगवान् ने कहा है—

"सव्व मे पावकम्मं अकरिणिज्जं"

इसीका नाम जीवित समाधि है। भगवान् के इस अवग्रह का जब दूसरों को पता चला तो उन्होंने भगवान् पर नाना तरह के उपसर्ग करने शुरू कर दिये; क्योंकि जो विरोधी लोग होते हैं वे तो अवसर की ताक मे रहते ही हैं। तेरापन्थ के आद्य-प्रवर्त्तक श्री भिक्षुस्वामी ने अपने उत्तराधिकारी भारीमलजी स्वामी को इसी प्रकार तो कहा था कि भारीमल! यदि तुम्हारे में कोई दोष निकाले तो तुम एक तेला (तीन-दिन का उपवास) करना। भारीमलजी स्वामी ने कहा—विरोधी लोगों को यह पता चलेगा तो वे झूठ ही मुझमे दोष निकालने की कोशिश करेंगे तो क्या उसका भी तेला करना? स्वामीजी ने कहा-हाँ। अगर तुम्हारी गलती होगी तो तेला करने से उसका तुम्हें दण्ड मिल जायगा और अगर गलती नहीं होगी तो तुम समझना कि पूर्वार्जित कर्मों की निर्जरा ही हुई। भगवान् महावीर को इस १२ वर्ष के साधना-काल में चींटी, चूहे, सर्प आदि क्षुद्र जन्तुओं से लेकर तिर्यञ्च, मनुष्य और देवताओं तक के भीषण उपसर्ग सहन करने पड़े और इसके बाद आपको केवल-ज्ञान की प्राप्ति हो गई।

अब आपने उपदेश देना प्रारम्भ किया और अपने सिद्धान्त प्रकट करने शुरू किये पर आज उनके अनुयायी भी उनके सिद्धान्तों से अपरिचित से हैं। यही कारण है कि उनके सिद्धान्तों के बारे में बड़े-बड़े मतभेद खड़े हो गये हैं। भगवान् ने सबसे पहले कहा—

"सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता ण हन्तव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण पारतावेयव्वा, ण उद्वेयव्वा"

अर्थात्—सब जीव जीना चाहते हैं। मरना कोई नहीं चाहता। चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो! पर तो भी आज लोग मनुष्य के जीने के लिये बिचारे क्षुद्र जन्तुओं की हिंसा में भी पाप नहीं मानते। अपने शरीर की पुष्टि के लिये लोग मास खाने मे भी नहीं हिचकिचाते हैं। पर भगवान् महावीर ने कहा—

"सव्वे पाणा छहसाया दुक्खी पडिकूला"

लोग कहेंगे कि इस प्रकार तो गृहस्थ का जीवन ही दूभर हो जायगा। हिंसा के बिना उसका कार्य कैसे चलेगा ? तो उसके लिये भगवान् ने दो मार्ग बतलाये हैं— जो पूर्ण अहिंसक हो उसके लिये महाव्रत और जो लोग पूर्ण अहिंसक नहीं बन सकते वे अणुव्रत तो अवश्य ग्रहण करें। कम से कम निरपराध प्राणी को तो न सतायें, न मारें। यदि गृहस्थ लोग इस रास्ते को अपनालें तो उन्हे मारनेवाला भी कोई नहीं रहेगा। तुलसीदास जी ने भी तो कहा है :—

तुलसी दया न पार की, दया आपकी होय।
किण न मारै नहीं तो, तनै न मारे कोय॥

ये जो हिन्दू-मुस्लिम दंगे होते हैं वे क्यों होते हैं ? इसीलिये तो कि किसी हिन्दू ने मुसलमान को मार दिया, विरोध की अग्नि दूसरी जगह भी प्रज्ज्वलित हो जायेगी और आखिर द्वेष बढ़ता चला जायगा। अतः दया करने से दूसरे की नहीं, अपनी ही दया होती है और आप अपने पर ही दया कर के, दूसरो को कष्ट पहुँचाना छोड़ दें।

अहिंसा और दया ये दोनो एक ही हैं लेकिन लोग कभी-कभी मोह को भी दया कह देते हैं। अतः आपने उसको पृथक् करने के लिये दया के दो भेद बतलाये हैं : लौकिक और पारलौकिक। जैसे कोई तम्बाकू पीता है, अगर उसको तम्बाकू न पीने का उपदेश देकर तम्बाकू पीना छुड़ा दिया जाये तो वह अहिंसा है। इसके साथ-साथ तम्बाकू बचेगी, उसके रुपये भी बचेंगे, उसकी आर्थिक-स्थिति सुधरेगी किन्तु यह अहिंसक दृष्टिकोण नहीं है। अहिंसा तो उसका जो आत्म-सुधार हुआ वही है और वही सच्ची दया भी है।

भगवान् ने बताया कि गृहस्थ-जीवन मे कभी-कभी हिंसा भी करनी पड़ती है, झूठी गवाही भी देनी पड़ती है। इस प्रकार एक सद् गृहस्थ से गवाह के रूप में यह पूछ लिया जाता है कि अमुक समय में तुम कहाँ थे ? वह विचारा क्या उत्तर देगा ? उसे कोई याद थोड़ा ही रहता है कि वह आज से २७ वर्ष पहले कहाँ था ? उसके लिये दोनों तरफ संकट है। ऐसी स्थिति में उसे वहाँ झूठ बोलकर बचना पड़ता है, मगर उसे अच्छा तो नहीं मानना चाहिये। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और अपरिग्रह मे पाप होता है, यह तो मानना चाहिये। लेकिन आश्चर्य यह है कि लोग कभी-कभी इनमें भी धर्म मानने लग जाते हैं। लोग जमा

और खाते को दो अलग-अलग ओली में लिखा करते हैं पर अगर कोई उसे एक ही ओली में लिख देता है तो उसकी वह रोकड़ किस प्रकार मिलेगी ? अतः हिंसा और अहिंसा को अहिंसा मानो यही भगवान् का उपदेश था।

भगवान् ने बताया कि त्याग और दान में बहुत अन्तर है। जैसे किसी आदमी के पास लाख रुपया है। वह यदि २५००० से उपरान्त रुपयों का त्याग करता है वह तो त्याग है और बाकी बचे हुये रुपयों को और किसी को देता है वह दान है।. त्याग का मतलब है दूसरे को देना।

आखिर में भगवान् ने एक महत्त्वपूर्ण बात बताई, वह है समन्वयवाद। समन्वय का मतलब है किसी दृष्टि से एक होना। लेकिन गुड़ और गोबर को एक मत करो। समन्वय का मतलब है किसी अपेक्षा से एक करना। जिस प्रकार भिन्नता की दृष्टि से पाँच अँगुलियाँ भिन्न-भिन्न हैं, एक नहीं और उन्हीं अँगुलियों को बन्द कर लिया जाय तो वे मुट्ठी के रूप मे एक हो जाती हैं, पर सारी अँगुलियाँ एक नहीं हो जातीं। इसी प्रकार किसी दृष्टि से हम सभी चीजों को एक कह सकते हैं और दूसरी दृष्टि से अनेक भी। इसीसे दृष्टि मे पूर्णता आ सकती है। किसी एक ही आग्रह पर डटे रहना असत्य की ओर बढ़ना है।

८६ : नैतिकता के निर्माण में लगें

कुछ लोग कहा करते हैं कि आज देश मे अनाज, कपड़े और शिक्षा की कमी है। नाना दृष्टिकोण कमियों को नाना दृष्टियों से देखने में लगे हैं और उनकी दृष्टि में नाना कमियाँ सामने आती हैं। मेरी दृष्टि से आज देश में सबसे बड़ी कमी चारित्र की है। चारित्र लोगों में बिलकुल नहीं है, यह कहना तो सत्य से परे होगा। यद्यपि चारित्र के बीज मौजूद हैं पर चारित्र की मात्रा जितनी होनी चाहिये उतनी नहीं है। जब तक चारित्र की कमी देश में रहेगी, अन्यान्य समस्यायें सुलभतया हल हो जाँय, ऐसा मुझे नहीं लगता।

अब फिर प्रश्न होता है कि व्यक्ति का चारित्र क्यों गिरा ? आपके उत्तर की भाषा शायद यह होगी कि अर्थाभाव इसका मुख्य कारण है। मेरी दृष्टि में इस कथन में तथ्य जरूर है क्योंकि मनुष्य स्वभावतः तो अनैतिक नहीं है। कोई न कोई कारण भी उसमें सहायक हो सकता है पर मूल कारण यह नहीं है। अगर चारित्र की समस्या का शत-प्रतिशत समाधान आप अर्थ-समानता में खोजेंगे तो भूल खायेंगे।

अगर यही समाधान होता तो पश्चिमी देशों में जहाँ अर्थाभाव नहीं बतलाया जाता है वहाँ चारित्र की गिरावट नहीं होती। तो प्रश्न अपने-आप दूसरी तरफ जाकर समाधान पाता है कि इसका कारण अर्थाभाव नहीं बल्कि मानव की अन्य बुरी प्रवृत्तियाँ और संग्रहोन्मुख वृत्ति है।

जो जटिल स्थिति है वह हमारे सामने है। अगर उसको संगठित रूप से नहीं रोका गया तो भय है कि कहीं नैतिकता के ध्वंसावशेष भी नष्ट न हो जाँय। नैतिक और धार्मिक निष्ठावाली शक्तियाँ संगठित होकर इसका प्रबल मुकाबला कर नैतिकता के निर्माण में लगें। जनता नैतिकता की इच्छुक है यह तो निश्चित है। इसलिये आप को अवसर मिला है कि उसके निर्माण मे सहयोग देकर अपनी सेवावृत्ति का परिचय दें।

अन्धेरी,
२१ जून '५४

६० : मानव-धर्म अपनाइये

हमें देखना है कि आज दुनियाँ को किस चीज की भूख है। रोटी की जगह पानी और पानी की जगह रोटी देंगे तो यह अनुपयोगिता खटकेगी। मुझे लगता है कि आज की जनता सुख की भूखी है। जैसा कि भगवान महावीर ने कहा—'दुनियाँ दुःख से छुटकारा चाहती है और दुःख स्वकृत है, उससे मुक्ति पाने के लिये अप्रमाद की अपेक्षा है।' यही दुःख की समस्या आज चारों ओर है और इसका समुचित समाधान भी यही है। किन्तु आज प्रमाद का छूटना मुश्किल जो हो गया है, उसका एक कारण यह है कि मानव को सही रास्ता नहीं मिल रहा है। धर्म एक तो है नहीं, अनेक धर्मों और मान्यताओं को सुनकर वह उलझ जाता है, किसको अपनाये और किसको छोड़े? इसके लिये हमें यह प्रयास करना है कि हम उसे उलझने न दें, एक ही धर्म उसके सामने रखें। वह धर्म सम्प्रदायातीत, वर्गातीत और संकीर्णता से परे, 'मानव-धर्म' होगा। ऐसे धर्म का हम विकास करें। वह विशालता और उदारता को अपने मे समाविष्ट करने से होगा उस धर्म का निर्माण सर्व-धर्म समभाव के आधार पर होगा।

उस धर्म की आधारशिला पर विश्व-बन्धुत्व और विश्व-प्रेम का निर्माण होगा। तब सुख का प्रश्न प्रश्न नहीं रहेगा। बल्कि समाधान अपने-आप हो जायगा। वैसे

धर्म को आप अपनाकर प्रमाद को दूर करेंगे तभी आप सुख और शान्तिमय जीवन बिता सकेंगे।

अन्धेरी,

२१ जून '५८

६१ : व्यक्ति अध्यात्मवादी बने

अपनी आत्मा का दमन करो। दूसरे बन्धन और बध द्वारा तुम पर काबू पायें इससे उत्तम है कि तुम स्वयं संयम और तपस्या के द्वारा अपने आप पर नियन्त्रण कर लो। दोनों मार्ग आपके सामने हैं। जहाँ तक मैं सोचता हूँ, आप दूसरों का नियन्त्रण नहीं चाहेंगे अतः इस उपक्रम की चेष्टा कीजिये कि आप अपने आप पर नियन्त्रण कर लें।

आज संसार में सुख के दो मार्ग बताये जाते हैं—एक भौतिकवाद और दूसरा अध्यात्मवाद। पहले की मान्यता है—आवश्यकता बढ़ाओ, उससे आविष्कारों का जन्म होगा, पदार्थ का अभाव मिटेगा और उससे पदार्थ सुख में सहायक बन सकेंगे। तब अध्यात्मवाद की मान्यता है कि एक आवश्यकता की पूर्ति होने पर दूसरी आवश्यकता पैदा होगी और इस तरह वे बढ़ती ही रहेगी। लोभ से लोभ का परिवर्धन होगा इसलिये अपेक्षा यह है कि आवश्यकताओं को घटाओ, लोभ पर नियन्त्रण करो, लोभ दुःख का मूल है। कौन सा रास्ता तय करना है यह आप सोचें। आप सर्वथा भौतिक तत्त्वों से परे हो सकें यह गृहस्थ-जीवन में संभव नहीं, फिर भी यह आवश्यक है कि भौतिकता की मात्रा घटे और आध्यात्मिकता की मात्रा बढ़ती चली जाय। अध्यात्मवाद क्या है ? यह तो आपने आपका 'वाद' अर्थात् आत्मवाद है। उसमें आत्मा और चेतन के उत्थान की बात है। बुद्धिवादी मनुष्य जड़ के बन्धनों में बँधे यह तो उसके लिये शर्म की बात है; अतः आवश्यकता है कि व्यक्ति अध्यात्मवादी बने।

अध्यात्मवाद का मतलब यह नहीं है कि मैं आपको साधु बनने के लिये कह रहा हूँ। जैन-दर्शन में दो प्रकार के मार्गों का प्रतिपादन किया गया है—महाव्रत और अणुव्रत। जिनमें पूर्ण त्याग की क्षमता होती है वे महाव्रती बनते हैं और एक सीमा-तक क्षमतावाले अणुव्रती। आज के इस चारित्र-अभाव के वातावरण में चारित्र की अपेक्षा है। मेरी समझ में आज जितना चारित्र का पतन हुआ है उतना और किसी

भी चीज का नहीं। इस कमी की पूर्त्ति के लिये अणुव्रती-संघ की एक योजना जनता के सामने रखी गई है। उस योजना में सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो समाज, राष्ट्र और विश्व की समस्याओं का समाधान है और आत्मा की समस्या का समाधान तो है ही। इसलिये मैं आपसे अपील करूँगा कि इस चारित्राभाव की पूर्त्ति के लिये आप 'अणुव्रती' बनें।

माटूँगा,
२२ जून '५४

९२ : आत्म-सुधार करना आवश्यक

बम्बई भारत का सुप्रसिद्ध नगर है। यहाँ के लोगो ने हमारा स्वागत किया वह इसलिये कि यहाँ के लोगों में त्याग और संयम के प्रति निष्ठा है जो भारतीय संस्कृति में पले-पुसे लोगों के अनुरूप ही है। अभी-अभी सभी लोगों ने लगभग यही कहा है कि मानवता गिर रही है और जीवन में नैतिक मूल्यो की कमी होती जा रही है। मानवता गिरती जा रही है यह बहुत ही चिन्ता का विषय है। इस बारे में यह कहा जाता है कि एक बार महाराज भोज को महाकवि कालीदास पर आचार सम्बन्धी सन्देह हो गया। राजसभा में भोज ने कालीदास को आते देखकर व्यंगोक्ति के रूप में जल को सम्बोधित करते हुये कहा—जल! तू कैसा है, मैं क्या बताऊँ? मनुष्य को शीतलता प्रिय है और वह तेरा सहज गुण है। दुनियाँ स्वच्छता को चाहती है और तू स्वयं में स्वच्छ है और दूसरो को स्वच्छ बनाता है। दुनियाँ तेरे स्पर्श से पवित्र होना चाहती है, तू प्राणियों का जीवन-आधार है। अगर तू नहीं होता तो प्राणी-जगत खत्म हो जाता। जल! इतना उच्च होते हुए भी तू नीचा क्यों जाता है? (जल का प्रवाह नीचे की ओर ही चलता है)। अगर तेरे जैसा सन्मार्गी भी नीचा जायेगा तो दूसरों की बात ही क्या है?

आप इससे क्या समझे? आज मानव जैसा उच्च प्राणी भी गिरता जा रहा है तो अन्य प्राणी-जगत की तो बात ही क्या है? भारत की अतीत की संस्कृति आज उनसे बिदा लेने जा रही है लेकिन लोगो को इसकी क्या चिन्ता है? उन्हें अपने धन और सुख के संरक्षण की चिन्ता है भले ही दूसरा उनके निमित्त से दुखी ही बने। पर इस नीति को भूल मत जाइये कि अगर आप सुखी बनना चाहते हैं तो दूसरों को दुःखी

मत बनाइये। माना कि रक्षण आपके वश की बात नहीं पर उसका सुख स्वयं तो न लूटें। अगर आप द्वारा यह कार्य किया जाता है तो मानना होगा कि आपमें से मानवता निकलती जा रही है। आप स्वयं सुख से बंचित हैं और दूसरों को भी उससे बंचित बनाते जा रहे हैं।

अगर आप इस स्थिति को सुधारना चाहते हैं तो आपको इसके लिये अपने आपको सुधारना होगा। समाज-सुधार और राष्ट्र-सुधार की बातों को एक बार परे रखकर अपने-आपका सुधार करिये। वे सब अपने-आप सुधर जायेंगे। इस आधार पर कि व्यक्ति का स्तित्त्व स्वतन्त्र है उसको सुधारेंगे तो समाज जो कि व्यक्ति पर आधारित है अपने-आप सुधर जायगा और इसी तरह राष्ट्र व विश्व भी।

लोग पूछते हैं—महाराज, आप बम्बई किसलिये आये हैं ? मैं बम्बई देखने के लिये नहीं आया हूँ। समुद्री दृश्यो और अन्यान्य दृश्यो को देखने के लिये भी नहीं आया हूँ। यहाँ मात्र इसलिये आना हुआ है कि जनता के जीवन का उत्थान करें। यहाँ के कार्यकर्त्ताओं को मैं अपने मिशन से परिचित करा सकूँ। और विशेष कार्य जो है वह है अणव्रत-आन्दोलन के प्रचार का। यहाँ आने पर एक यात्रा (विहार की) हमारी पूर्ण हो गई है और दूसरी यात्रा अणुव्रत-प्रचार की विशेष रूप से शुरूआत करनी है। अन्य भाई और बहन भी स्वयं सुधरते हुए इस कार्य में सहयोग दें यही मेरी आपको प्रेरणा है।

माटूंगा,
२७ जून '५४

६२ : अणुव्रत-संघ : आध्यात्मिक आन्दोलन

वरं मे अप्पा दन्तो संजमेण तवेण य।
माहं परेहि दम्मंतो बंधणेहि वहेहि यं॥

यह भगवद् वाणी है और यह मानव-मानव के हृदय में निवास करने योग्य उपदेश है। अगर मानव इसको समझता तो उसे बुराई छोड़ने के लिए बाध्य नहीं होना पड़ता। अच्छा हो हम संयम और तपस्या के द्वारा अपने आप पर नियंत्रण कर लें। ऐसा नहीं होगा तो सम्भव है दूसरे हम पर नियंत्रण करने के लिये आयेंगे। इससे सब परिचित हैं कि जब चोर चोरी नहीं छोड़ता है तो उसका क्या दुष्परिणाम

होता है। राजतंत्र से डण्डे और जेल की सजा मिलती है और चोरी छुड़ाने का प्रयत्न किया जाता है। ऐसा न हो कि लोग बन्धन और बध से हम पर नियंत्रण करें। नियंत्रण दोनों तरह से होता है मगर अन्तर इतना ही है कि एक आत्मा के उत्थान के लिये स्वेच्छा से होता है और दूसरा इच्छा न होते हुए भी बाध्य होकर। मैं पूछना चाहूँगा—आप इन दोनों में से क्या चाहते हैं ! दूसरों द्वारा जबरदस्ती थोपा गया नियन्त्रण या अपने आप पर अपना नियन्त्रण ! जहाँ तक मैं सोचता हूँ—पक्षी भी बन्धन में रहना नहीं चाहता। वह सदा यही चाहता है कि मैं आकाश में स्वच्छन्द विचरण करूँ, पेड़ों की डालियों पर बैठूँ, तालाबों और झीलों का स्वच्छ जल पीऊँ। फिर आप तो बुद्धिशील प्राणी हैं; दूसरों का नियंत्रण चाहेंगे ही क्यों ! अतः अगर आप स्वतन्त्र रहना चाहते हैं तो आत्म-नियन्त्रण सीखें। आत्म-नियंत्रण समस्त सासारिक रोगों की एक दवा और सब समस्याओं का एक समाधान है। यह जीवन-तत्त्व है। इसे लोग सिर्फ सुनने के लिये न सुनें पर इनका मनन आचरण करने की दृष्टि से करें।

आज समस्याएँ तो अनेक हैं। कहना तो यों चाहिये कि यह युग समस्याओं का युग है, इनका समाधान भी आपको ही करना होगा इसमें कोई शक नहीं। प्रश्न यह है—समस्याओं का समाधान कैसे करें ? मार्ग दो हैं--भ्रष्टाचार (अनीति) का और दूसरा संयम का। संयम से होनेवाला समाधान दीखने में कठिन परन्तु आत्मानुभव मे सुगम और मीठा है। भ्रष्टाचार से होनेवाला समाधान पहले सुगम और पीछे कठिन है। स्थूल-दृष्टि से देखें तो व्यक्ति को दोनों ओर विषमता मिलेगी; क्योंकि एक में पहले सुख तो बाद में दुख और दूसरे में पहले दुख तो बाद में सुख ही है। इस तरह दोनों मे समान-भाव दृष्टिगोचर होता है। मगर सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो परिणाम में बड़ा भारी अन्तर आयेगा। एक मे सुख मर्यादित है वह भी क्षणिक और भौतिक; तो दूसरे में असीम सुखानुभूति। इस तरह दो साधन हमारे सामने आये। उसी तरह सुख के दो मार्ग हैं—आध्यात्मिक और भौतिक। अध्यात्मवाद हमें समस्याओं का हल इस तरह कर देता है—एक आवश्यकता की पूर्ति से दो और आवश्यकताओं का जन्म होता है। क्योंकि आवश्यकताओं की सीमा नहीं है अतः ज्यों-ज्यों लाभ बढ़ेगा त्यों-त्यों लोभ भी बढ़ेगा। लाभ से लोभ का परिवर्धन होता है और लोभ दुख का कारण है। इसलिये आवश्यकताओं को घटाओ, उससे लोभ पर नियंत्रण आयेगा, सुख की वृद्धि होगी। भौतिकवाद का

हल इस प्रकार है—आवश्यकताओं को खूब बढ़ाओ, उससे नये-नये आविष्कार निकलेंगे, पदार्थों की उत्पादन-शक्ति बढ़ेगी, पदार्थ का अभाव मिट जायगा, उससे दुःख दूर होगा तथा सुख की प्राप्ति होगी।

कठिनता और सुगमता का प्रश्न पहले आ ही चुका है। इन दोनों मे से सुखप्रद मार्ग का निर्वाचन आपको करना है। फिर भी यदि आप हमारी सम्मति चाहें तो संक्षेप मे मैं आपको यही बताऊँगा कि आप जानें कि अध्यात्मवाद क्या है? अध्यात्मवाद में आत्मा और चेतन के उत्थान की बात है। उसमें मानववाद की कल्पना है इसलिए कि मानव चेतनावान है। इसमें यह तो होगा ही कि मानव चेतन का पुजारी बनेगा, जड़ का दास नहीं होगा। आज मूल बीमारी यही है कि मानव अपने-आपको नहीं पहचान रहा है। इतना ही नहीं, उलटा भूलने की कोशिश करता है। अगर स्वयं को पहचानता तो वह कभी भी जड़वादी नहीं बनता। यहाँ एक पुराना किस्सा याद आ जाता है।

एक गडेरिये ने जंगल में बाघ के बच्चे को पाकर पाला-पोसा और वह उसे भेड़ और बकरियों के साथ रखने लगा। बकरियों की तरह बाघ का बच्चा भी घास आदि खाने लगा यहाँ तक कि उसकी वृत्तियाँ भी भेड़ों और बकरियों जैसी बन गईं। एक दिन ऐसा हुआ कि बकरियों का झुण्ड तो सघन जंगल मे चला गया और उसका एक बाघ से मुकाबला हो गया। बाघ ने बकरियों को देखा और गर्जना की। बाघ का बच्चा, जो कि बकरियों के साथ था, बाघ के स्वरूप को अपने स्वरूप से मिलता देख-कर चौंका! "क्या मैं भी ऐसा नहीं कर सकता?" उसका पुरुषार्थ जाग्रत हो उठा और उसने गर्जना की और तब उसे अपने असली स्वरूप का भान हुआ।

यह एक किस्सा जरूर है परन्तु इसका भावाशय जीवन मे उतारने योग्य है। आज की स्थिति भी वास्तव में भी ऐसी ही हो रही है। आपके सामने अध्यात्मवाद का विशेष वातावरण नहीं आता परन्तु अगर सही-सही पहचान करानेवाला मिल जाय तो आपको मालूम होगा कि आपका असली स्वरूप क्या है? इसीलिये तो मैं फिर कहता हूँ—"अध्यात्मवादी बनो।"

अध्यात्मवाद की चर्चा में अवश्य ही मैं आपको साधु बनने की बात नहीं कहूँगा। कारण मैं इस बात से परिचित हूँ कि आपका जीव अभी साधु बनने की स्थिति में नहीं है। पर इतना तो चाहूँगा कि आपका जीवन कम से कम मानवता

के अनुकूल तो जरूर बने। इसके लिये जैन-दर्शन व्रतों को दो रूप में रखता है— महाव्रत और अणुव्रत। महाव्रतों के ग्रहण में विशेष क्षमता चाहिये और जिसमें इसकी कमी हो वह अणुव्रती बनने की स्थिति में होता है।

कुछ लोग यह कहा करते हैं कि अणुव्रती-संघ में श्रद्धा को स्थान नहीं दिया गया है। संक्षेप में मैं इसका भी स्पष्टीकरण कर दूँ—श्रद्धा के बिना व्यक्ति व्रती बन ही नहीं सकता। जब उसमें व्रतों के प्रति निष्ठा ही नहीं है तो वह व्रत के कठोर मार्ग को क्यों अपनायेगा ! उसी तरह व्रत के प्रति श्रद्धा की भूमिका तो अणुव्रती बनने से पूर्व ही बन जाती है। चाहे शब्द उसमे न भी आयें। व्रत लेने के लिये ज्ञान की उतनी जरूरत नहीं जितना श्रद्धा की आवश्यकता होती है। स्पष्ट है कि अणुव्रती बनने में सबसे पहले श्रद्धा की अपेक्षा होती है।

आज जितना पतन चारित्र का हुआ है उतना किसी भी चीज का नहीं हुआ है। अतः इस चारित्र-उत्थान के लिये नियमों की एक सूची अणव्रती-संघ के नाम से रखी गई। 'संघ' शब्द से आप चौंकिये नहीं क्योंकि मैं प्रचलित 'संघ' की व्याख्या मे इस संघ को शुमार नहीं कर रहा हूँ। एक-एक करके अनेक अणुव्रती मिलते हैं तब अणुव्रती-संघ हो जाता है। उन नियमों की मात्र रचना ही नहीं की गई है; बल्कि व्रत लेनेवाले व्यक्ति को उन्हें अपने जीवन मे उतारना पड़ता है। इसके लिये भी प्रायः एक आलोचना आती है कि व्यक्ति को व्रतों में बाँधा क्यों जाता है ! यदि हृदय में शुद्धता है तो संकल्प की क्या अपेक्षा है ! उनकी यह बात "मन चंगा तो कठौती में गंगा" वाली उक्ति की पुष्टि करती है। पर इसका कारण एक ही है— जब मनुष्य पर दबाव आकर पड़ता है और भौतिक पदार्थों का आकर्षण सामने आता है उस समय व्यक्ति डिग न जाय इसलिये संकल्प आवश्यक होता है। संकल्प में बँधा व्यक्ति सहसा खुल नहीं पाता। जिसके समक्ष उसने व्रत लिया है उसकी आँख की लज्जा भी उसे डिगने से बचा लेती है। अगर संकल्प नहीं होता तो समय पड़ने पर शुद्धि डिग जाती है। परिणामतः व्यक्ति भी गिर जाता है और अपने व्रत को खो बैठता है।

कुछ समय पहले मेरे पास एक अमेरिकन महाशय आये थे। वार्त्तालाप के अन्त में मैंने उनसे कहा कि आप एक ऐसा व्रत लें जिससे आपको यह मुलाकात याद आती रहे। वे तुरन्त बोले कि आप व्रतों में व्यक्ति को बाँधना क्यों चाहते हैं !

मैंने उन्हें समझाया—हम व्रत दिलाते हैं इसका मतलब यह नहीं है कि हम उसे बाध्य करते हैं। व्रत तो हृदय-परिवर्तन का फल है। स्वेच्छा से जो व्यक्ति व्रत लेता है उसीका परिणाम सुन्दर होता है। व्रत से व्यक्ति बँधता जरूर है पर वह बुरा नहीं है क्योंकि वह स्व-नियंत्रण है। बुरा वह है जो दूसरे के द्वारा बाँधा या थोपा जाय। बाँधा और थोपा जानेवाला कोई तत्त्व होगा जिसका नैतिक मूल्य कुछ भी नहीं होगा, वह तो केवल कानूनी पाबन्दी है।

रामायण में निम्नलिखित रोचक और महत्वपूर्ण एक प्रसंग आता है :—महाराज रावण सीता को हरण करके ले गया। पतिव्रता सीता उस हालत में भी जीवित रह सकी। उसका एकमात्र कारण था रावण की ली हुई प्रतिज्ञा। रावण ने प्रतिज्ञा ले रखी थी कि मैं किसी स्त्री के प्रेम न करने पर उसके साथ बलात्कार कभी नहीं करूँगा। उसका कारण इस प्रकार है कि विभीषण ने सन्तों के सामने सवाल रखा कि रावण का अवसान कैसे होगा? उत्तर मिला—इसका अवसान पर-स्त्री सम्बन्धी दोष से होगा। रावण ने यह सुनकर डर से प्रतिज्ञा ले ली कि जो स्त्री मेरे साथ प्रेम नहीं करेगी मैं भी अपनी तृप्ति के लिए उसके साथ बलात्कार नहीं करूँगा। प्रतिज्ञा तो उसने ले ली। अब देखिए, कितनी पुरानी प्रतिज्ञा ने रावण को प्रेरणा दी और सीता पर बलात्कार करने से उसे रोके रखा। सीता अपने त्याग और पातिव्रत्य धर्म पर अटल रही और रावण अपनी प्रतिज्ञा पर। सीता के न मानने पर आखिरकार जब रावण अपनी प्रतिज्ञा को तोड़ने व सीता पर बलात्कार करने का विचार करने लगा तभी दो दिन बाद ही रावण को मृत्यु का सामना करना पड़ा। प्रतिज्ञा तो अभी टूटी भी नहीं थी, यह तो केवल विचारों में ही घूम रही थी। इतने लम्बे समय तक रावण पतित होने से बचा रहा—यह सब प्रतिज्ञा का ही तो प्रभाव था। अतः मानना ही होगा कि संकल्प में बहुत बड़ी ताकत छिपी हुई है।

अणुव्रती केवल नियमावली के शब्दों की ओर ही न देखें। परन्तु शब्दों की अपेक्षा उनके पीछे रहा हुई भावना के अनुसार चलें। जैसे एक नियम है—'रिश्वत नहीं लेना'। शब्द-रचना तो ठीक हा है पर भावना इसके पीछे यही है कि अणुव्रती रिश्वत न तो ले और न दूसरे को देने दे। सरकारी स्तर इतना गिर चुका है कि वह समय पड़ने पर रिश्वत लेने मे तनिक भी नहीं हिचकिचाता। कहीं अणुव्रती का

गृहस्थ-जीवन दुरूह न बन जाय इसीलिए नियम की रचना इस आधार पर की गई कि रिश्वत न लेना। पर भावार्थ जो बताया गया है वहा इष्ट है। अतः अणुव्रती शब्द के साथ-साथ भावों का पालन करें तभी उनका व्रत टिक सकेगा। रिश्वत लेना जितना बुरा है उतना ही बुरा रिश्वत देना भी है। इसलिए अणव्रती शब्दों के बदले भावना-परक बनें यही इष्ट है।

६३ : परिवर्तन

दुनिया मे परिवर्तन होता रहता है; हर चीज परिवर्तनशील है और परिवर्तन-शीलता बुरी नहीं। बिना परिवर्तन के जीवन-निर्माण नहीं। पैदा हुआ बच्चा हमेशा बच्चा रहे और उसमें परिवर्तन न हो और तरुणाई न आवे तो वह जीवन किस काम का ? अवस्थाओं का बदलते रहना ही परिवर्तन कहलाता है। बच्चे का बचपन खत्म होता है, तरुणाई आती है यह परिवर्तन बेजा नहीं। यदि उसका बचपन खत्म होकर अमानवीयता पर आता है और मानवता का नाश होता है तो यह परिवर्तन नही कहा जा सकता। यह तो उसका सर्वस्व नाश होता है।

समय के साथ दुनियाँ मे भी परिवर्तन आया; वह आशान्ति से गुजरती हुई शाति के संदेशवाहक सन्तों की ओर आकृष्ट हुई। सन्तों के नजदीक आई। सन्तों में भी परिवर्तन आया। वे भी जनता के नजदीक पहुँचे। लोग पूछ सकते हैं क्यों ? सन्तो को जनता से क्या लेना था ? उन्हें संसार से क्या मतलब ? क्या उनके पास इसलिए नही पहुँचा जाता कि उनकी नामवरी फैले ? पर बात ऐसी नहीं है। गड्ढे मे गिरे हुए को बाहर निकालने के लिये झुकना पड़ता है। जब जनता स्वयं शाति की भूख लिये चलती है और सुख चाहती है तो सन्तों का यह काम हो जाता है कि उसे सत्पथ दिखायें। उसे शान्ति की ओर ले जाने का प्रयास करें, न कि चुपचाप बैठे रहे, इसमे नाम की, चाह की कैसी भावना ?

जनता को एक रास्ता दिखाया गया, आज सब उस ओर एक टक से देख रहे हैं और वह है अणव्रत-आन्दोलन। जनता जो कि जाति-पाँति और साम्प्रदायिकता को लिये चलती थी आज उसे धीरे-धीरे भूलती जा रहा है। बिना किसी भेद-भाव के लोगो ने योजना को पढ़ा, मनन किया और अपनाते जा रहे हैं। एक समय था जब 'तेरापंथ' का परिचय गलत भ्रांतियों से दिया जाता था पर आज जब

उसकी असली चीजें लोगों के सामने आईं, वे भ्रांतियाँ कैसे टिक सकती हैं ! भला अच्छी चीज कहीं हो वह अच्छी ही रहेगी। उसे कोई ठुकरा नहीं सकता। यही कारण है कि आज सन्तों के सम्पर्क में किसान आदि हर वर्ग के लोग आते हैं और बिना किसी संकोच के सन्तो का उपदेश सुनते हैं जब कि एक समय वे कहा करते थे कि ये महाराज तो बनियों के हैं पर आज वे उन्हें अपना समझते हैं।

आप लोगों को चाहिये कि सन्तों के प्रवचन से आत्मोत्थान की प्रेरणा लें। आत्म-उत्थान के तत्त्व ग्रहण करें। उन्हें जीवन में उतारें और दूसरों के लिए आदर्श बनें।

६४ : नवयुवकों को आह्वान

शास्त्रों में कहा गया है कि जो कार्य एक व्यक्ति के लिए आत्म-उत्थान का कारण होता है वही दूसरे के लिये पाप-बन्धन का कारण भी बन सकता है। इसी तरह वह एक के बन्धन का तो दूसरे के आत्मोत्थान का भी कारण है। अभी-अभी आपने हमारा स्वागत किया। अगर हम उसके इच्छुक बन जाते हैं तो वह हमारे लिए पाप का कारण है और अगर आप अपनी प्रतिष्ठा व नाम के लिये स्वागत करते हैं तो आप भी पाप-बन्धन के भागी हो जाते हैं। आप नाम एवं प्रतिष्ठा के लिये स्वागत न करके आत्मोज्वलता के लिये करते हैं और यदि मैं स्वागत की इच्छा नहीं करता हूं तो दोनों अपनी-अपनी मर्यादा मे रहते हैं और दोनों को बहुत बड़ा लाभ मिलता है। इसलिये इसका ख्याल जरूरी है। साथ-साथ मैं यह भी कहूंगा कि केवल कायिक स्वागत ही नहीं बल्कि त्याग से स्वागत करें।

मुझे युवक-शक्ति पर विश्वास है। उनमें अदम्य उत्साह है, साहस है और काम करने की क्षमता है पर इन सबकी सार्थकता तभी है जब कि वे सही माने में जीवन का उद्देश्य समझते हुए चारित्र-विकास और आत्म-निर्माण के पुनीत लक्ष्य मे इनका प्रयोग करें। लम्बी-लम्बी आवाजें लगाने और बातें बनाने का समय आज नहीं है। युवकों की भी माँग थी कि धर्म-स्थानों और धार्मिक आचार्यों के पास जाकर हम क्या करें ? न वहाँ कोई रचनात्मक कार्यक्रम है और न कोई ठोस कार्य। मैंने सोचा—जनता का जीवन आज जिस तीव्र गति से नैतिक पतन की ओर जा रहा है उसे रोकने के लिये यह आवश्यक है कि एक नैतिक निर्माणात्मक योजना प्रस्तुत की जाय जो आज के गिरते हुए नैतिक-जीवन को ऊँचा उठा सके। मैंने 'अणुव्रती

संघ' रूप में चारित्र-विकास का एक सक्रिय कार्यक्रम जनता के सामने प्रस्तुत किया है। अब वे नौजवान जो चारित्र-विकास और नैतिक-उत्थान की बातें करते थे वे कुछ-कुछ इस योजना को महत्त्व देने लगे हैं। पर मैं इतने मात्र से ही संतुष्ट होनेवाला नहीं हूँ। उन्हे कठिनाइयों और असुविधाओं की परवाह न करते हुए जीवन-विकास के इस प्रगतिशील पथ पर आना होगा। अगर आप ऐसा करगे तो जो वृद्ध आपको दूसरी दृष्टि से देखते हैं, वे भी विश्वास करने लगेंगे कि हमारी पीढ़ी एक सुशिक्षित और चारित्रवान् पीढी है जो कुछ करने की शक्ति रखती है। इससे आपका जीवन तो ऊँचा उठेगा ही पर साथ ही साथ समाज और राष्ट्र को भी बहुत बड़ा लाभ होगा।

आज का युग भातिकवाद का युग है। यन्त्रवाद का दुरुपयोग आज जनता को पंगु बनाता जा रहा है। लोग जीवन के आन्तरिक रहस्य को भूल बाह्य शरीर को सजाने में लगे हैं। पर आप भूलते है कि आपका हृदय उतना ही कालिमापूर्ण बनता जा रहा है। जीवन के आध्यात्मिक मूल्य आज घटते जा रहे हैं। अतः इस युग में भारतीय संस्कृति और अध्यात्मवाद मे विश्वास रखने वाले लोगों पर यह उत्तरदायित्व आ पड़ा है कि वे भारत की त्यागमूलक संस्कृति को पुनर्जीवित करने के लिये फिर एक जोरदार प्रयत्न करें। मैं नाजवानों को विशेषरूप से इसके लिये आह्वान करता हूँ कि वे जी-जान से इस ओर आगे बढ़े।

सिक्कानगर,
५ जुलाई '५४

६५ : मानव-जीवन का परम लक्ष्य

जैन-धर्म किसी समाज-विशेष या साध-विशेष का ही नहीं है। उसको अपनाने का जितना एक पुरुष का अधिकार है उतना ही एक नारी का। नारी मे धर्म के प्रति विशेष श्रद्धा होती है इस दृष्टि से तो उसका अधिकार होना ही चाहिये। उसे अपनाने का जितना एक महाजन का अधिकार है उतना ही दूसरी जाति के व्यक्ति का भी है। सबको जीवन-सुधार के कार्य में समानाधिकार है। 'जैन' की परिभाषा है—"जयति आत्मानम् इति जैनः"—जैन वह है जो अपनी आत्मा को जीतता है। अगर जैन कहलानेवाला बाह्य परिस्थितियों के आगे घुटने टेक दे, पूँजी के पीछे अन्याय, शोषण और अनाचार करने को तैयार हो जाय तो वह सही माने मे जैन नहीं है।

अगर उसमें जैनत्व, जो उसकी मूलपूँजी है, नहीं है तो यही समझिये कि उन्होंने अपनी सबसे अधिक मूल्यवान निधि को ही हाथ से खो दिया है। जैन-मन्दिर में बैठ जाना और साधुओं के पास चला जाना ही जैनत्व का लक्षण नहीं है। जो व्यक्ति जहाँ कहीं भी शुद्ध हृदय से धर्म की आराधना करता है वह वास्तव में जैनी है और आत्मशुद्धि का भागी है फिर चाहे भले ही वह हिन्दू हो, मुसलमान हो या अन्य जाति का हो। पीढ़ियों से जैनी कहलानेवाले में यदि जैनत्व के आदर्श नहीं हैं, तो दुनियाँ भले ही कुछ कहे, परन्तु मेरी दृष्टि में वह सही रूप से जैनी नहीं है।

पुराने जमाने में जैनियों की कितनी प्रतिष्ठा थी। अन्तःपुर में अगर कोई जैनी चला जाता, राजा को चिन्ता तक नहीं होती। इसलिये कि जैन है, पर-स्त्री को अपनी माता और बहन के समान समझता है। राजा के भण्डार में जैनी चला जाता, राजा की सहर्ष आज्ञा मिलती। जैन लोगों के हाथ चोरी करने के लिये नहीं होते। जैनी और जैन-धर्म की कितनी इज्जत थी, प्रतिष्ठा थी और विश्वास था! इन सबसे पीछे बल था—सचाई का, ईमानदारी का और जैनत्व का। आज उन बीती बातों का स्मरण करते हुए हृदय गद्-गद् हो जाता है। कहाँ वह आदर्श और कहाँ आज का यह घोर पतन। आज गाँव-गाँव में हमें सुनने को मिलता है—आप सबसे ज्यादा अन्यायाचरण, शोषण और संग्रह जैन लोग ही करते हैं। अमुक जैन ने वैसा किया, नामों की झड़ी-सी लग जाती है। खेद होता है कि आज जैन लोग क्या से क्या बनते जा रहे हैं? अगर इस स्थिति का उपचार उन्होंने स्वयं नहीं किया तो याद रखें, वे अपनी रही सही प्रतिष्ठा को भी खो बैठेंगे। आज आपस में लड़ने-भिड़ने और आक्षेप करने का समय नहीं है। आज तो उनको अपनी अतीत की प्रतिष्ठा और जैनत्व का संरक्षण करना है।

अभी-अभी मैंने 'जैन' का स्वरूप आपके सामने रखा पर आपका व्यक्ति तो मानवता से भी नीचा चला जा रहा है। व्यक्ति की मूल पूँजी मानवता का ह्रास हो रहा है। जैनत्व आने की कल्पना ही कहाँ? वर्तमान युग का व्यक्ति प्रकृतिगत सदाचार को छोड़कर दुर्व्यसनों का दास बनता जा रहा है। स्वतन्त्रता के युग में भी व्यक्ति परतन्त्र है यह आश्चर्य का विषय है। यद्यपि आज यहाँ विदेशी हकूमत नहीं है, प्रजा द्वारा निर्वाचित व्यक्तियों के हाथ में राष्ट्र की बागडोर है पर मैं इतने मात्र को ही स्वतन्त्रता नहीं मानता। आज यह गौरव है कि हम स्वतन्त्र हैं पर मुझे दिखता

है आज वह पहले से भी ज्यादा परतन्त्र है। पहले तो विदेशी हकूमत यानी बाह्य परतन्त्रता थी पर आज तो आन्तरिक गुलामी के बन्धन उसे और भी जकड़ते जा रहे हैं। स्वतन्त्रता आई भी तो कहाँ ? अगर बाह्य स्वतन्त्रता ही स्वतन्त्रता होती तो आज उस स्वतन्त्रता मे भी इतनी दुःख की चित्कारें सुनने को मिलतीं ? सुख का स्रोत आत्मिक स्वतन्त्रता में है वह जब तक नहीं आती है तब तक बाह्य स्वतन्त्रता मात्र से सुख सम्भव नहीं है।

मनुष्य-जीवन सब प्राणियों मे श्रेष्ठ है, ऐसा माना जाता है। खाता पशु भी है, मनुष्य भी खाता है फिर पशु में और मानव मे अन्तर कर उसे श्रेष्ट की उपाधि क्यों दी गई है ? पशु ज्यादा खाता है, वजन भी ज्यादा ढो सकता है, स्थूल शरीर भी उसका बड़ा है। इन बातों में मनुष्य कम होते हुए भी बड़ा इसलिये माना गया है कि उसमे बुद्धि है, विवेक है, हेय और उपादेय को जानने की शक्ति है। मनुष्य विवेकी होने से बड़ा है किन्तु यदि वह विवेक आत्म-जागृति में नहीं लगता है तो मनुष्य पशु से भी कहीं ज्यादा गया-बीता है। पशु अपनी प्रकृति को छोड़ विकृति में लग गया है। हिंसक पशुओं मे भी मर्यादा होती है किन्तु आज मनुष्य में वह नहीं है। शेर को देखिये, उसे जितनी आवश्यकता होती है प्रायः उतने ही पशुओं को मारता है। पूर्ति होने के बाद चाहे पास से बकरी भी क्यों न निकल जाय वह उसे मारने की चेष्टा नहीं करता। आज मनुष्य मे यह मर्यादा कहाँ ? करोड़पति भी पूँजी के और ज्यादा संग्रह में लगा हुआ है। उसकी भूख भी बहुत बढ़ गई है। शोषण, अनाचार, भ्रष्टाचार आदि जैसे-तैसे साधन से व्यक्ति पूँजीपति बनना चाहता है।

मनुष्य को शराब और मास जैसे अभक्ष्य पदार्थों को छोड़ने का उपदेश दिया जाता है पर व्यक्ति उस ओर सहसा ध्यान नहीं देता। कैसी विषम स्थिति है ! प्रेरणा करने पर तो हाथी-घोड़े भी चलते हैं। मनुष्य विवेकी ठहरा; उसे तो स्वयं सोचना चाहिये कि मुझे क्या करना चाहिये ? मेरा क्या आदर्श है ? वह भूल जाता है इसीलिये तो उनको छोटी-छोटी बातों के लिये उपदेश दिया जाता है। परन्तु कहाँ तक कहा जाय ? पीढ़ियों से जैन कहलानेवाले शराब जैसी चीजों का स्वाद चखने लग गये हैं। जो पीढ़ियों से ऐसी दुष्प्रवृत्तियों में फँसे हुए थे वे आज उसे छोड़ने की कोशिश कर रहे हैं तो पीढ़ियों से वैसा कार्य न करनेवाले जैन उसे अपनाते जा रहे हैं।

मानव होने का मतलब यह नहीं है कि वह अपना हित भी नहीं साधेगा। इतना करते हुए भी वह अपने हित-साधन के लिये दूसरों के हित को नहीं कुचलेगा। दूसरे का अहित व अनिष्ट कर अपना हित साध ले, ऐसा कार्य वह कभी नहीं कर सकता।

भगवद्‌गीता में कहा है—**'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'**—जो अपने लिये बुरा या प्रतिकूल लगे वैसी प्रवृत्ति दूसरों के लिये कभी न करे। जब आप स्वयं मरना नहीं चाहते, अनिष्ट नहीं चाहते तो दूसरों को मारने व कष्ट पहुँचाने की भावना क्यों रखी जाती है? व्यक्ति पानी-मिला कर दूध पीता है और पीकर सिर हिलाता हुआ गालियाँ देता है। कितना अन्याय है! दूध में भी जब पानी है तो देश का स्वास्थ्य कैसे टिक सकेगा? पर वही जब दुकानदार घी में वेजीटेबल मिलाकर बेचता है तब वह सारे अन्याय और स्वास्थ्य की प्रश्नावलियाँ भूल जाता है। यह आज की स्थिति है कि व्यक्ति स्वयं अपने स्वार्थ के पोषण में चुप रहता है और स्वयं लुटता है तब कोलाहल मचाता है। लेकिन यह दृढ़ सत्य है कि जबतक व्यक्ति स्वयं अपने लिये पड़नेवाली प्रतिकूल स्थिति को दूसरों के लिये करता रहेगा तबतक संभव नहीं है कि वह भी सुखी बन सके। अगर व्यक्ति यह एक ही बात ग्रहण कर ले कि दूसरों के लिये बुरा कार्य नहीं करूँगा तो वह सही रूप में मानव बन सकता है।

लोग कहेंगे—यह तो हम सदा से सुनते आये हैं आपने नई बात क्या कहा? लेकिन नई बात कह कर घोड़े के सींग उगानेवाला और आकाश मे फूल लगानेवाला और भी व्यक्ति भूल गया है उसे याद दिलाये बिना नई को अवकाश ही कहाँ है? हमें तो पुराना घर जो उजड़ चुका है उसे मरम्मत करके ठीक करना है ताकि हर एक व्यक्ति उसमें आकर जीवन-उत्थान करते हुए आत्म-शान्ति की अनुभूति कर सके।

ऊपर मैंने जिन बातों पर आप लोगों का ध्यान आकर्षित करने की कोशिश की, मुझे आशा है कि आप उन्हें सही रूप में अपना कर आदर्श की चरम मंजिल परमात्मपद तक पहुँचेंगे।

मांडवी बंदर,
८ जुलाई '५४

६६ : संयम ही जीवन है

संयम का मतलब है—आत्म-नियंत्रण। जहाँ इसकी कमी होती है वहाँ अधर्म की उत्पत्ति होती है।

नियन्त्रण दो प्रकार के होते हैं—बाह्य-नियन्त्रण (कानून आदि) और आत्म-नियन्त्रण (स्वयं का नियंत्रण)।

बाह्य-नियंत्रण दुःखमय होता है। उसमें नियन्त्रण होने पर भी आत्म-शान्ति का अनुभव नहीं होता लेकिन आत्म-नियन्त्रण करने के बाद मे शान्ति मिलती है। यहा सुख का साधन है। धर्म भी इसीमें है। शान्ति भी इसीमे है। आत्मोज्ज्वलता भी इसीमें है।

नियन्त्रण तीन तरह से होता है—मन-संयम, वचन-संयम और इन्द्रिय-सयम।

इन सब में मन का संयम अति कठिन है। अगर मन पर संयम हो जाता है तो वचन-संयम अपने-आप हो जाता है, इन्द्रिय-सयम अपने-आप हो जाता है। मन-संयम मे तीनों अन्तर्निहित हो जाते हैं।

आज के युग में सबसे बड़ी कमी आत्म-संयम की है। दूसरों को अधिकार में लेने की भावना अभी चल रही है।

मन पर संयम रखना कठिन है। उसकी गति तीव्र है। एक बार वह बाग-बगीचों की हवा खाता है तो दूसरे क्षण में सामुद्रिक तटों की और तीसरे क्षण मे और कहीं की। ऐसी स्थिति में यह संयम सहज साध्य नहीं हो सकता फिर भी वचन और इन्द्रियों का संयम तो रखना ही चाहिये। इसके बाद क्रमशः मन को संयत रखने के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये।

संयम के दो रूप हैं—

१—सर्व-संयम और २—देश-संयम।

१—सर्व-संयम—मन, वचन और इन्द्रियों पर पूर्णतया सयम रखना। साधुओं का जीवन इसका प्रतिरूप होता है।

२—देश-संयम—यथाशक्ति संयम करना। अमुक वस्तु नहीं खाऊँगा, इतने समय तक नहीं खाऊँगा। अमुक वस्तु का इतनी सीमा तक त्याग रखूँगा—यह देश-संयम है। यह देश-संयम गृहस्थ जीवन के लिये उपयुक्त है।

संयम का अभाव होने से घर-घर में झगड़े होते हैं, समाज और राष्ट्र में विग्रह फैलते हैं। विश्व में अशान्ति फैलती है। इनका कारण संयम का ही अभाव है। अगर व्यक्ति-व्यक्ति इस तत्त्व को समझ कर संयम की साधना में लगे तो सारी समस्यायें सुलझ सकती हैं।

विश्व-शान्ति की समस्या का समाधान इन थोड़े से शब्दों में किया है पर इसके लिये अथक प्रयत्न की आवश्यकता है। प्रथम शुरुआत में साम्राज्यवादी लिप्सा और धन-संग्रह की वृत्ति को तोड़ना होगा।

संयम ही जीवन है, सुख का साधन भी संयम है, विश्व-शान्ति का साधन भी धर्म है।

सिक्कानगर,
९ जुलाई '५४

६७ : चारित्रार्जन

साधुओं का प्रवचन जहाँ होता है वहाँ अध्यात्म और नैतिकता का सजीव वातावरण बन जाता है। इसे भगवद्-वाणी का असर मानिये या साधुओं की साधना का फल, कुछ भी मानिये, आखिर यह होता ही है। व्यक्ति जब गृहस्थ जीवन के झमेले से ऊबकर धार्मिक उपासना व क्रिया-कर्मों में लगता है तो उसे आत्मानन्द की अनुपम अनुभूति होती है। प्रत्येक व्यक्ति का यह प्रमुख कर्तव्य है कि वह अपने जीवन के सही लक्ष्य को समझकर धार्मिक उपासना मे लगे। अच्छा खाना, अच्छा पहनना और आराम का जीवन बिताना ही इस जीवन का मकसद नहीं है। उसकी सफलता और सार्थकता इसमे है कि व्यक्ति चारित्रार्जन कर अपना और दूसरों का कल्याण करे। चारित्र जीवन की सम्पत्ति है अगर इसे उन्होंने सँभाल कर नहीं रखा तो उनके कार्यक्रमों की सफलता में बहुत कुछ असम्भावनाएँ हैं। मैं कार्यकर्त्ताओं से अपील करूँगा कि बे चारित्रार्जन की ओर ज्यादा से ज्यादा ध्यान दें।

सिक्कानगर,
११ जुलाई '५४

६८ : जीवन में त्याग का महत्त्व

जगत् मे व्यक्ति की जिन्दगी दो रूप में बीतती है—एक त्यागमय और दूसरी भोगमय। यह जरूर है कि जीवन में उनकी न्यूनाधिकता रहती है। कोई कम त्यागी होता है तो कोई कम विलासी और कोई अधिक। पर सामान्यतया ये दो रूप हैं। त्याग का जीवन प्रारम्भ में कठिन जरूर होता है पर बाद में उसकी साधना से उसका फल अनुपम होता है। विलासी व्यक्ति का जीवन भले ही एक बार सुन्दर व आकर्षक लगे पर बाद मे उसका परिणाम बुरा होता है। व्यक्ति यह जानता है फिर भी त्याग की ओर नहीं बढ़ता; बढने की चेष्टा करता है पर भौतिक पदार्थों का मोह या आकर्षण समझिये कि वह फिर पीछे खिसकता है और फिर भौतिक पदार्थों के माया-जाल में फँस जाता है। बढ़ने के साथ-साथ उसमें आत्म-बल होना चाहिये जिससे वह त्याग के मार्ग में आनेवाली कठिनाइयों को पार करता हुआ चला जाय। लेकिन आज के लोग इतने ज्यादा त्याग के प्रति आकर्षित व दृढ़ निष्ठावाले नहीं हैं जो इतनी हिम्मत कर सकें। उसकी गहराई मे पहुँचकर व उसके सुफल का तत्त्व समझ कर जो दृढ़ आस्था उसमे कर लेता है वह उस कण्टकाकीर्ण पथपर आगे बढ़ सकता है।

सही रूप मे त्यागी वह है जो सर्व साधन सामग्रियो के उपलब्ध होने पर भी उनको ठुकराता है और त्याग के मार्ग पर आगे बढ़ता है। भिखारी कहे कि मैं अपरिग्रही हूँ, त्यागी हूँ तो यह तो त्याग की विडम्बना है। श्रीमंत होते हुए भी जो पूँजी और सर्व साधन सामग्रियों का त्याग करता है वही त्यागी है, अपरिग्रही है।

त्याग की महत्ता सभी धर्मों मे बताई गई है लेकिन जैन-दर्शन इसके लिये विशेष रूप से बल देता है। उसमें जहाँ साधुओ को पूर्ण त्यागी बनने का प्रतिपादन किया गया है वहाँ गृहस्थों को भी संयमी बनने की शिक्षा दी गई है। उनके लिये भी त्याग अनिवार्य बतलाया गया है—अणुव्रती बनो, अमुक वस्तु का इतनी सीमा तक त्याग करो; आदि इसी त्याग की प्रणाली के अंग हैं।

अध्यात्म-जगत् में सम्राटों की, राजाओं की और धनकुबेरों की प्रतिष्ठा नहीं किन्तु त्यागियों की प्रतिष्ठा है। व्यावहारिक क्षेत्र मे भी वह प्रतिष्ठा अच्छे रूप मे रहा और आज भी विद्यमान है। अध्यात्म-जगत में विचरण करनेवाले ऋषि-महर्षियों ने अपने आत्म-कल्याण के साथ-साथ लाखों करोड़ों प्राणियों को उनके

जीवन का दर्शन कराया और त्याग पर आने की प्रेरणा दी। उनके उपदेशों में यही आवाज प्रतिध्वनित होती रही कि जीवन का लक्ष्य पूंजी का संग्रह नहीं है, भोग-परिभोगों को भोगना नहीं है। उसकी सार्थकता है त्यागी बनने में। अगर इस कार्य से विमुख होकर पूँजी और विलास की ओर मुड़े और उसमे लीन हो गये तो याद रखना कि--तुम्हारी आत्मा पतन के गर्त मे फँसती चली जायगी और अपने अमूल्य जीवन को मिट्टी में मिला दोगे।

जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्त्ति हो सकती है किन्तु लालसाओं की पूर्त्ति कभी सम्भव नहीं। लालसाओं के कायम रहते हुए सुख मिलना सम्भव नहीं है। जब तक भौतिक पदार्थों से आकर्षण हटकर जीवन सादगी और सन्तोपमय नहीं बनेगा तब तक विश्व की अनेक समस्यायें नहीं सुलझ सकतीं। अगर व्यक्ति अपना जीवन हलका बना ले तो सभी समस्यायें सहजतया सुलझ सकती हैं। इस तरह व्यक्ति को आडम्बरों को कम करते हुए जीवन को ज्यादा से ज्यादा त्यागमय बनाना चाहिये।

सिकानगर,
११ जुलाई '५४

६६ : चारित्र-उत्थान

आचार आये, पनपे और फैले; इससे पूर्व विचार-क्रान्ति आनी चाहिये। आचार से पहले विचार है, उसके अभाव मे आचार भी अधूरा रह जाता है। अगर उपयुक्त समय पर उपयुक्त विचार मिले तो आचार-विचार को बहुत बड़ा बल मिलता है। इस दृष्टि से समय-समय पर आयोजन किये जाते हैं।

अणुव्रत-आन्दोलन एक दृष्टि से कोई आन्दोलन नहीं है और न क्रान्ति ही, यह तो जीवन-शोधन की एक प्रक्रिया मात्र है। जिस तरह गवेषणशालाओं और रसायण-शालाओं में अनेक तत्त्वों की शोध की जाती है उसी तरह यह आन्दोलन जीवन-शोधन की शोधनशाला है। हमने प्रत्यक्ष रूप में किसी राजनैतिक मामले को हाथ में नहीं लिया है और न आर्थिक प्रश्न को हा छुआ है। बल्कि व्यक्ति के आन्तरिक रोगों को अवश्य छुआ है। इसमें कोई शक नहीं, पर साथ ही साथ मैं यह भी कहूँगा कि अन्यान्य राजनतिक, सामाजिक व आर्थिक समस्याओं का भी इसमें न्यूनाधिक रूप में समाधान मिलता है, पर इसका उद्देश्य जीवन-शोधन ही है। आज

का युग आर्थिक समस्या का युग है। आज व्यक्ति इस समस्या के समक्ष घुटने टेकता जा रहा है। आर्थिक समस्या स्वयं इतनी पेचीदा नहीं है जितनी आज जीवन में आई अनैतिकता और विलासता उसे जटिल बनाती जा रही है। अर्थ की ओर सबकी दृष्टि है और सब उस ओर दौड़े जा रहे हैं। एक पूँजीपति बन जाता है। पूँजीपति अपनी पूँजी का संरक्षण चाहता है और गरीब पूँजीपति बनना चाहता है। दोनों मे ईर्ष्या चलती है, संघर्ष होता है, फिर विषमता मिटे भी तो कैसे ? जब तक पूँजी से आकर्षण हटकर जीवन में सन्तोष और सादगी नहीं आती, तब तक यह कैसे सम्भव है कि आर्थिक समस्या पूर्णरूपेण सुलझ जाय।

अणुव्रत-आन्दोलन बिना किसी वर्ण, वर्ग, जाति और धर्म-भेद के व्यक्ति-सुधार के माध्यम से चलनेवाला एवं नैतिक निर्माणात्मक अनुष्ठान है। व्यक्ति के जीवन को नैतिकता और सदाचार में लाते हुए देश के सबसे बड़े प्रश्न चारित्र-उत्थान की ओर समाधान देता है। मैं उपस्थित नागरिकों से अपील करूँगा कि वे बिना किसी सम्प्रदाय-भेद के इस योजना को अपना कर देश के चारित्र-उत्थान में अपना महत्त्वपूर्ण योग दें।

सिक्कानगर,
१८ जुलाई '५४

१०० : जैन-दर्शन की देन

संस्कृति जीवन का आचार-पक्ष है। **"आचार' प्रथमो धर्म"**--यह भारतीय कण्ठ का पहला स्वर है। मनुष्य विवेकशील प्राणी है। इसलिये आचार-विवेक उसका प्रमुख कर्त्तव्य है। वह जो कुछ करता है प्रकृति से ही नही करता, विवेकपूर्वक करता है। विवेक का विकास विचार से होता है। विचार आचार की पृष्ठभूमि है। सब विचार विचार बनकर जीवन मे उतरता है या नहीं यह दूसरी बात है किन्तु जो आचार बनता है वह विचार का ही प्रतिबिम्ब होता है।

भारतीय संस्कृति वैदिक, बौद्ध और जैन—इन तीन विचारधाराओं से सम्पन्न है। उसमें जैन-दर्शन की कितनी देन है इस विश्लेषण मे मैं नही जाऊँगा। किन्तु वह कितनी मूल्यवान है इतना ही यहाँ कहना है।

जैन-दर्शन के स्वतन्त्र आत्मवाद के सिद्धान्त ने भारतीय मानस को इतना प्रभावित किया कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का स्वर जन-जन का मंत्रपाठ बन गया। ईश्वर

की असीम शक्ति के स्वीकार में भी हमारे जीवन में उसके हस्तक्षेप का अस्वीकार हमारे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का मूलमन्त्र है। हम स्वयं हमारे भाग्य के विधाता हैं और उसका परिणाम भी हम स्वयं झेलते हैं। हमारा पुरुषार्थ स्वतन्त्र होता है, भाग्य उसका परिणाम है। हमारा पुरुषार्थ और उसका परिणाम यदि किसी दूसरे के अधीन हो तो हमारे स्वातन्त्र्य का कोई मूल्य नहीं रहता। पुरुषार्थ और उसके फल के प्रति हमारा उत्तरदायित्व जैसे स्वातन्त्र्य को निश्चित बनाता है वैसे ही आत्मा ही परमात्मा है यह सिद्धान्त भी व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को उत्तेजित करता है। आत्मा यदि परमात्मा का अंश हो तो पुरुषार्थ के प्रति उसके उत्तरदायित्व का कोई अर्थ नहीं होता। वह अपने से भिन्न किसी दूसरी सत्ता का अंश नहीं है। उसका किसी दूसरी शक्ति मे विलय भी नहीं होता।

अहिंसा की मीमांसा में स्याद्वाद के अध्याय का योग अधिक महत्त्वपूर्ण है। इससे समन्वय की दृष्टि और दूसरों के विचारों को समझने की भावना का महत्त्वपूर्ण विकास हुआ है।

लोक-धर्म और आत्म-धर्म के बीच जो भेद-रेखा है उसे समझने के लिये भी जैन-दर्शन ने प्रचुर सामग्री प्रस्तुत की है। "कभी और कहीं" हिंसा धर्म नहीं। धर्म के लिये हिंसा करना अधर्म है। जीवन की वंदना, मानना और पूजा के लिये, जन्म और मृत्यु से मुक्ति पाने के लिये, दु:ख से छुटकारा पाने के लिये लोग हिंसा करते हैं किन्तु किसी भी कोटि की हिंसा धर्म नहीं है। विवाह, सन्तान, उत्पादन, युद्ध, व्यापार आदि-आदि लौकिक प्रवृत्तियाँ धर्म नहीं। ये न्यूनाधिक मात्रा मे हिंसा को प्रश्रय देने वाली हैं।

जातिवाद तात्त्विक नहीं, भाषावाद थोड़ा घमण्ड पैदा करता है, पवित्रता नहीं लाता; बाह्य-शुद्धि से आत्म-शोधन नहीं होता, भगवान् महावीर के ये क्रान्ति-वाक्य वर्तमान मानस को अधिक छूनेवाले हैं। भक्ष्याभक्ष्य का विवेक, तपस्या का विकास, अनशन का प्रयोग ये भी जैन-तत्त्वज्ञान के आभारी हैं।

भारतीय संस्कृति का सही स्रोत तब तक नहीं मिलता जब तक उक्त तीन विचार-धाराओं का तुलनात्मक अध्ययन न किया जाय। इसमें कोई सन्देह नहीं, जैन-दर्शन ने भारतीय मानस को उर्ध्वगामी बनाने मे महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

आप 'अणुबम की स्पर्धा' के मुखिया देश के नागरिक हैं। भारतीय संस्कृति व कला के अध्ययन के लिये यहाँ आये हैं। यहाँ आपको अणुबम नहीं मिलेंगे, यहाँ मिलेंगे अणुव्रत जो शान्ति के महान् सर्जक हैं। हमारा निश्चित मत है कि धन और शक्ति के बल से शान्ति नहीं होती, शान्ति होती है हृदय की पवित्रता से। वह रूप त्याग से, व्रत से आती है। भोग-विलास का नियन्त्रण करने की बात जो भारतीय संस्कृति का मूलमन्त्र है समझने में नहीं आ रही है इसीलिये विश्व का मानस अशान्त बन रहा है। एकतान्त्रिक या प्रजातान्त्रिक, सभी राष्ट्र जीवन की आवश्यकता की वृद्धि और पूर्ति की चिन्ता में संलग्न हैं। किन्तु याद रखिये—आवश्यकताओं के नियन्त्रण की कला जो भारतीय-कला का सबसे ऊँचा मर्म है, सीखे बिना समस्यायें सुलझ नहीं सकतीं—ऐसा मेरा विश्वास है। मैं आशा करता हूँ कि आप भारत की अन्तरात्मा को समझने का अधिक प्रयत्न करेंगे।

बंबई, (अमेरिकन फुलब्राइट स्कालरों के बीच)
२० जुलाई '५४

१०१ : समाजोत्थान में नारी का स्थान

शिक्षा के क्षेत्र में सबका समान अधिकार है। अधिकार में किसीकी न्यूनाधिकता नहीं है, ऐसे भले ही कोई अधिक शिक्षित हो जाय और कोई कम। ऐसा भी एक समय था जब ऐसा कहा जाने लगा था कि नारी को शिक्षार्जन का अधिकार नहीं है। वैसी धारणा कम-से-कम आज तो नहीं टिक सकती। उसे पुरुष जाति की अनधिकार चेष्टा कहिये या पुरुष जाति की स्वार्थमयी भावना का पोषण, पर आज तो समानता का युग है। सब में नवीन जागृति आई है और सब आगे बढ़ना चाहते हैं। नारी जाति भी आज इस साधना में कम नहीं है। अन्यान्य कार्यों में चाहे वह समान अधिकारिणी हो या न हो, पर अध्यात्म के क्षेत्र में तो उसे पूर्ण स्वतन्त्रता है। पुरुष जाति में जितनी त्यागनिष्ठा है उससे कहीं अधिक नारी जाति में आज भी पायी जाती है। इस कारण उसे पुरुष जाति से कहीं अधिक अधिकार मिलना चाहिये। भगवान् महावीर ने नारी-समाज के सर्वाङ्गीण विकास पर बहुत बल दिया है। कतिपय दर्शन जहाँ नारी को मोक्ष की अनधिकारिणी मानने लगे, वहाँ उन्होंने नारी के लिये मोक्ष के द्वार खुले बतलाये। उनकी दृष्टि में धर्म के लिये वर्ग, जाति और लिंग का कोई भेद नहीं है।

पुरुष और नारी समाज-रचना के आधार हैं। अगर दोनों सुशिक्षित व सुसंस्कारित हों तो दोनों सर्वतोमुखी विकास कर जीवन की गाड़ी को अच्छी तरह से चला सकेंगे। अगर एक पाहया भी उसमें कमजोर होगा तो मार्ग में बहुत बाधायें आयेंगी, अड़चनें आयेंगी और इस तरह उसका विकास अवरुद्ध होता चला जायगा। दोनों का जीवन सुचारू रूपसे चलता रहे इसके लिये आवश्यक है कि दोनों सुशिक्षित व सुसंस्कारी हों। इससे भी ज्यादा आवश्यकता मैं इस बात की समझता हूँ कि नारी मे ये गुण अधिक मात्रा मे आयें। बच्चे, जो राष्ट्र की अमूल्य सम्पत्ति हैं उन पर जितना गहरा व स्थायी प्रभाव माता का पड़ता है उतना दूसरों का नहीं। उसका जितना समय स्कूल और बाहर में बीतता है प्रायः उससे भी ज्यादा माता के पास बीतता है। माता अगर सुसंस्कारी है तो उसके सुन्दर संस्कार बच्चे पर जमेंगे। फलतः देश का भविष्य समुज्ज्वल होगा।

सर्व प्रथम यह प्रश्न आता है कि ज्ञानार्जन किसलिये किया जाय? आज के युवक उपाधियाँ प्राप्त कर पैसे का उपार्जन कर लेना ही शिक्षा का ध्येय मानने लग गये हैं। यह एक गलत दृष्टिकोण है जो आज के युवकों को नैतिकता से परे ले जा रहा है। अगर बालिकायें भी उनकी तरह इस उद्देश्य की साधना में लगेंगी तो मैं कहूँगा कि वे मूल मे भूल करेंगी। ज्ञान और विद्या का लक्ष्य है—जीवन उन्नत, विकसित और पवित्र बने। आज की शिक्षा-प्रणाली पवित्रता नहीं लाती, सिर्फ बाह्य सुधार में व्यक्ति को उलझाती है। शिक्षा का ध्येय आत्म-सुधार होना चाहिये, बाह्य-सुधार भी उससे बहुत सम्भव है पर उसे ही ध्येय नहीं बना लेना चाहिए।

शास्त्रों मे कहा है—**'सा विद्या या विमुक्तये'**–विद्या वह है जो बन्धनों को तोड़कर आत्म-मुक्ति की ओर अग्रसर करे। जहाँ सिर्फ पुस्तकों को पढ़ने, व ज्यो-त्यों करके परीक्षा मे उत्तीर्ण होने का ही लक्ष्य रहता है वहाँ शिक्षा आत्म-मुक्ति का हेतु नहीं बन सकती। अगर यह भ्रान्त लक्ष्य सुधर जाय तो शिक्षार्थी भी उत्तीर्ण होने की कोशिश नहीं करेंगे और न अध्यापक व अध्यापिकायें ही सिर्फ उत्तीर्ण कराने की कोशिश करेंगी; बल्कि चाहेंगी की विद्यार्थी का जीवन सुसंस्कृत बने। शिक्षकों और शिक्षिकाओं का यह कर्तव्य है कि वे इस ओर आगे बढ़कर अपनी सेवा-भावना का परिचय दें।

कल ही एक बहन ने मुझ से कहा कि आज विद्यार्थियों में कुछ ज्यादा पढ़ जाने

के बाद आत्मा और परमात्मा के प्रति श्रद्धा की कमी पायी जाती है। इसका क्या किया जाय ? मैंने उनसे कहा कि अगर आप केवल ईश्वर का नाम लेकर या उसे सृष्टि का नियन्ता व संचालक बनाकर ही उनमें ईश्वर के प्रति श्रद्धा पैदा करना चाहते हैं तो यह कार्य कम सम्भव है। आप उन्हे यह अच्छी तरह समझाइये कि जो आत्मा है वही अच्छी क्रिया करने से शुद्ध अवस्था होने पर 'परमात्मा' बन जाती है ; व्यक्ति ही अपने अच्छे और बुरे भविष्य का निर्माता है, ईश्वर न उसका बुरा करता है और न भला। अच्छी प्रवृत्ति अच्छे फल का हेतु बनती है तो बुरी प्रवृत्ति बुरे फल का। अगर यह उनकी श्रद्धा में आ गया तो आत्मा और परमात्मा मे श्रद्धा न होने का कोई कारण नहीं रह जायगा।

आज भौतिक-विज्ञान का युग है। बाह्य सुख सुविधाओं के साधन दिन पर दिन बढ़ते जा रहे हैं। स्थूल शरीर उसमें आराम पाता है इसलिये वह आकर्षक भी लगता किन्तु उससे आत्मा का पतन होता है यह किसी को सहजतया नहीं दीखता। एक घंटे के लिये बिजली न मिले, तो सारा काम बन्द हो जाता है, और तो और, प्रकाश नहीं होता, पंखे नहीं चलते और यहाँ तक कि रोटी तक का पकना मुश्किल हो जाता है। भौतिक-विज्ञान से कितनी परतन्त्रता व्यक्ति में आ गई है ! आज के मनुष्य को ऐसा लगता होगा कि शायद पुराने जमाने के आदमी शिक्षित नहीं थे या मनुष्य भी नहीं थे। कुछ भी कहा जाय पर आज के मनुष्यों मे वह स्वावलम्बन नहीं रहा जो पहले के मनुष्य में था। आज अधिक शृंगार-सामग्री चाहिये जो कि बिना अनैतिक तरीकों के नहीं आ सकती ? पहले सीधा-सादा जीवन था, शोषण भी कम था। शोषण के बिना साधन नहीं बढ़ सकते ? क्या इसे ही प्रगति कहे ! मैं समझता हूँ यह प्रगति आध्यात्मिक दृष्टिकोण से तो उपादेय नहीं है। अगर बहनें भी इसी तरह बाह्य सुख-सुविधाओं मे पड़कर अपनी आत्मा को नीचे गिरायेंगी तो उनके लिये यह बात हितकर नही होगी। बाह्य सुख क्षणिक हैं, अभी हैं, दो मिनट बाद मिट सकते हैं। उन्हें तो शाश्वत और चिरस्थायी आनन्द—आत्मानन्द की ओर बढ़ना चाहिये।

आध्यात्मिक क्षेत्र मे महिलायें सदा से पुरुष-जाति का पथ-प्रदर्शन करती आई हैं। जब-जब पुरुषों में नैतिक पतन आया था, तब-तब नारी-जाति ने उसे सहारा देकर उठाया और उसे नैतिकता की ओर गति दी। प्राचीन इतिहासों में नारी का गौरव

कम नहीं है। इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठ आज भी उनकी गुण गाथायें गा रहे हैं। जैन-सूत्रों में एक वर्णन आता है—

भृगुराज पुरोहित संसार से विरक्त होकर अपनी भार्या और दोनों पुत्रों के साथ संयमी बनने जा रहे थे। राजा को इसकी खबर मिली। उसे अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि पुरोहित के दीक्षित होने से और उसके परिवार में कोई न होने कारण उसकी सारी सम्पत्ति मेरे भण्डार में आ जायेगी। राजा ने मंत्री को आदेश दिया कि पुरोहित के घर पर जाकर कब्जा करो और उसकी सम्पत्ति बटोर कर यहाँ पर ले आओ। मंत्री ने आदेश का पालन किया। पुरोहित की सम्पत्ति राज-भण्डार में जमा होने लगी।

अचानक रानी को यह खबर लगी कि राजपुरोहित का सारा परिवार दीक्षित हो रहा है और इस तरह उसकी सम्पत्ति भण्डार में आ रही है। रानी के हृदय पर मानो प्रहार सा हुआ। वह सोचने लगी—देखो, यह पुरोहित तो धन को छोड रहा है और हम उसे ग्रहण कर रहे हैं!... .यह बहुत बुरी बात है, हमें इसका ग्रहण नहीं करना चाहिए। यह विचार कर रानी ने राजा को कहलवाया कि दो मिनट के लिये वह ऊपर पधारें। पर राजा को इतनी फुरसत कहाँ थी, वह तो पुरोहित का धन बटोरने में लगा था। तब वह स्वयं ही अपना साहस बटोर कर नीचे आई और राजा को इस दुष्प्रवृत्ति से सचेष्ट करते हुए बोली—हे देव! धन को असार समझ कर तथा अनर्थों का मूल समझ कर राजपुरोहित साँप की केंचुल की तरह उसे छोड़े जा रहा है, आप उसे भण्डार में ला रहे हैं। कहाँ उसका त्याग और आप का यह कार्य? यह आप के योग्य नहीं।

यह सुनते ही राजा का सिर शर्म से जमीन में गड़ गया। उसे होश हुआ कि मैं कैसा अनर्थकारी कार्य करने जा रहा था। राजा ने तुरन्त मन्त्री को धन वापस ले जाने का आदेश देते हुए रानी से कहा—देवि, आज तुमने मेरी आँखें खोल दीं। आज मुझे गिरने से तुमने बचा लिया। अब मुझे इस दुर्विचार के लिये क्या प्रायश्चित्त करना चाहिये? रानी ने अपने संसार से विरक्त हुए हृदय को खोलते हुए कहा—"समूचे राज्य-पाट और भण्डार को छोड़कर संतोष-वृत्ति में आप अपने जीवन को सम्भालें और संयम की साधना करें।" तब उसे विरक्ति हुई और अपने समूचे ऐश्वर्य सम्पन्न राज्य को छोड़कर राजा तथा रानी राजपुरोहित के परिवार के साथ ही दीक्षित हो गये।

नारी-रत्न के बल का यह एक अनूठा नमूना है।

अगर आज बहनें इसको हृदय से स्वीकार कर पुरुषों से कह दे कि हमें आभूषण और बढ़िया कपड़े नहीं चाहिये, आप अनीति और अनाचार से पूँजी का उपार्जन करना छोड़ दीजिये तो मैं समझता हूं कि आज की अनैतिकता बहुत कुछ मिट सकती है।

बम्बई,
२१ जुलाई '५४

१०२ : अपरिग्रह

परिग्रह से विरक्त होकर अपरिग्रह में आने के अर्थ से जीवन का पग-पग पर सम्बन्ध है। आज जीवन-शास्त्र करीब-करीब अर्थशास्त्र बन गया है। अर्थ अपरिग्रह के योग से ही पारमार्थिक बन सकता है।

लोग आज अर्थ को जीवन का चरम लक्ष्य मान बैठे हैं। वे भूलते जा रहे है कि सच्चा सुख या शाश्वत शान्ति बाह्य पदार्थों में नहीं, आत्मा में है। यह माना कि गृहस्थ या समाज में रहनेवाला व्यक्ति अर्थ से अपने को बिल्कुल परे रख सके यह सम्भव नहीं पर उसका दृष्टि-लक्ष्य अर्थ नहीं होना चाहिये। अर्थ जीवन का साधन हो सकता है, जहाँ वह साध्य मान लिया जाता है वहाँ जीवन का सारा क्रम बदल जाता है। उसमें अनाचार, शोषण, धोखा, मतलबपरस्ती जैसे अनेकानेक दुर्गुण अपना अड्डा जमा लेते हैं। अपरिग्रह का अर्थ है—मूर्च्छा या आसक्ति का अभाव। पर जहाँ कहने भर को अनासक्ति हो, संग्रह और संयम में मन हो तो विरक्ति हुई नहीं। वह अत्यन्त आसक्ति है, बन्धन है। आज निष्ठा पूँजी की नहीं, त्याग के प्रति होनी चाहिये; अपरिग्रह की होनी चाहिये। ऐसा होने से लोग त्याग की ओर उन्मुख बनेंगे और सच्चे सुख के अधिकारी होंगे।

बंबई,
२२ जुलाई '५४

१०३ : विज्ञान का दुरुपयोग

भारतीय संस्कृति में चारित्र का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। कौन व्यक्ति कितना चारित्रवान है इस आधार पर यहाँ व्यक्ति की परख होती थी परन्तु आज पूंजी के आधार पर व्यक्ति की परख होती है। भौतिक विज्ञान का दुरुपयोग दिन पर दिन व्यक्ति को अकर्मण्य बनाता जा रहा है। यह अपनी त्यागमूलक संस्कृति की अवमानना है और उसीके परिणामस्वरूप देश में दिन पर दिन अनैतिकता, अनाचार और शोषण जैसी पाशविक वृत्तिया व्यक्ति के सिर पर छाती जा रही हैं। चारित्र के अभाव में मनुष्य जीवन मे विषमता आती जा रही है। इतना ही नहीं बल्कि उससे समाज और राष्ट्र का वातावरण भी छिन्न-भिन्न व दूषित होता रहा है। आज के समस्यापूर्ण युग मे जबकि व्यक्ति बुराइयों का दास बनता जा रहा है, चारित्र की अत्यन्त आवश्यकता है। उससे जहाँ व्यक्ति का जीवन सुखी व शान्त बनता है वहाँ समाज और राष्ट्र की विषमताएँ मिटकर प्रेम, सदाचार व ईमानदारी का वातावरण विकसित होता है।

त्याग, क्षमाशीलता, सहिष्णुता, निर्लोभ वृत्ति और ब्रह्मचर्य जैसे गुणों की साधु जहाँ सम्यक्रूपेण साधना करते हैं वहाँ गृहस्थों को भी चाहिये कि इनको जीवन मे उतार कर आत्म-विकास की ओर आगे बढ़ें। अगर ऐसा किया गया तो मैं समझूँगा कि उन्होने अपने जीवन का सही मूल्यांकन कर उसे सफल सार्थक बनाया है।

बंबई,

२४ जुलाई '१९५४

१०४ : दुःख का मूल

लोग कहते है देश का पतन हो गया, समाज का पतन हो गया, पर मुझे लगता है कि आज व्यक्ति की आत्मा का पतन हो रहा है। व्यक्ति मे भावना थी प्रेम की, बंधता की और भाईचारे की। वह भी अपने भाई, पुत्र या परिवारवालों तक ही नहीं, बल्कि देशवासियों तक के साथ।

आज चाहे भाई भी दुःखी हो, इसकी चिन्ता नहीं होती। स्वयं सुखी बनना चाहिये। व्यापारी शोषण कर सकते हैं; कम तौल-माप कर सकते हैं, मिलावट कर सकते हैं, पर ऐसा करते यह नहीं सोचा जा जाता कि यह मानवता का पतन है, बहुत बड़ी हिंसा है। यद्यपि वे तलवार से हिंसा नहीं करते पर कलम से करते नहीं सकुचाते

जितना शोषण तलवार से हुआ है उससे कहीं अधिक लिखवाना, ज्यादा व्याज लेना आदि भी ऐसी हा प्रवृत्तियाँ हैं जो प्रत्येक मानव कहलानेवाले के लिये ताज्य हैं।

जिस तरह देश के स्वतन्त्रता-संग्राम में व्यक्तियों ने अपना सर्वस्व बलिदान कर लेने की ठान ली थी आज उसी तरह आवश्यकता है कि देश में व्याप्त अनैतिकता के विरुद्ध एक अहिंसात्मक लड़ाई छेड़ी जाय। वह लड़ाई मनुष्यों के साथ नहीं---बुराइयों के साथ होगी। आज व्यापारियों को चाहिये कि अपने जीवन-व्यवहारों में व्याप्त अनैतिकता को निकाल कर जीवन-विकास की ओर आगे बढ़े। अगर एक-एक व्यक्ति इस तरह सुधर गया तो कोई कारण नहीं कि अनैतिकता और अशान्ति रहे।

आज व्यक्ति धन-संग्रह में लगा हुआ है, लालसाओ पर उसका नियन्त्रण नहीं है। यही दुःख का मूल है। धन को सुख का साधन व जीवन का साध्य मान लिया गया है। इससे अन्याय, शोषण और अनाचार पनपने लग जाते है। धन जीवन का साध्य नहीं, साधन है। व्यक्ति इस तत्त्व को समझकर अपरिग्रह की ओर आगे बढ़े—यही मेरी सबको प्रेरणा है।

बंबई,
२७ जुलाई, '५४

१०५ : धर्म के नाम पर ढोंग

भारत की संस्कृति धर्म-प्रधान है। अन्यान्य देशो में धर्म नहीं है या वहाँ की जनता धर्म नहीं कर सकती, ऐसी बात नहीं है पर भारत की जनता मे धार्मिक संस्कार बहुलता से पाये जाते हैं इसीलिए उसे धर्म-प्रधान कहा जाता है। यह बड़े सौभाग्य की बात है। यहाँ के प्राचीन वाङ्मय में जहाँ ऋषियो, विचारकों व लेखकों ने धर्म की गौरव-गाथायें गाई वहाँ राजनीतिज्ञों ने राजनीति मे भी धर्म को भुलाया नहीं। ऋषियों ने धर्म को उत्कृष्ट मंगल बताया वहाँ राजनीति मे भी धर्म और त्याग की प्रतिष्ठा रही। जो श्रद्धा और प्रतिष्ठा सदैव से जनता में धर्म के प्रति रहा है आवश्यकता है कि वह आज भी जनता मे मौजूद रहे।

धर्म जहाँ जीवन-शुद्धि का साधन है, आज कहीं-कहीं उसका प्रयोग अपने स्वार्थ-पोषण के लिए भी होने लगा है। बाहरी गुलामी के साथ-साथ जनता की मनोवृत्ति

में भी गुलामी आ गई और उसीके फलस्वरूप तम्बाकू और शराब जैसी चीजें भी धर्म के नाम पर मागी जाती हैं। सुधार और कल्याण जहाँ धर्म के नाम पर होते थे वहाँ आज स्वार्थों का पोषण भी धर्म के नाम पर हो रहा है। यह अत्यन्त लज्जाजनक स्थिति है। ब्लैक करने वाले व्यापारियों से पूछा जाता है—आप ब्लैक करते हैं? उत्तर मिलता है--हम ब्लैक करते हैं पर साथ में दान भी तो हमी करते हैं। इसे दान कहे या दान के आवरण में स्वार्थ का पोषण? धर्म के नाम पर ऐसे ढोंग क्या अनुचित नहीं हैं।

आज जनता के सामने धर्म का सही रूप न आकर बाह्य आडम्बर, दिखावा आदि ही सामने आते हैं। शायद उसीको देखकर आज के कतिपय व्यक्ति धर्म को अफीम कहने लगते हैं। अगर धर्म केवल आडम्बर ही सिखाता है तो वह वास्तव मे ही अफीम जैसा कार्य करता है। पर धर्म जब आडम्बर नहीं है, जीवन-शुद्धि का साधन है तो वह अफीम भी नहीं हो सकता यहाँ तक कहना चाहिये कि धर्म के बिना कोई भी व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता। धर्म सिखाता है—किसी को दुःख मत दो, मत सताओ। विश्वबन्धुता और भाईचारे की भावना धर्म है। अगर व्यक्ति इस वास्तविक धर्म पर चले तो व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के उत्थान के साथ-साथ धर्म की भी अच्छी भावना हो।

बंबई,
१ अगस्त '५४

१०६ : अनेकान्तवाद

युवकों में कार्य करने की शक्ति होती है। यदि उसका सदुपयोग हो तो बहुत बड़ा फल आता है। उन्हें केवल नास्तिक या ऐसे-वैसे कहने से कुछ बनने का नहीं। युवक और वृद्ध दोनों का ही समन्वय सही है। वृद्धों का अनुभव और युवकों की कार्यक्षमता इन दोनों का समन्वय शक्ति का स्रोत बन सकता है।

व्याख्यान का विषय भी 'अनेकान्त' है। मुझे विषय-प्रवेश करना है। हम सबका जीवन ही अनेकान्तमय है तब विषय-प्रवेश क्या करूँ? क्योंकि स्वयं प्रविष्ट जो हूँ। एकान्त का जो विरोधी है वह अनेकान्त है। एकान्त से बाधा आती है और अनेकान्त से वह मिट जाती है। अनेकान्त क्या है यह बताने के पहले यह बताऊँ कि उसकी पृष्ठभूमि क्या है।

जैन-दर्शन में अहिंसा का क्या स्थान है वह आप जानते हैं। कायिक और वाचिक हिंसा से भी मानसिक हिंसा जटिल होती है। दूसरों को मत मारो—अहिंसा की सीमा इतनी ही नहीं है उसका सिद्धान्त आगे कुछ कहता है—दूसरों को सही-सही समझो और उनके विचारों के प्रति भी अन्याय मत करो। दूसरों के विचारों की हत्या भी महान् पाप है। विचारों की तोड़-मरोड़ से हजारों आदमी संदिग्ध बन उन्मार्गगामी बन जाते हैं। व्यक्ति और समाज के आचार और विचार की जो मर्यादायें हैं उन्हें समझो; उनके साथ न्याय करो--उन्हें भ्रान्त रूप से मत रखो। मानसिक हिंसा से बचो। यही अनेकान्त की पृष्ठभूमि है।

अनेकान्त अहिंसक जीवन में ही फलित होता है। एकान्त की ओर झुकनेवाली दृष्टि हिंसक बन जाती है। सब यह चाहें कि 'मैं जैसे मानता हूँ वैसे ही सब मानें, जो मैं करता हूँ, वही सब करें, सिद्धान्त रूप में सब लोग सब कार्य वैसे ही करें जैसे कि मैं करता हूँ'—यह आग्रह ही छोटी और बड़ी समस्याओं का मूल है। एकान्त से आग्रह, आग्रह से असहिष्णुता, असहिष्णुता से विरोध—इस प्रकार हिंसा क्रमशः बढ़ती चली जाती है। वहाँ अनेकान्त हमें दृष्टि देता है और मानसिक हिंसा से बचाता है। आत्मायें अनन्त हैं और वे सब स्वतन्त्र हैं। जहाँ दो हैं वहाँ टक्कर हो सकती है किन्तु उससे बचने के लिये अनेकान्त मध्यस्थ या तटस्थ-वृत्ति प्रस्तुत करता है। उससे व्यक्ति को विशालता मिलती है और वह दूसरों के साथ असहमत होते हुये भी मानसिक संतुलन बनाये रख सकता है।

अनेकान्त का दूसरा रूप है—समन्वय। इसकी दृष्टि से देखनेवाला विचार-भेद में भी अविरोध देखता है। सामूहिक कार्यों को कोई धर्म की, कोई पुण्य की, कोई पुण्य की, कोई कर्तव्य की और कोई राष्ट्र-हित की प्रेरणा से करते हैं। यह दृष्टि-भेद है किन्तु कार्य-भेद तो नहीं है। समाज का दायित्व जो लेता है वह उसकी अपेक्षायें पूरी करता है इसमें कहाँ दो मत हैं? एक व्यक्ति को भ्रम था कि तेरापन्थी सार्वजनिक कार्यों में धन नहीं लगाते। बाद मे उसे पता चला कि बात ऐसी नहीं है। उसने मुझसे कहा—तब फिर विरोध क्यों है? इसका उत्तर मैं क्या दूँ? पुस्तक पढ़ने या प्रवचन सुनने मात्र से तत्त्व समझ मे नहीं आता। तत्त्व समझने के लिये लेखक और प्रवचनकार को सारी स्थितियों का ज्ञान होना चाहिये। दूसरा कौन किस भूमिका में क्या स्वीकार करता है इन सब पर दृष्टि डाले बिना 'सत्य' नहीं

मिलता। कोई कहता है—अभी दिन है, दूसरा कहता है—नहीं, रात है। दोनों बातें विरोधी हैं। दोनों मिथ्या नहीं तो कम से कम एक तो अवश्य मिथ्या है। बात ऐसी नहीं। अपेक्षा से दोनों सत्य हैं। यहाँ दिन है, अमेरिका मे रात हो सकती है। जैन-भाषा में यहाँ दिन, महा विदेह में रात होती है। क्षेत्र की अपेक्षा जुड़ी कि दोनों बात सच बन गई। समन्वय का आधार अपेक्षा ही है। अपेक्षा के जरिये कई धर्मों का समन्वय करनेवाला एक श्लोक मिलता है—

वैदिको व्यवहर्तव्यः कर्तव्यः पुनरार्हतः।
श्रोतव्यो सौगतो धर्मो, ध्यातव्यः परमः शिवः॥

इसमें वैदिकों के दैनिक विधि-विधान, बौद्धों की मध्यम प्रतिप्रदा और शैवों की ध्यान-पद्धति की ओर ध्यान खींचा गया है। अहिंसक में आग्रह नहीं होता। वह अच्छाई को हर कहीं से ले लेता है। 'मेरे जैसा कोई नहीं'—इस मान्यता मे विचारों के परिमार्जन का अवकाश नहीं रहता। सर्वज्ञ बनने तक वह रहता है। यह विचार अंतिम ही है—ऐसा मान लेना सामान्य ज्ञान का विषय नहीं।

अनेकान्त विरोधी धर्मों का संगम है। अविरोधी एक साथ रहते हैं इसमे आश्चर्य जैसा कुछ भी नहीं। अनेकान्त विरोधी धर्मों मे भी अविरोधी वातावरण बना देता है।

मानसिक अहिंसा के लिये जैसे अनेकान्त है वैसे ही वाचिक अहिंसा के लिये स्याद्वाद। अनेकान्त दृष्टि है, स्याद्वाद वचन-पद्धति। दोनों समन्वय की दिशायें हैं। समन्वय का अर्थ यह नहीं है कि दो एक हो जाँय, पर उसका अर्थ है—सम्भव हो वहाँ तक ऐक्य और ऐक्य न हो वहाँ मध्यस्थता। हाथ की पाँच अंगुलियाँ एक समान नहीं होतीं किन्तु वे परस्पर-विरोधी नहीं। मैं समन्वय के बारे में कहा करता हूँ उसका अर्थ यह नहीं कि सब धर्म या सम्प्रदाय एक हो जाँय। मेरा अभिप्राय यही है कि संकुचित मनोवृत्ति और वैर-विरोध का अन्त हो जाय। अगर शब्दों के झगड़े से बचा जाय तो तात्त्विक समन्वय बहुत दूर तक सधता है। वैदिक सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय मानते हैं। जैन की दृष्टि में वह अनादि है। प्रत्येक पदार्थ में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होता है।

सृष्टि की तीन दिशाओं और पदार्थ की तीन दिशाओं में अन्तर नहीं है। अंतर इतना ही है—वैदिक इन शक्तियों के प्रतीक व्यक्तियों ब्रह्मा, विष्णु और महेश को

मुख्य मानते हैं और जैन इन शक्तियों को ही। यही बात ईश्वर-कर्तृत्व के विषय में भी है। वैदिक कहते हैं—सृष्टि का कर्ता परमेश्वर है, तब जैन कहते हैं—आत्मा ही परम ईश्वर है, वह कर्ता है। एक कहता है—ईश्वर सर्वव्यापी है पर दूसरे के विचार में समूचा जगत् ही चेतन से व्याप्त है। इस प्रकार सत्य बाहरी आवरणों से बँधने पर भी मूल में तो सुरक्षित ही है।

अनेकान्त का उपयोग केवल तत्त्वचिंतन में ही होता है, आचार में नहीं—ऐसा कई लोग कहा करते हैं। कुछ अंशों में यही सही भी है। जो तत्त्व चिन्तन में है व्यवहार में भी होना चाहिये। आइन्स्टीन का अपेक्षावाद विश्वव्यापी बन सकता है, जैनों का अनेकान्त नहीं। कारण क्या है? और कुछ नहीं—स्वयं जैनों की अकर्मण्यता।

तत्त्वचिन्तन में स्याद्वाद के चार मुख्य रूप हैं—"**स्यान्नाशि नित्यं, सदृशं विरूपं, वाच्यं न वाच्यं सदसत्तदेव।**" जो नित्य है वह अनित्य भी है—समान है वह असमान भी है—सत् है वह असत् भी है—एकान्ततः कोई भी पदार्थ न नित्य है, न समान, न वाच्य और न सत्। इस पर से कई लोग कह देते हैं कि स्याद्वाद संशयवाद है—किन्तु यह अनुचित है। जो वस्तु जिस रूप से नित्य है उस रूप से अनित्य नहीं। चेतन और अचेतन दोनों द्रव्य हैं इसलिये द्रव्य की मर्यादा से दोनो समान हैं किन्तु चैतन्य और अचैतन्य की मर्यादा मे दोनो दो हैं। अमुक मनुष्य विद्वान् है, वह वक्ता भी है, लेखक भी है और-और भी है। है—यह सही है, पर एक काल मे, एक शब्द द्वारा वक्तव्य धर्म तो एक ही है। सबको एक साथ कैसे कहा जाय? मनुष्य-मनुष्यत्व से मनुष्य है किन्तु स्त्रीत्व से उसकी सत्ता नहीं है। एक रूप से किसी की सत्ता होती भी नहीं।

अनेकान्त के लिये आचार का क्षेत्र भी खुला है। हमारे व्यवहार में उसका प्रयोग हो तो बहुत उलझनें अपने आप मिट जायं। छोटी-छोटी बात को लेकर मनुष्य उलझन में फँस जाते हैं, जहाँ फँसना नहीं चाहिये। सत्य एक दृष्टि से नहीं तोला जाता। देखिये महावीर-वाणी—

जे केइ खुद्दगा पाणा, अदुवा संति महालया।
सरिसं तेहिं वेरंति, असरिसंती णो वए॥

—छोटे और बड़े जीवों की हिंसा में वैर या पाप समान होता है या न्यूनाधिक—यह नहीं कहना चाहिये। मानसिक भाव आदि की इतनी विचित्रतायें हैं कि छद्मस्थ इसे सही-सही नहीं तौल सकता।

अनेकान्त के व्यवहार से राष्ट्रीय, सामाजिक और पारिवारिक समस्यायें सरलता से सुलझ सकती हैं। राजनैतिक क्षेत्र में बार-बार दुहराया जाता है—हम एक दूसरे को समझने की कोशिश करें और सहन करें। क्या यह 'अनेकान्त' नहीं है। यह जीवन में उतर जाय तो मार्ग सीधा है।

अनेकान्त एक महान् सिद्धान्त है। यदि उसका सही उपयोग किया जाय, तो गलत उपयोग से वस्तु का मूल्य बदल जाता है। स्वार्थी लोग सिद्धान्तों का दुरुपयोग भी किया करते हैं। जब रुपया देने की स्वयं की इच्छा नहीं होती तब मांगनेवालों को उत्तर दिया जाता है कि हमारे धर्म में तो देने की मनाही है। यह सिद्धान्तवादिता नहीं, धर्म की ओट मे स्वार्थपोषण है। दूसरे सोच सकते हैं—पाँच मंजिली हवेलियाँ बनाते समय, शोषण के द्वारा अर्थसंग्रह करते समय धर्म मना नहीं करता और सार्वजनिक कार्यों के लिये रुपया देने में धर्म मना करता है—ऐसा क्या धर्म है? सिद्धान्त का उपयोग उसीकी दृष्टि से होना चाहिये, अपने लिये नहीं।

विषय प्रिय है; लम्बा-चौड़ा है। जी चाहता है कहता चलूँ। पर अधिक कहने से क्या होगा? काम होगा, थोड़े मे ही अधिक समझने से। गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा—'भगवन्! तत्त्व क्या है?' उत्तर मिला- -'उत्पाद'। फिर पूछा और उत्तर मिला—'व्यय'। तीसरे प्रश्न का उत्तर हुआ—'ध्रौव्य'। इस त्रिपदीमात्र से उनका ज्ञान-चक्षु खुल गया और उन्होंने द्वादशांगी का निर्माण कर डाला। थोड़े मे सफलता हो जाय तो फिर अधिक कहना ही होगा।

सिक्कानगर, (बंबई)
१० अगस्त '५४

१०७ : चारित्र और सदाचार

लोग कहते हैं कि आज शिक्षा की कमी है, अमुक-अमुक चीज की कमी है पर मुझे लगता है कि आज सबसे ज्यादा कमी चारित्र की है। मन्दिर में और साधुओं के पास निरन्तर माला जपनेवाला जब घर पर आकर अनैतिकतापूर्ण व्यवहार करता है तो वह सही रूप में चारित्रशील नहीं कहा जा सकता। चारित्रवान के लिये उपासना केन्द्र और धर्म दो नहीं हो सकते। वह मन्दिर में धर्मोपासना करता है तो घर पर आकर भी उसका विस्मरण नहीं करेगा। पूर्वकालीन युग के व्यक्तियों की मान्यता थी—धन खोया, नहीं कुछ खोया; स्वास्थ्य खोया, कुछ खोया और यदि चारित्र खो

दिया तो सब कुछ खो दिया। पर आज मान्यता इसके विपरीत हो रही है। आज धन चला जाता है तो विचार आता है कि सर्वस्व खो दिया। चारित्र चाहे जीवन में नाम मात्र को भी न रहे इसकी चिन्ता नहीं होती। यह एक गलत दृष्टिकोण है। लेकिन धन अस्थिर है, दो क्षण में नष्ट हो सकता है और उसमें सुख की कल्पना करना केवल दुराशा मात्र है।

जैन-दर्शन सम्यग्-ज्ञान, सम्यग्-दर्शन और सम्यग्-चारित्र—इन तीनों तत्त्वों की उपासना पर बल देता है। सही तत्त्व का ज्ञान, उस पर श्रद्धा और जीवन में आचरण - यह एक क्रम है जिसे अपनाकर जन-जन अपने जीवन में चारित्र और सदाचार की लौ जलायें—यही मेरी प्रेरणा है।

बंबई (चींचबन्दर),
११ अगस्त '५४

१०८ : विद्यार्थियों का जीवन

विद्यार्थी-जीवन मिट्टी के कच्चे घड़े की तरह है, जिसको चाहे जैसा बनाया जा सकता है। यह वह समय है, जब कि जीवन में संस्कार ढलते हैं। इस महत्त्वपूर्ण समय का उपयोग अत्यन्त जागरूकता और सावधानीपूर्वक होना चाहिये। भारत के विद्यार्थियों को यह समझना है कि वे उस सांस्कृतिक परम्परा के धनी हैं जहाँ जीवन का मूल्य वैभव नहीं था, भोग-विलास नहीं था बल्कि आत्म-साधना, ज्ञान और चारित्र था। उन्हें अपने जीवन में शुरुआत से ही इन गुणों का संचय करना है ताकि उनका भावी-जीवन शिक्षित और संस्कारी बन सके। भारत एक धर्म-प्रधान देश कहा जाता है। इस विषय में यहाँ के ऐतिहासिक पृष्ठ अत्यन्त समुज्ज्वल रहे हैं, पर खेद है कि आज उसी भारत में लोगों का जीवन धार्मिक-भावना और नैतिक-वृत्ति से शून्य हुआ जा रहा है। राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति का ऐसी स्थिति में कर्तव्य है कि इस कालिमा को धो डालने के लिये प्राणपण से कटिबद्ध हो जाय। विद्यार्थियों पर और अधिक जिम्मेवारी है। देश और समाज का भावी ढाँचा कैसा बनेगा—यह आज के विद्यार्थियों के जीवन पर निर्भर है। वे अपने जीवन को जितना अधिक संयत, सुसंस्कृत और शिक्षित बनायेंगे, उनका अपना जीवन उतना ही विकसित, समुन्नत और सुखी बनेगा। साथ-साथ समाज और राष्ट्र को भी वे एक बड़ी देन दे सकेंगे।

अध्यापक दुर्व्यसनों एवं बुरी आदतों से बचते हुए अपने जीवन को सद्‌गुण सम्पन्न बनायें। उनका जीवन विद्यार्थियों के लिए सजीव शिक्षा का काम करेगा।

सिक्कानगर,
१६ अगस्त '५४

१०६ : निर्माण की आवश्यकता

यदि हम इतिहास के पुराने पृष्ठों को उलटें तो पायेंगे कि प्राचीन काल में हमारे देश में दूर-दूर के देशों के यात्री आया करते थे, संस्कृति और ज्ञान सीखने की कामना से। उन्होंने भारत के विषय में अपने संस्मरण लिखते हुए कहा—"भारत वह देश है, जहाँ ज्ञान, सदाचार और समता की पावन त्रिवेणी बहती रही है।" आज उसी भारत की कैसी दुरवस्था हो चली है, कुछ कहते नहीं बनता। प्राचीन गौरव मात्र स्मृति का विषय रह गया। उस गौरवपूर्ण अतीत के केवल गीत गाने से कुछ बनने का नहीं। आज तो आवश्यकता इस बात की है कि भारत के नागरिक अपने पवित्र कार्यों से एक नये इतिहास की सृष्टि करें। एक प्राचीन कवि ने कहा है—"जो अपनी करतूतों से ख्याति पाते हैं वे ही उत्तम कोटि के व्यक्ति हैं। बाप-दादों की ख्याति से अपनी ख्याति स्थिर रह सके, यह ज्यादा अवधि तक सम्भव नहीं है।" मेरा कहना है—भारत को आज के भौतिकवादी अर्थ-प्रधान युग में अध्यात्म, नीति और संयम की चेतना को जागृत करना है। मैं विद्यार्थियों से कहूँगा कि राष्ट्र उनकी ओर टकटकी लगाये है। उन्हें अपने जीवन को सदाचार और सद्‌प्रवृत्तियों के उस साँचे में ढालना है, जिसके द्वारा वे जगत् के समक्ष एक आदर्श के रूप में अपने को प्रस्तुत कर सकें।

अपने को अनैतिक वृत्ति और दुर्व्यसनों में डाल मानव-जीवन को नष्ट न करें। वे किसी तोड़-फोड़ मूलक हिंसात्मक कार्य में भाग न लें। आज विध्वंस की नहीं, निर्माण की आवश्यकता है। धूम्रपान, शराब जैसे मादक पदार्थों के सेवन से वे बचें।

सिक्कानगर,
१७ अगस्त '५४

११० : विद्यार्थियों का लक्ष्य

विद्याध्ययन का लक्ष्य बड़ी बड़ी उपाधियाँ और प्रमाण-पत्र पाना मात्र नहीं है। उसका सही लक्ष्य है—आत्म-निर्माण और जीवन-विकास। छात्र-छात्राओं को यह समझ लेना है कि जीवन के जिस प्रशान्त पथ पर उन्हें आगे बढ़ना है, उसकी तैयारी उन्हें अपने विद्यार्थी जीवन में करनी है। ज्ञान किसी की बपौती नहीं, उसको पाने का हर व्यक्ति को अधिकार है। क्या स्त्री, क्या पुरुष जो भी इसके लिये इच्छुक हों वे इसका विकास कर सकते हैं। पुरातनकालीन इतिहास की ओर जब हम दृष्टि डालते हैं तो पाते हैं कि भारत में महिलायें पुरुषों से ज्ञान व चारित्र के क्षेत्र में कम थीं। मध्यकालीन युग में कुछ विकृतियाँ आईं। "**स्त्री शूद्रौ नाधीयताम्** (स्त्री और शूद्रों के लिये अध्ययन वर्जित है) जैसे सूत्रों की सृष्टि हुई। पर आज युग ने करवट बदली है। अनुचित रूढ़ियों के बन्धन शिथिल होते जा रहे हैं। इस स्वातन्त्र्य के युग को लक्षित कर मैं विशेष रूप से कहूँगा कि विद्यार्थिनी बहिनें जीवन को सच्चाई, सादगी, धर्म-निष्ठा आदि सद्गुणों से अलकृत करें। ये गुण उन्हें जीवन के सही मार्ग की ओर आगे बढ़ने की प्रेरणा देंगे। सयम चर्या, सद्वृत्ति, सौजन्य ही सौन्दर्य या सुमज्जा है। मुझे आशा है, छात्रायें जीवन के इस सही तत्त्व की उपासना करती हुई आत्म-उन्नति के इस राज मार्ग पर अग्रसर होंगी।

सिकानगर,
१५ अगस्त '५४

१११ : जीवन में सदाचार का स्थान

हमारे देश के प्राचीन ऋषियों ने कहा है—'**आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः**' अर्थात् जो व्यक्ति आचारहीन है, जिसका चारित्र गया-गुजरा है, उसे वेद और आगम भी पवित्र नहीं कर सकते। इसलिये भारतीय विचारधारा में उस विद्या को भार कहा है, जहाँ चारित्र का अभाव है। आज के शिक्षा-क्षेत्र को देखें तो सहसा प्रतीत होगा कि वहाँ जीवन के आचार-पक्ष की घोर उपेक्षा है। धर्म और नीति जो जीवन के बहुमूल्य अंग हैं, जिनके बिना जीवन जीवन नहीं कहा जा सकता, परन्तु आज वे लुप्त प्राय से होते जा रहे हैं। आत्मा का परिमार्जन, अहिंसा की आराधना, सत्यमय जीवन, धर्म का स्वरूप है। नीति का अर्थ है—सहिष्णुता, मैत्री-भावना, पारस्परिक सद्भाव, मिलनसारिता। नीति और धर्म एक दूसरे के पूरक हैं। जहाँ आध्यात्मिक जीवन

इनसे फलता-फूलता है, वैयक्तिक और सामाजिक जीवन को भी इनसे बल मिलता है। मैं विद्यार्थियों से कहूँगा, वे अपने जीवन की बहुमूल्यता को समझें। धर्म और नीति के साँचे में अपने आपको ढालें। उनका जीवन आत्म-ज्योति से जगमगा उठेगा। उन्हें आन्तरिक स्फुरण और चेतना की अनुभूति होगी। आज का जन-मन स्वार्थ से बुरी तरह अभिभूत है। इस स्वार्थमयी दृष्टि ने उसके विवेक पर आवरण डाल दिया है। जहाँ उसे अपना स्वार्थ सधता लगता है, वह झट उस ओर झुक जाता है। उसने अपनी दृष्टि अपने आपसे हटाई, पर पदार्थों पर गड़ाई। जब तक इस दृष्टि में सुधार नहीं होगा, व्यक्ति उठेगा नहीं। विद्यार्थी इस तथ्य को समझें, इस तरह की मनोवृत्ति अपने में पनपने न दें। मेरी विद्यार्थियों को यही सलाह है कि आपके आचार में नीति की निष्ठा हो। आप केवल यह समझ कर संतोष न कर लें कि आपने किताबी ज्ञान हासिल कर लिया, आजीविका के लायक हो गये—बस अब आपके लिये कुछ करना बाकी नहीं रहा। आपको ध्यान रहे, जबतक आपमें सदाचार निष्ठा नहीं आई, आपने कुछ भी नहीं सीखा।

सिक्कानगर,
२० अगस्त '५४

११२ : भारतीय संस्कृति में जीवन-तत्त्व

संस्कृति एक ऐसा व्यापक तत्त्व है जो भारतीय और अभारतीय नहीं हो सकता। खान-पान, बोल-चाल, वेश-भूषा, रहन-सहन आदि को लोग अपनी-अपनी संस्कृतियाँ कहते हैं और अपने अलग-अलग नामों से उसे सम्बोधित करते हैं। मुझे लगता है कि ये संस्कृतियाँ नहीं हैं। लोग अपने रीति-रिवाजों को अपनी संस्कृति के नाम से पुकारते हैं, यद्यपि वास्तव में संस्कृति तो एक ही है। उसमें भेद न करके हम उसको दो विभागों में विभक्त करें—अच्छी और बुरी संस्कृति। अच्छी चाहे कहीं भी हो हम उसे क्यों न अपनायें क्योंकि वह भी तो भारतीय संस्कृति ही है और अच्छी है इसलिए अपनी संस्कृति है। बुरी संस्कृति कहीं भी हो वह सदैव त्याज्य है चाहे वह अपनी ही क्यों न हो। फलितार्थ यह है कि हम अच्छी संस्कृति को ही भारतीय संस्कृति कहें। संस्कृति का उपासक व्यक्ति आग्रही नहीं होता वह अच्छी वस्तु को हर कहीं से और हर समय ले सकता है।

अमुक देश की संस्कृति नितान्त अच्छी है, ऊँची है और अमुक देश की असुन्दर या बुरी है ऐसा हमें नहीं मानना चाहिए। जब तक कोई व्यक्ति वीतराग नहीं हो जाता तब तक उसकी संस्कृति नितान्त सत्य हो, ऐसा हो नहीं सकता। उस स्थिति पर पहुँचने तक उसमें या उसकी संस्कृति में संशोधन का अवकाश रहता है। एक तत्त्व एक व्यक्ति को अच्छा लगता है, दूसरे को गलत। हमारा कर्तव्य यह नहीं है कि यदि कोई वस्तु हमारे पास ठीक न हो और हम उसके पीछे निरन्तर घसीटते रहें, अच्छी को ग्रहण न करें। जैसा कि मैंने पहले बताया, संस्कृति के उपासक व्यक्ति को आग्रह शोभा नहीं देता।

अच्छाई और बुराई व्यक्ति की अपनी नहीं होती वह संस्कारों से संश्लिष्ट होती है—जुड़ी होती है। संस्कार ऊँचे होते हैं, तो संस्कृति भी ऊँची बन जाती है। हमारे संस्कार ऊँचे बनें और यदि वे बनेंगे तो संस्कृति भी अपने आप उन्नत, विकसित और उदित होती चली जायगी।

भारतीय लोगों का जीवन अच्छे संस्कारों से संस्कारित रहा—यह एक प्रामाणिक तथ्य है। प्राचीन विदेशियों ने अपने भारत-पर्यटन के जो संस्मरण लिखे हैं वे अवश्य ही उसके अतीतकाल की गौरव गाथायें गाते हैं। यहाँ की भूमि ऋषियों की साधना-भूमि है, ज्ञान, श्रद्धा और आचार की त्रिवेणी यहाँ पर अविरलतया बहती रही है। उचित ही है, यदि यहाँ के लोग अपनी संस्कृति पर स्वाभिमान, आत्माभिमान या आत्म-गौरव करते हैं।

भारतीय संस्कृति में अच्छी तरह खाने-पीने या रहने-सहने को ही जीवन नहीं माना गया है। उसकी दृष्टि में सफल जीवन के चार तत्व हैं—(१) शान्त जीवन, (२) सन्तुष्ट जीवन ; (३) पवित्र जीवन और (४) आनन्दमय जीवन।

ये चार बातें भारतीय संस्कृति के जीवन-तत्त्व हैं। हमें सोचना है कि हमारा जीवन इनके अनुकूल है या नहीं ? अगर नहीं है तो हम नहीं मान सकते कि हमने भारतीय संस्कृति के जीवन-तत्त्व को समझा या पकड़ा है। आपकी संस्कृति आपसे यह चाहती है और माग करती है कि आपके विचार की संस्कृति आपके जीवन की संस्कृति बनें। ऊपर मैंने जिन तत्त्वों का दिग्दर्शन आपको कराया, आवश्यकता महसूस होती है कि मैं उनपर संक्षिप्त विवेचन करूँ।

शान्ति आज के युग का एक बड़ा ही विकट व गम्भीर प्रश्न है। आत्म-शान्ति अभी बहुत दूर है पर बाह्य-शान्ति भी नजदीक नहीं है। कुछ न कुछ बाहरी कारण भी इसके अवश्य हैं जैसा कि माना गया है कि कारण बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। लोगों ने आर्थिक समस्या को इसका कारण बताया, पदार्थाभाव को बताया पर जो इनसे सम्पन्न पश्चिमी देश हैं वे भी शांति तो नहीं पा रहे हैं। उनको भी भय सता रहा है। बंधे हुए शेर के सामने बकरी जीती है पर पनपती नहीं, जीती है पर जीना सार्थक नहीं। उसी तरह वे राष्ट्र हैं। वे जीते है, पनपते नहीं। उन्हें भी भय है—अपना, अपने वैभव का और अपनी राज्यसत्ता के संरक्षण का। जैसा कि वर्तमान युग में कहा जा रहा है कि हम शस्त्रास्त्रों का निर्माण अपनी रक्षा के लिए कर रहे हैं। अगर भय नहीं है तो रक्षा किस बात की और शस्त्र-संग्रह किस लिए? स्पष्टता में जायें तो तत्त्व यह मिलता है कि पदार्थ और अर्थ अशान्ति के इतने हेतु नही हैं जितनी कि व्यक्ति की असंयत वृत्तियाँ। यह भी मैं आपसे नहीं कहने वाला हूँ कि आप अपनी वृत्तियों को संयत बनाकर अभी साधु बन जायें। मैं तो अभी आपसे इतना ही कहने वाला हूँ कि अनावश्यक सग्रह को छोड़ें, आवश्यक नियन्त्रण करें। जिस तरह अष्टाग योग का एक अंग है प्राणायाम। उसमें श्वासोच्छ्वास की विधि बतलाई गई है कि सास लम्बे लो। उससे आत्म शान्ति की प्राप्ति होगी। आत्म-लाभ के साथ स्वास्थ्य-लाभ तो होता ही है। मेरी तो ऐसी मान्यता है कि व्यक्ति के संयमी बनने पर उसका स्वास्थ्य बहुत हद तक ठीक रह सकता है। इसी तरह हम वाणी को संयत बनायें, मित भाषी बनें, ध्यान करें, समाधि करें। ये आत्मिक साधनायें हैं जो शान्ति को प्रत्यक्ष रूप मे फलित करती हैं। निजी अनुभव में आपको बताऊं—प्रतिदिन का १॥-२ घण्टा मौन दिन भर की शारीरिक व मानसिक थकावट को दूर कर देता है। आत्म-शान्ति की तो बात ही क्या कहूँ? इन्हीं साधनाओं की तरह आहार का संयम करें, नींद का संयम करें, विनोद का संयम करें, इन्द्रियों का प्रत्याहार करें। आखिर चलते-चलते प्रत्येक क्रिया पर संयम करते चले जायँ तो, शान्ति हमसे दूर नहीं रह सकेगी।

आवश्यकताओं की पूर्ति करके हम संतुष्ट बन सकें यह कभी नहीं होगा। संतुष्टि व्यक्ति की अपनी होती है, पदार्थ की नहीं। पदार्थ के भाव में या सम्पन्नता में भी सन्तुष्टि न आये, अशान्ति रहे, तो फिर पदार्थ को सुख का निमित्त माना भी

कैसे जा सकता है ! सन्तुष्टि का मतलब है—स्वनियमन अर्थात् स्वतन्त्रता। लोग कहते हैं—हमने स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली, हमारे ऊपर अब विदेशी हकूमत नहीं है। पर मैं तो इससे भी ज्यादा संकुचित बन गया हूँ और व्यक्ति पर अपने ही शासन की बात सोचता हूँ; तब राज्य का, समाज का, पड़ोसी का या मालिक का शासन अपेक्षा ही क्या रख सकता है ? इस शासन से नियन्त्रित व्यक्ति दोष कर सकता है, पर प्रायश्चित्त भी स्वयं ही ले लेता है। उसमें कानून की तरह बुराई का प्रायश्चित दिया नहीं जाता, स्वयं लिया जाता है। कानूनवाला दण्ड भुगत कर भी असन्तुष्ट रहता है पर अपने से नियन्त्रित व्यक्ति उसमें भी आत्म-सन्तुष्टि का अनुभव कर सकता है।

साध्य को पाने के लिए साधन की शुद्धि बड़ा महत्त्व रखती है। शुद्ध साध्य की प्राप्ति में अशुद्ध साधनों का प्रयोग होगा तो शुद्ध साध्य भी अशुद्ध साधनों के नीचे दब जायगा। प्रस्तुत युग में लोग दान की बात करते हैं। शोषण से, लूट-पाट से पैसे का उपार्जन या संग्रह कर थोड़ा दान किया जाता है। इसके पीछे संभवतः नाम की या धन-संरक्षण की दृष्टि भी रहती होगी। यदि व्यक्ति अशुद्ध साधनों से धन का उपार्जन छोड़ दे, जिसके अधिकार की वह पूंजी है वह उसके पास अपने आप चली जायगी, दान की स्थिति ही नहीं बन पायेगी, भिखारी बनने की भी नहीं। इसका मतलब यह भी नहीं है कि मैं दान देने का निषेध कर रहा हूँ। समाज के व्यक्ति का आपसी सहयोग है, वह होता है, मैं उसमें हस्तक्षेप करूं भी तो कैसे ? मेरे कहने का मतलब यह है कि साधन-शुद्धि के बिना जीवन में पवित्रता नहीं आती।

स्वास्थ्य का स्वस्थ रहना आनन्द माना जाता है। पर मैं इसे दो रूपों में लेता हूँ—**"सु अस्थि अस्ति यस्य स स्वस्थी तस्य भावः स्वास्थ्यम्"** अर्थात् जिसकी हड्डियाँ मजबूत हों वह स्वस्थ माना गया है—दूसरा—**"स्वच्छिन् तिष्ठति इति स्वस्थः तस्य भावः स्वास्थ्यम्"**—अर्थात् व्यक्ति का अपनी चित्त वृत्तियों में स्थिर होना स्वास्थ्य है। उससे समता उत्पन्न होती है। शत्रु-मित्र के प्रति और दुःख-सुख में व्यक्ति सम रहे तो बहुत कुछ आत्मानन्द मिल सकता है।

उपर्युक्त जिन चार बातों का मैंने निदर्शन कराया वे भारतीय संस्कृति की मूल निधि हैं। अगर भारतीय लोग इनको भूलकर भौतिक उपासना में फँसते हैं तो

मैं कहूँगा कि उन्होंने अपनी संस्कृति के जीवन-तत्त्व को समझा नहीं है। अगर आपको भारतीयता का गौरव हासिल करना है तो उसका अध्ययन कर उसके विराट तत्त्व को हृदयंगम कर अपने जीवन को पवित्र बनायें। अगर ऐसा किया गया तो आपकी भारतीय संस्कृति का जीवन-तत्त्व फलेगा और फूलेगा।

बंबई,
२१ अगस्त '५४

११३ : आदर्श नागरिक

नागरिक जहाँ समाजिक दृष्टि से अपने उत्तरदायित्वों के प्रति जागरुक रहता है, धार्मिक दृष्टि से भी उसके कर्तव्य हैं, जिनका अनुवर्तन करना उसके लिए अत्यन्त आवश्यक है। उसके जीवन में सादगी हो, सहिष्णुता हो, ईमानदारी हो, सत्यनिष्ठा हो, मैत्रीभावना हो। ये वे गुण हैं जो सही माने में आदर्श नागरिक की निशानी हैं। यदि नगर में रहने मात्र से ही कोई नागरिक होता, तो नगर मे रहने वाले पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े भी नागरिक की कोटि में आते पर बात ऐसी नहीं है। जिसमें नागरिकपन हो, नियम हो, आत्मचेतना हो, वह सही माने मे आदर्श नागरिक है। यद्यपि समाज-नीति और धर्म-नीति को एक किया नहीं जा सकता, दोनों के क्षेत्र अलग-अलग हैं, पर समाज-नीति पर धर्म-नीति की पुट अवश्य रहनी चाहिये। धर्मनीति से अनुशासित समाजनीति मे शोषण और अन्याय नहीं आता। अन्त मे मैं इतना ही कहूँगा, नागरिक जन विलासिता और प्रदर्शन के थोथे आडम्बर मे न फँस जीवन में सौम्यता और सद्वर्तन लायें।

सिक्कानगर,
२२ *अगस्त '५४*

११४ : सत्यं, शिवं, सुन्दरम्

कला का सत्य स्वरूप है—जीवन के अन्तरतम की सज्जा, परिष्कार या संस्कार। भारतीय दृष्टि में और संस्कृति में कला केवल मनोविनोद या राग का साधन मात्र नहीं रही बल्कि जीवन के अन्तः सौन्दर्य का सर्जन उसका लक्ष्य रहा है। और तो और जिस कला से—साधना से—आत्मा परमात्म पद तक अधिगत कर सके—ऐसे कला के विकास और प्रसार की उर्वर भूमि यह भारत रहा। मैं कला के शिक्षार्थियों और समर्थकों से कहूँगा कि भारत के इस पारम्परिक गौरव को दृष्टिगत रखे हुए वे विकास-पथ पर आगे बढ़ें।

आत्मा अनन्त शक्तियों का तेज - पुञ्ज है पर जब तक वह आवरणमय है, वे शक्तियाँ अभिव्यक्त नहीं हो पातीं। उनकी अभिव्यक्ति के लिए आत्मालोडकमूलक ाचर साधना की अपेक्षा है। ज्योंहि आवरण दूर हुए, आत्मा की असीम शक्ति व्यक्त हो जाती है, जीवन ज्योतिर्मय बन जाता है। इसके लिए यह अपेक्षित है— जीवन मे अध्यात्मिक कला का विकास किया जाये। उसका मार्ग है—श्रवण, दर्शन, ग्रहण और आचरण मे कला का समावेश। श्रवण मे कला हो, इसका तात्पर्य है जो श्रव्य तत्त्व आया, उसमे वह सुने जो जीवन में चैतन्य लाने वाला हो। देखने सब हैं पर कलामय देखना यह है कि दृश्यगत तत्त्वो मे से जीवन के लिए जो सारभूत तत्त्व हैं, उन्हे देखना अर्थात् विकास का पथिक यदि देखेगा तो उसकी दृष्टि जीवनोपयोगी तत्त्वों पर जायेगी। सत्य श्रवण और दर्शन के बाद ग्रहण का स्थान है। जो सत्य तत्त्व सुनने में आया, देखने मे आया, उसे ग्रहण किया, क्योंकि ग्रहण किये बिना उसकी उपयोगिता नहीं। ग्रहण करने के बाद उसे आचरण मे उतारने की जरूरत है। श्रवण या तथ्य को आचरण मे लाने से ही श्रवण, दर्शन व ग्रहण की सार्थकता है।

मैं भगवान् महावीर के उन शब्दों को दुहराता हूँ कि करोड़ों पद पढ़े, विद्या प्राप्त की, कला सीखी पर यदि इतना भी नहीं जाना कि दूसरों को पीड़ा नहीं देनी चाहिए तो वह पढ़ना सीखना पलालभूत है—निरर्थक है। अतः मैं शिक्षार्थियों व शिक्षकों से एक बार पुनः कहूँगा कि वे अहिंसा व सत्य को ही चरम विज्ञान या चरम कला मानें। अहिंसा व सत्य की आराधना आपकी कला में सात्विकता और पवित्रता का संचार करेगी। ललित कलाओं के विकास के साथ-साथ अध्यात्म कला मे भी निपुणता पा सकेंगे। जिसका फल है, सच्चे सुख व शान्ति की प्राप्ति। यहा कारण है कि भारतीय दृष्टि मे वही कला कला है जो **"सत्यं शिवं सुन्दरं"** के पथ पर आगे बढ़ाने वाली हो।

सिक्का नगर,
२४ अगस्त '५४

११५ : ज्वलन्त अहिंसा

सत्य का रूप एक है, उसके शोधक अनेक। सत्य की व्याप्ति एक है, देश, काल और स्थितियाँ अनेक। इसीलिये सत्य के रूप अनेक बन गये। उसकी साधना बहुमुखी बन गई और उसको लेकर जैन, बौद्ध, वैदिक, इस्लाम, क्रिश्चयन आदि-आदि अनेक धर्म-सम्प्रदाय बन गये।

धर्म व्यक्ति की आध्यात्मिक अपेक्षा या स्वभाव की ओर गति है। वह इतनी सहज है कि उससे सर्वतोभावेन कोई विमुख नहीं हो सकता।

धर्म की आधार-भित्ति है—आत्मा, उसकी अमरता, क्रिया का दायित्व और परमात्मपद या ईश्वरत्व। आत्मा है–वह एक ही नाना रूप है या स्वतन्त्र अनन्त—यह दार्शनिक मतभेद है किन्तु फलितार्थ में सुख-दुख की अनुभूति एक को होती है वैसी सबको होती है, जीवन की इच्छा और मृत्यु की अनिच्छा भी सबमें समान है, प्रिय की चाह और अप्रिय की अकामना भी समतुल्य है इसलिये व्यक्ति का स्वभाव या स्वधर्म यही है कि वह किसी के लिये भी अनिष्ट का निमित्त न बने। अपने स्वभाव से भी न हटे। यही अहिंसा का आदि-बिन्दु है, जो सबसे बड़ा धर्म है।

साधना के बहुरंगी मन को एक धागे में पिरोनेवाला यही सिद्धान्त है। सही अर्थ में वही धार्मिक है, जिसके जीवन में अहिंसा उतरी है। धार्मिक व्यक्ति अपनी धारणाओं को मान्य करते हुए भी दूसरों के प्रति सद्भाव रख सकता है। अहिंसा का मर्म समझनेवाला सहिष्णु होगा, लड़ाकू नहीं। अहिंसा का रूप जितना सिद्धान्त बन रहा है उतना आचरण नहीं। यही कारण है कि अपने-अपने मतवाद के प्रचार और प्रसार के समय अहिंसक भी बौद्धिक और वाचिक हिंसा से बहुत कठिनाई से बच पाते हैं। कहीं-कहीं तो कायिक हिंसा भी उन्हें छू जाती है। यहाँ लगता है—धर्म के पीछे जो संगठन और जातियाँ बनती हैं, उनमें उसकी मौलिकता के विस्तार की भावना अधिक प्रबल हो उठती है। धार्मिक-जगत का इतिहास पढ़ जाइये। कहाँ, कब, क्या हुआ—यह स्वयं सामने आ जायगा।

आगे चलूँ तो वह दीखता है कि धर्म का संगठन होता ही नहीं। वह व्यक्ति का निजस्व है। वह नितान्त वैयक्तिक है। संगठन होता है धार्मिकों का। उसका आधार है—विचार। समान विचारवाले एक वर्ग में बँध जाते हैं। यह रुक भी नहीं सकता। विचार-भेद भी वस्तुस्थिति है। भेद संघर्ष लाता है—छोटा या बड़ा,

बौद्धिक या कायिक। विचारों का अभेद हो जाय, यह संभव नहीं। अहिंसा का विचार हिंसा पैदा करे, यह उचित नहीं। इस समस्या का निर्विकल्प समाधान है—क्षमा। दूसरों के आचार-विचार की मर्यादा को समझो, उसके प्रति न्याय करो, विशेष न्याय न कर सको तो कम-से-कम अन्याय तो मत करो। यह वही कर सकता है जो अहिंसा के बल से समर्थ बन गया है। पर्युषण-पर्व उसीका प्रतीक है। अहिंसा की सही आराधना के लिये अपेक्षा है कि क्षमा और मैत्री का बल बढ़े।

पर्युषण-पर्व

११६ : दया का मूल

जं हंतव्वं ति मन्नेसि त तुमं चेव—भगवान् महावीर

जिसे तू मारना चाहता है वह तू ही है—यह दया का मौलिक मंत्र है। मरनेवाला मरकर भी कुछ खोता नहीं; मारनेवाला जीवित रहकर भी खोता है। मरनेवाले का प्राणनाश होता है, मारनेवाले का आत्मनाश। यह तत्त्व हृदय मे नहीं पैठता, तब तक दया सजीव नहीं बनती। मारनेवाले को जीव-हिंसा मे अपना अनिष्ट दीख जाय तभी वह उसे छोड़ सकता है; नहीं तो नहीं। ऊपर के अद्वैतपरक वाक्य में भगवान् महावीर ने यही तत्त्व समझाया है। द्वैतवाद मे मारने और मरनेवाला एक नहीं हो सकता। किन्तु निश्चय मे मरता वही है जो मारता है। इसलिये मरनेवाला और मारनेवाला एक बन जाता है।

हिंसा का अनिरुद्ध स्रोत चलता है उसका आधार यही है कि मनुष्य अपने आपको सबसे ऊँचा मानता है। मनुष्य-हित के लिए सब कुछ किया जाना उचित है, इस मिथ्या-धारणा के बल पर वैज्ञानिक प्रयोगों की वेदी पर लाखों-करोड़ो जीवो की बलि चढ़ती है। जीवन का अधिकार सबको है, सुख-दुःख की अनुभूति सबको है, जीवन प्रिय और मृत्यु अप्रिय सबको है। इसको भुलाकर मूक जीवों की निर्मम हत्या करनेवाले एक महान् सत्य से आँखें मूँदते हैं। खाद्य और विलास के लिए भी बड़ी-बड़ी हिंसाएँ हो रही हैं। सारी सृष्टि मनुष्य के लिये ही है। यदि पशु न मारे जायें तो वे सारे जमीन पर छा जायें—जैसी धारणायें हैं, उन्हे उखाड़ फेंके बिना जीव-दया का मूल्य नहीं बढ़ेगा। जीवदया-प्रेमियों के लिये आवश्यक है कि वे दया के महान् सत्य से विश्व को परिचित करायें। यदि ऐसा हुआ तो अहिंसा का रूप निखरे बिना नहीं रहेगा।

११७ : धर्माराधना का विशाल राजमार्ग

धर्माराधना के विशाल राजमार्ग पर आकर दूसरों को गिराने का प्रयास करना, दूसरों के प्रति असहिष्णु बन उनको हानि पहुँचाने की चेष्टा करना धर्माराधना तो नहीं पर धर्म की विराधना है। किसी भी धर्म में रहता हुआ भी व्यक्ति जो सत्क्रिया करता है—सत् आचरण करता है—उसे कौन बुरा कह सकताहै ? किसी सम्प्रदाय-विशेष में आने मात्र से ही मुक्ति हो सकेगी, यह तथ्य पूर्ण नहीं। आत्म-उत्थान होगा सद्ज्ञान और सत्क्रिया के आचरण से, जिसे किसी सम्प्रदाय-विशेष की चहार-दिवारी से बाँध नहीं सकते। मैं जो मानता हूँ, वही चरम सत्य है, दूसरे में सत्य-साधना हो ही कहाँ से सकती है, यह आपसी वैमनस्य का प्रमुख कारण है। अत: प्रत्येक धर्मानुरागी भाई-बहिन से कहना चाहूँगा कि वे सब धर्मों के प्रति सद्भाव रखें। इससे आत्मा मे सरलता, ऋजुता और मृदुता का संचार होगा।

धर्मों के प्रति सद्भावना रखने का उपदेश करने के साथ-साथ मैं इतना और भी कह देना चाहूँगा कि धर्म के नाम पर चलने वाले धोखे और छल से लोग जरूर सजग रहें। शास्त्रों मे पर-पाखण्ड-परिचय और संस्तव के प्रतिकूल जो कहा है उसका आशय यही है कि धर्म के नाम पर चलने वाले असत्य-आचरण और दम्भचर्या का संस्तव तथा परिचय आत्मा मे कालुष्य पैदा करता है। स्वमानित धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों का यह विरोध नहीं है बल्कि अतथ्य की उपेक्षा है। अन्त मे मैं इतना ही कहूँगा कि मानव में मानवता आये, सहिष्णुता आये, सद्भावना और सद्वृत्ति आये।

सिक्कानगर,
२७ अगस्त '५४

११८ : विद्यार्थियों में नैतिका-प्रसार

दो सप्ताह तक विद्यार्थियों में नैतिकता-प्रसार का कार्यक्रम अच्छी तरह से चला। हमारे साधु-साध्वी तथा कई कार्यकर्त्ता धूप और अन्यान्य असुविधाओं की परवाह न करते हुए अपने काम में पूर्ण मनोयोग और तन्मयता से जुटे रहे, यह सन्तोष की बात है। लगभग ५५ शिक्षण केन्द्रों में प्रेरणा दी गई जहाँ के करीब ५००० विद्यार्थियों ने नैतिक नियम पालने की प्रतिज्ञा ली, यह बहुत बड़ा कार्य हुआ है। ऐसा लगता

है कि यदि सही तरीके से विद्यार्थियों में नैतिक भावना प्रसारित करने का प्रयास किया जाय तो बहुत बड़ी कामयाबी उसमें मिल सकती है। कितना स्फूर्तिपूर्ण और ठोस कार्यक्रम यह रहा। यदि राज्य की ओर से ऐसा हुआ होता तो न जाने उसकी कितनी बड़ी कीमत आँकी जाती, पर हमें इसकी चिन्ता नहीं करनी है, काम करना है—केवल काम। उसका परिणाम अच्छा होगा, इसमें कोई संशय नहीं। जिन विद्यार्थियों ने इन नियमों को ग्रहण किया है, मुझे विश्वास है वे दृढ़ता के साथ उनका पालन करेंगे। इनसे उन्हें अपने जीवन मे स्फूर्ति तो मिलेगी ही, साथ ही उनका जीवन आदर्श भी बनेगा।

हिंसा और शस्त्रास्त्रो के जरिये विश्व मे शान्ति लाने के अनेकानेक प्रयास किये गये; अणुबम और उद्जन बम जैसे मानव विनाशक भयंकर अस्त्र भी तैयार हुये पर नतीजा क्या हुआ ? विषाद की गहरी विषमय रेखायें और ज्यादा गहरी बनीं। शान्ति नजदीक आने के बजाय और दूर चली गई। आज संसार के बड़े-बड़े कूट-नीतिज्ञ यह सोचने लगे हैं कि हिंसा और संघर्ष से विश्व की उलझी हुई समस्यायें सुलझ नहीं सकती। अभी हाल मे हुई सुलह की घटनायें यह स्पष्ट कहती हैं कि पारस्परिक मैत्री भावना या अहिंसक वृत्ति से ही समस्यायें सुलझ सकती हैं। अहिंसा केवल बोलने और विचारने की वस्तु नहीं है, वह जीवन-व्यवहार मे लाने की वस्तु है। यद्यपि यह मैं मानता हूँ कि सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन मे सम्पूर्णतः अहिंसा का जितना अधिक समावेश होगा, जीवन उतना ही निर्मल, शान्त और आनन्ददायक होगा। अहिंसा केवल निषेधात्मक तत्त्व नहीं है, जहाँ दूसरों की हिंसा करने का निषेध किया जाता है, वहाँ संयम और मैत्री रखना उसके विधानात्मक पहलू के अन्तर्गत आते हैं। अहं से, ममत्व से, क्रोध से बचो, सबके साथ समता और बंधभाव का व्यवहार करो—यह वह सीख है जो अहिंसा आप सबको देती है।

आज जब मैं विद्यार्थियों की दशा देखता हूँ तो मुझे निराशा होती है। छोटे से प्रतिकूल प्रसंग आते ही वे झट तोड़फोड़ व हिंसात्मक कार्यों मे प्रवृत्त हो जाते हैं। वैसा करना कतई उचित नहीं हैं। आज विध्वंस की नहीं, निर्माण की आवश्यकता है। विद्यार्थी-जीवन जो सद्गुण और सद्योग्यता अर्जन का समय है उसका इस तरह से उपयोग किया जाय, यह अशोभनीय है। विद्यार्थीगण गम्भीरता से सोचें, जिस जीवन-वेला में से वे गुजर रहे हैं, वह बहुत ही जिम्मेवारी का अवसर है। इस

वक्त जीवन का ढाँचा जिस रूप में वे ढाल लेंगे, भावी जीवन की मंजिल वैसी ही बनेगी। भगवान् महावीर ने कहा है—विद्यार्थी विद्यार्जन करते हुए इस रूप में सोचे—मैं बहुश्रुत बनूँगा, एकाग्र-चित्त बनूँगा, मन पर नियन्त्रण करूँगा, आत्मनिर्माण करूँगा, संयम और सदाचार में अपने को लाऊँगा, ज्ञान व संयम में स्थिर बनूँगा। आज के विद्यार्थी भगवान् महावीर के इन विचारों से प्रेरणा लें। विद्यार्थी इस नैतिक आन्दोलन को सफल बनाने के लिये प्राणपण से जुट जायें। अध्यापक जिनके हाथों मे देश की यह अमूल्यनिधि सौंपी गई है, अपना उत्तरदायित्व समझते हुये विद्यार्थियों को सही दिशा की ओर मोड़े। स्वयं अपना जीवन निर्मल बनायें ताकि विद्यार्थियों के समक्ष वे एक सजीव आदर्श के रूप में अपने को प्रस्तुत कर सकें।

बंबई,
२९ *अगस्त '५४*

११६ : जैन-संस्कृति

जैन-संस्कृति संयम और त्याग की संस्कृति है। जीवन को भोगोपभोग से उन्मुक्त कर उसे आत्मतत्त्व की ओर प्रेरित करना जैन-संस्कृति का ध्येय है। धन-राशि एकत्रित करना, नामवरी व यश पाना, बड़ाई तथा प्रतिष्ठा के लिए दिन-रात मारे-मारे फिरना, बाहरी आडम्बर में मसगूल रहना आदि जीवन को सच्चे सुख और शांति के नजदीक नहीं ले जाते अपितु उसे और अधिक दूर कर देते हैं। जैन-संस्कृति कहती है कि इच्छाओं को सीमित करो, आत्मतुष्ट बनो, अपने-आपको माँजो। यह मानवता का सार है। आज इसका जन-जन में प्रसार हो बस यही अपेक्षा है। जैन-संस्कृति में निष्ठा रखनेवालों का यह कर्तव्य है कि जहाँ वे अपने जीवन में इन संस्कारों को ढालें, वहाँ दूसरों को भी इनकी प्रेरणा दें।

बंबई,
३० *अगस्त '५४*

१२० : कर्मवाद के सूक्ष्म तत्त्व

मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है। अपना भला या बुरा करना उसके हाथ में है। दूसरा कौन किसी का भला-बुरा कर सकता है? सुख या दुःख जो वह पाता है, भोगता है, वे उसके अपने द्वारा उपार्जित कर्मों के ही फल हैं। जैन-दर्शन भी यही कहता है। इस पर कुछ लोग ऐसा सोचने लगते हैं कि संसार में व्यक्ति-व्यक्ति में जो पारस्परिक भिन्नता नजर आती है—एक सुखी, एक दुखी, एक धनी तथा एक गरीब, एक साधनसम्पन्न एक साधनहीन, एक समझदार एक नासमझ इस तरह का जो द्वैधपन दिखाई देता है, यह तो कर्म-जन्य है। उसे कौन मिटा सकता है और मिटाने का प्रयत्न भी क्यों किया जाय? वे ऐसी भी शंका करने लगते हैं कि क्या यह कर्मवाद का सिद्धान्त भारत पर ही लागू है, रूस जैसे देशों पर नहीं, जहाँ लोगों में आर्थिक समानता है। इन विषयों को जरा बारीकी से समझना होगा। जैन-दर्शन का कर्मवाद अत्यन्त सूक्ष्म और तलस्पर्शी है। जहाँ अन्यान्य दर्शनों मे कर्म का अभिप्रेत अर्थ क्रिया है, वहाँ जैन-दर्शन की तात्त्विक व्याख्या कुछ दूसरी ही है। कर्म एक पौद्गलिक-भौतिक तत्त्व है। ज्योंही मनुष्य शुभ या अशुभ क्रिया मे प्रवृत्त होता है, शुभ या अशुभ कर्म-परमाणु आत्मा पर चिपक जाते हैं, उसे आवृत्त कर लेते हैं। कर्म की अभिव्यक्ति के साथ में कई एक अन्यान्य कारण भी जुड़े हुये हैं। जैसे परिस्थिति, क्षेत्र, काल, भाव आदि। इस अपेक्षा से कर्मों को भी क्षेत्र-विपाकी, कर्म-विपाकी आदि विशेषणों से युक्त कहा गया है।

सुस्वादु भोज्य पदार्थों को देख उस व्यक्ति के मुँह में भी लार टपकने लगती है जिसे थोड़ी देर पहले जरा भी भूख नहीं थी। कामोत्तेजना के उपकरणों या साधनों के बीच जा अक्सर व्यक्ति अपनी मनःशुद्धि भी खो बैठता है। शीत-प्रधान प्रदेशों में प्रवास शुरू करते ही भूख की मात्रा बढ़ जाती है, इत्यादि ऐसे कारण हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि विभिन्न स्थितियों का भी कर्म से लगाव है। इसी तरह किसी देश की समाज-व्यवस्था के कारण भी वहाँ व्यक्तियों के जीवन में अनायास ऐसी बातें आ जाती हैं जो उस व्यवस्था के अभाव में शायद नहीं आतीं। इस प्रकार कर्मवाद के सूक्ष्म तत्त्व के साथ जो जो तत्त्व सम्बन्धित हैं उनका भी सम्यक पर्यालोचन किया जाना अपेक्षित है।

बंबई,

३१ अगस्त '५४

१२१ : अपरिग्रहवाद बनाम साम्यवाद

यद्यपि अपरिग्रहवाद का लक्ष्य आत्मशुद्धि है पर उसके साथ-ही-साथ सामाजिक जीवन पर भी उसकी एक छाप पड़ती है। जैसे, उपवास किया है जीवन-शुद्धि की दृष्टि से, पर प्रासंगिक रूप में अन्न का बचाव स्वतः हो जाता है। उसी तरह एक व्यक्ति अमुक परिमाण से अधिक सम्पत्ति रखने का त्याग करता है तो उस परिमित प्ररिमाण के अतिरिक्त जो सम्पत्ति है उसका स्वतः औरों में वितरण और विनियोग हो ही जाता है। वहाँ लक्ष्य आत्म-विकास का है पर प्रासंगिक रूप में समाज की अर्थ-विषमता भी मिटती है। पर आज की स्थिति इसके विपरीत-सी है। लोग बात करते हैं अपरिग्रहवाद की, पर अपने आराध्यदेव को भी जो अध्यात्म का उच्चतम आदर्श माना जाता है, परिग्रह के आवरण में इस तरह लपेट देते हैं कि कुछ कहने सुनने की बात नहीं। मन्दिर, मठ, धर्मस्थान आदि आज उपासना के नहीं, वासना के केन्द्र से बन गये हैं, क्या वहाँ परिग्रह अपरिग्रह पर हावी नहीं हो रहा है ? मानव चेतन है, परिग्रह—धन अचेतन है, जड़ है। चेतन जड़ का दास बने, यह कितने खेद की बात है ! पर स्थिति आज ऐसी बन रही है। चैतन्यशील मानव को इस स्थिनि से चेतना है।

तत्त्वतः अपरिग्रहवाद और साम्यवाद का लक्ष्य एक नहीं है। साम्यवाद जहाँ अर्थ-नीति की व्यवस्था करता है, पूँजी पर वैयक्तिक अधिकार के बदले सामष्टिक अधिकार देता है वहाँ अपरिग्रहवाद किसी भी प्रकार के संग्रह का प्रतिरोधक है। वह आत्मा मे अनासक्ति एवं सन्तुष्ट भावना का सर्जक है।

आज संघ बहुमुखी प्रगति पर है। क्या शिक्षा, क्या कला, क्या साहित्य-लेखन कला, क्या नैतिक प्रचार कार्य, सब ओर हमारे साधु-साध्वी-गण प्रगति कर रहे हैं और मुझे दृढ़ विश्वास है कि वह कार्य दिन-पर-दिन प्रगति करता रहेगा। युग और जन-मानस हमारा संग दे रहा है, हमें अपने सिद्धातों की सचाई और स्थिरता पर दृढ़ भरोसा है। आचार्य भिक्षु का वह क्रातिकारी कदम हमें हमेशा आत्मबल प्रदान करता है। इस अवसर पर आचार्यश्री कालूगणिराज का मैं क्या स्मरण करूँ ! कोई भी दिन या कोई भी कार्य ऐसा नहीं होता होगा जिसमें उनका स्मरण न होता हो। आज जो आप सब यह देख रहे हैं सब उन्हींका प्रताप है। वे साक्षात मौजूद न हों पर मुझे तो लगता है कि वे भी इन सारे कार्यों को देख रहे हैं। साधु-

साध्वियां श्रावक-श्राविकायें चाहे यहां पर सब हों या न हों वे मेरी इस आवाज को सुन लेंगे। उन्हें अपने जीवन को निरन्तर अध्यात्म-जागृति और आत्म-कल्याण में लगाते हुए दूसरों को भी इसके लिए निरन्तर प्रेरित करते रहना है। आज दिन मेरा यही सन्देश है।

बंबई,
१ सितम्बर '५४

१२२ : क्षमत-क्षामना

क्षमा का मतलब समन्वय या मैत्री है। मानव-स्वभाव ऐसा है कि प्रमाद से या विचार-मतभेद से आपस में मनमुटाव हो जाता है। इसी मनमुटाव को मिटाने के लिये क्षमत-क्षामना का महत्त्व है। आपस में हिलमिलकर क्षमा माँगना और क्षमा देना यही क्षमत-क्षामना है। कई व्यक्ति कहा करते हैं कि दूसरा क्षमा नहीं करेगा तो अपने करने से क्या होता है? यह गलत दृष्टि है। आप सही दिल से उससे क्षमा-याचना कर लीजिये, आपका कर्तव्य पूरा हो गया। यदि ऐसा सम्भव न हो तो दूसरा अपनी जाने। दो व्यक्ति आपस में रस्सी खींचते हैं। एक व्यक्ति अगर उसे छोड़ देता है तो सामने वाला गिरेगा, आप नहीं गिरेंगे। इसी तरह आप वैमनस्य की रस्सी को छोड़ दीजिये। क्षमा-याचना का इतना ही अर्थ नहीं है कि आप अपने मित्रों से, परिवार वालों से या साथियों से ही क्षमा-याचना करें, बल्कि क्षमा का आदर्श तो यहाँ तक है कि अपने विरोधियों से भी क्षमा याचना करें, अपने नौकरों से भी क्षमा-याचना करें। यह न सोचें कि यह मेरा विरोधी है या मुझसे छोटा है। अध्यात्म के क्षेत्र में इसका कोई प्रश्न ही नहीं है। आप किसी भी व्यक्ति से क्षमा मांगेंगे, वह स्वयं आपका स्नेही बन जायगा।

संघ-पति के नाते साधु-साध्वियों को कभी-कभी कड़ा शब्द भी कहना पड़ता है; किसी की त्रुटि होने पर प्रायश्चित्त भी देना पड़ता है। यद्यपि प्रायश्चित्त देते समय मेरा हृदय पिघल जाता है कि इसने क्यों गलती की? फिर भी अगर किसी को कड़ा शब्द कहा गया हो तो मैं उनसे बारबार क्षमत-क्षामना करता हूँ। सब साधु-साध्वियाँ यहाँ पर उपस्थित नहीं हैं पर मेरी आवाज तो उन तक कल शाम को ही पहुँच गई होगी। इसी तरह से श्रावक-श्राविकाओं की भी वन्दना न स्वीकार की गई हो या

समयाभाव से उनकी बातें न सुन सका होऊँ या कोई कड़ा शब्द कहा गया हो तो मैं उनसे बारम्बार क्षमत-क्षामना करता हूँ। इसी तरह सबके प्रति मेरी यही भावना है।

बंबई,
६ सितम्बर '५४

१२३ : मानव-धर्म

एक जैन आचार्य भगवद्गीता में वर्णित मानव-धर्म की विवेचना करे, यह स्यात् कुछ लोगों को आश्चर्यजनक-सा लगे पर इसमें अचरज जैसी कोई बात नहीं। जीवन शुद्धि के तत्त्व किसी भी धार्मिक पुस्तक मे मिलें, उनपर समदृष्टि से विचार करना अपने धर्म-सिद्धान्तों के मण्डन करने का सही मार्ग है। यदि भगवान् महावीर और भगवद्गीता में समन्वय करते चलें तो लगेगा कि दोनों के बीच बहुत बातों मे समानता है। जैसा कि भगवद्गीता कहती है—ज्ञान, विवेक, श्रद्धा, एकाग्रता और भावना की आत्मोन्मुखता जीवन को उन्नति के मार्ग पर ले जाने वाली है। भगवान् महावीर भी इन्हें आत्म-विकास के अमोघ साधन मानते हुए इन्हे जीवन में उतारने का उपदेश देते हैं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जहाँ भगवान् महावीर मानव-जीवन के चरम-विकास का माध्यम बताते हुए इनकी साधना में जीवन की सफलता देखते हैं, गीता भी इन्हें जीवन्मुक्त और निर्ग्रन्थ बनने का साधन बतलाती हुई मानव-समाज को इस ओर आने का आह्वान करती है। ये वे तत्त्व है, जिन्हें संसार के समस्त धर्मों ने उपादेय माना है। मानव अपने जीवन मे जिस सीमा तक इनका विकास कर पायेगा, वह उन्नत बनेगा, सुखी बनेगा, उसे शांति और संतुष्टि की प्राप्ति होगी।

बंबई,
६ सितम्बर '५४

१२४ : साधु-साध्वियों से

वक्ताओं ने मेरे प्रति भक्ति के उद्‌गार व्यक्त किये। स्वाभाविक भी है, क्योंकि आज उनके लिए मंगल दिवस है, पर मेरे लिये तो आज आत्म-निरीक्षण का दिन है। गत वर्ष में क्या किया और आगामी वर्ष मे क्या करना है इसके लेखे-जोखे का दिन

है। सब लोग आनन्द-मंगल मना रहे हैं, परन्तु मैंने कंधों पर एक भारी वजन ले रक्खा है, यद्यपि लिया तो नहीं है, आया है पर जो भी हो, उसे अच्छी तरह निभाना है, इसलिए यह मेरे लिए तो चिन्तन-मनन की मंगल-बेला है।

जोधपुर प्रवास के बाद हजारों मील और सैकड़ों गावों में पर्यटन हुआ। अनेक वातावरण, अनेक स्थितियाँ और अनेक विचारधारायें हमारे सामने आईं। जिन-जिन कार्यों को उठाया गया और उठाया जा रहा है, उनमें भी सफलता मिली है। मुझे संन्तोष है कि अपना कार्यक्रम दिन-पर-दिन प्रगति पर है। आत्म-शोधन, आत्म-निर्माण और जन-जागृति का कार्य ही प्रगति पर होना चाहिए। वह प्रगति हमको नहीं चाहिए जो अपने को लूला कर देती हो। साधना से विमुख होकर की जाने-वाली प्रगति मेरी दृष्टि मे प्रगति नहीं ह्रास है। मैं समझता हूँ कि मेरे साधु-साध्वी इसे भली भाति समझते हैं।

श्रमण-संघ के सैनिक जो मेरे हाथ, पैर और अवयव प्रत्यवयव हैं, उनसे मैं कहूँगा—वे जिस कड़ी मंजिल—साध्वाचार—संयम की साधना पर चल रहे हैं, उसे पूर्णतया सुरक्षित रखना है। उसके प्रति सदैव सजग, जागरूक और एकनिष्ठ रहना है। हमारा कदम आगे बढ़े पर संयम में रहते हुए। संयम-साधना से एक कदम भी पीछे हटकर हमें आगे कदम नहीं बढ़ाना है। जो सत्य-मार्ग उनको मिला है उसका जन-जन में प्रसार करें। अपने जीवन को उसीमे झोंक दें—इस अवसर पर यही मेरा उनको संदेश है। चाहे सर्व साधु-साध्वी यहाँ पर हों या न हों, मैं समझता हूँ मेरे हृदय की यह आवाज उनके पास कभी की पहुँच गई है। मैं उनमे व्याप्त हूँ; वे मुझमे व्याप्त हैं। वे दूर होते हुए भी मुझसे दूर नहीं हैं।

जो साधु-साध्वी मेरे साथ में रहते हैं, उनपर एक विशेष जिम्मेवारी है। वे यहाँ पर रह कर जो कुछ शिक्षा पाते हैं, उसका असर सारे साध-साध्वियों पर पड़ता है। इसलिये उन्हे इस जिम्मेदारी को अच्छी तरह निभाना है।

समूचा संघ मेरे कदमों के पीछे चलता है। कहीं मेरे एक की गल्ती से समूचा संघ गलत न चला जाय, इसके लिए मैं पूरा सावधान रहता हूँ। भूल से कोई गल्ती हो सकती है पर यह ।नश्चित है कि गल्ती को ३।। करोड़ रोओं में से एक रोयें में भी प्रश्रय नहीं मिलेगा। गल्ती के लिए आत्मालोचन है, प्रश्रय नहीं।

श्रावक-श्राविका-समाज से मैं कहूगा—आज के जटिल व विषम युग मे उन्हें

स्वयं उठते हुए जन-जन में नैतिकता का प्रसार करना है। दुनियां साम्प्रदायिकता में डूबी है, उन्हें उसका मोह न रखते हुए नैतिक जागरण का शंखनाद फूँकना है। जीवन के हर कार्यों में अनैतिकता को प्रश्रय न देते हुए वे नीति-धर्म की प्रतिष्ठा करेंगे—ऐसी मुझे उनसे आशा है।

बंबई,
६ सितम्बर '५४

१२५ : व्यापारियों से

आज जहाँ और लोगों के लिए उत्सव मनाने का दिवस है पर मेरे लिए तो आज का दिन आत्म-निरीक्षण और चिन्तन का दिन है, वर्ष भर के लेखे-जोखे का दिन है। जो कार्य मुझे विरासत के रूप में मिला है, उसे आगे बढ़ाने में मैं निरन्तर प्रयत्नशील हूँ, मुझे इससे सन्तोष है। लोक-जीवन को ऊँचा उठाने की जिन आशाओं को लेकर मैं चल रहा हूँ, उनमें मुझे दिन-पर-दिन कामयाबी मिल रहा है, यह मेरे लिए तथा संघ के लिए उल्लास का विषय है। काम की अन्तिम मंजिल तो अभी बहुत दूर है पर वह दिन प्रति दिन प्रगति पर है। हमारे कार्यक्रम की मूल-भित्ति है—आत्म-शोधन। उसका दूसरा पहलू है जन-निर्माण। आत्म-शोधन या आत्म-साधना मे जहाँ जरा भी कमी, मैं उस निर्माण को निर्माण नहीं समझता। अतः मैं संघ के समस्त साध-साध्वीगण से चाहे वे कहीं पर हों, कहना चाहूँगा—जिस कड़ी मंजिल पर वे चल रहे हैं, वह संयम की साधना है। आत्म-बल और साहस के साथ उन्हे साधना-पथ पर आगे बढ़ना है। साधु-साध्वी मेरे हाथ पैर हैं—अवयव हैं। मुझे विश्वास है—वे अपने संयम-रत्न को सुदृढ़ रखते हुए लोक-जीवन मे आध्यात्मिकता का संचार करेंगे। उपस्थित भाई-बहनों से भी कहना चाहूँगा कि केवल सुधार के गीत न गाकर वे सुधार का सूत्रपात स्वय अपने से करें। केवल पर-सुधारकी बात बनाने से क्या बनेगा? मुझे यह प्रगट करते खुशी होती है कि कतिपय व्यापारी भाई मेरे समक्ष आये और उन्होंने यह जाहिर किया कि वे अणुव्रत-आन्दोलन के अन्तर्गत व्यापारी-जीवन में नैतिकता लाने के लिए काम करना चाहते हैं। स्वयं उनमें यह प्रेरणा हुई, यह और अधिक प्रसन्नता का विषय है। जैसे बम्बई में यह काम चलेगा अन्यत्र भी जहाँ साध—साध्वी हैं वहाँ, और जहाँ साध-साध्वी नहीं है वहाँ भी इस

ओर गति होगी—कार्यकर्ता इस ओर श्रम करेंगे—ऐसा मेरा ख़्याल है। पर, जैसा कि मैंने कहा, सुधार के मार्ग पर आगे बढ़ने वालों को सबसे पहले अपने आपको सुधारना होगा। मुझे आशा है कि व्यापारी भाई इसपर विचार करेंगे।

बंबई,
९ सितम्बर '५४

१२६ : आचार्य भिक्षु के जीवन की स्मृति

कोई भी व्यक्ति स्थायी नहीं रहता। जो आता है वह जाता है। प्रसन्नता तब होती है जब कोई व्यक्ति अपने साध्य को परिपूर्ण करके चला जाता है। महामना आचार्य भिक्षु इस धरातल पर अवतरित हुए, अपने साध्य की पूर्ति करके चले गये, लाखों आदमियों को पथ-दर्शन दे गये, इसलिए हमें अत्यन्त प्रसन्नता है।

तेरापंथ के आदि–प्रणेता आचार्यश्री भिक्षु भाद्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन इस धराधाम से अपनी स्थूल काया को समेट, अपने पुनीत साध्य को प्राप्त कर, स्वर्ग को सिधारे। वीरप्रसविनी भूमि राजस्थान के सिरियारी नामक ग्राम में उस समय वे विराजित थे। शाम का समय था। एक कच्चे मकान में वे ठहरे हुए थे जो आज के समय तो गुफा नाम से सम्बोधित किया जा सकता है। हवा मकान में से आर-पार भी क्यों हो जाये ? ऐसी-ऐसी जगहों में ही उन्होंने अपना जीवन बिताया था। सुबह के समय आपने अनशन किया। स्वर्गवास के समय आपको अवधि-ज्ञान हुआ, ऐसा भी सम्भव लगता है। आपने समस्त साध-साध्वियों और श्रावक-श्राविकाओं आदि से क्षमा-याचना की। उनके जीवन में अनेक संघर्ष चले, अनेक बार शास्त्रार्थ हुए। आपने सबसे त्रिकरण-त्रियोग से क्षमा-याचना की। कितना सुन्दर था वह दिन। जैन-साधु किसी का भी अपने ऊपर बोझ ले जाना नहीं चाहता। सबसे क्षमा-याचना मांगकर हल्का हो जाना चाहता है। इन सब बातों की स्मृति मात्र से हृदय आनन्द-विभोर हो उठता है। वे साध्य को पाकर गये इससे भी अधिक प्रसन्नता इस बात की है कि वे हमें परिपूर्ण बना गये और लाखों राह भूले आदमियों को सही पथ दिखा गये। यही तो उनकी महानता थी।

आचार्य भिक्षु एक वैश्य कुल में उत्पन्न हुए थे। उन्होने २५ वर्ष की वय में स्थानकवासी आचार्य श्री रघुनाथजी के पास दीक्षा ग्रहण की थी। लगभग ८ वर्ष तक

आपने वहां के कोमल-कटु अनुभवों को पाया।

आचार-विचार सम्बन्धी शिथिलता देखकर आपका मतभेद हो गया और कई बार प्रयास करने पर भी उनका समाधान जब आपको नहीं मिला तब आपने सोचा कि आत्म-वंचना कर इनके साथ में रहना ठीक नहीं है, अतः आप संघ से अलग हो गये। अलग होने का उद्देश्य सम्प्रदाय चलाना नहीं था और न सम्प्रदाय चलाने के उद्देश्य से महापुरुष अपने विचारों का प्रवर्त्तन ही करते हैं। जनता के उत्थान के लिए वे अपने विचार देते हैं। जनता उनको सम्प्रदाय का नाम दे पड़ती है।

संघ से अलग होते ही आपको नाना प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ा। जगह के अभाव में आपने अपना प्रथम आवास श्मशान में किया। आहार का अभाव, कपड़े का अभाव तो था ही, पर इनको वे कब अभाव मानने वाले थे। तपस्वी जो थे वे। १५ वर्ष तक घोर तपस्या की, बादमें आपको अनुभव हुआ कि मैं जो शुद्ध-विचार दुनियां को देना चाहता हूँ वह दुनिया लेने को तैयार हो सकती है। आपने अपने संघ का एक विधान बनाया और संघ की मर्यादाओं द्वारा अभूतपूर्व संगठन किया और इसके लिए सबसे पहले उन्होंने शिष्य बनाने की परम्परा को खतम किया। उस समय आपने देखा कि साधुओं में शिष्यों की भूख है। उसकी भूख में वे हर किसी को दीक्षा दे देते हैं। आचार-विचार को नहीं देखते और इस तरह शिथिलाचार बढ़ता जा रहा है। अतः उन्होंने सुरक्षित आचार-पालन और संघ-संगठन के लिए शिष्य-परम्परा को बिलकुल खतम कर दिया। उसीका आज यह परिणाम है कि हमारे साधुओं को स्वप्न में भी अपना चेला बनाने की भूख नहीं सताती।

उन्होंने फैले हुए शिथिलाचार पर कड़ा प्रहार किया। व्यक्तिगत आक्षेप या प्रहार से वे सदैव परे रहे। आचार-शैथिल्य के विरुद्ध उन्होंने एक जबरदस्त क्रांति की और कहा—'साधु बनना फरजियात नहीं है किन्तु साधु बनकर साधुपन को पालना फरजियात है। विषम समय है, इससे पूरा साधुपन पलता नहीं यह कहनेवाले काल की परछाई में आचार की शिथिलता का पोषण करते हैं।' इसी तरह आपने विचार-शैथिल्य पर भी प्रहार किया। विचार शुद्ध रहते हुए आचार भी शुद्ध रहना जरूरी है। यह जब सम्भव नहीं हुआ तो विचारों को ही नीचे खिसका लिया गया। इस तरह उस समय के साधु अपने दार्शनिक विचारों को भी सम्भवता के प्रवाह में बहाकर ले गये। उन्होंने इसका घोर विरोध किया। लोगों ने उन्हें विद्रोही ठहराया, दयादान

का उत्थापक बतलाया। किन्तु वे क्रांतिकारी थे। सत्य के लिए विरोध को सह चले। सत्य पर उन्हें मरना मंजूर था पर सत्य से डिगना नहीं। उन्होंने विचारा–जिस कार्य के लिए मैं घर छोड़कर संयम साधना में लगा हूँ, उसको यावज्जीवन तक शुद्ध रूप से निभाऊंगा। इसी उद्देश्य को लेकर वे अकेले साधना क्षेत्र मे चल पड़े। वे साधक थे, साधना उनका जीवन था, वे अकेले नहीं थे, भगवान् महावीर के विचार उनके साथ थे, उन्हें अकेलेपन का भान नहीं हुआ; क्योंकि वे मृगेन्द्र थे—सिंह पुरुष थे। मृगेन्द्र चाहे कितने ही बीहड़ जंगल में फिरे वह निर्भीक रहता है। आप तो उससे भी बढ़कर थे। आज आपका चरमोत्सव है। आपका अभिनन्दन करना है पर पास में कुछ भी नहीं है। अकिंचन जो बना दिया। पर फिर भी बहुत कुछ है। तन-मन जो है वह अमूल्य है। उसे मैं आपको अर्पण कर दूँ एक गीत के रूप में—

वन्दन हो अभिनन्दन हो ये तन-मन चरण चढ़ायें हम,
दीपा नन्दन आज तुम्हारी स्मृति मे श्रुति सरसायें हम,
वन्दन हो, अभिनन्दन हो ये तन-मन चरण चढ़ायें हम।

(१)

'जाए सद्धाए निक्खतो' इसी पद्य को लक्ष्य बना,
वज्र-हृदय बन चले अकेले इसीलिये तुम महामना।
कभी न की परवाह राह पर गे प्रतिपल पलक बिछायें हम,
वन्दन हो अभिनन्दन हो ये तन-मन चरण चढ़ायें हम।

(२)

'पडिमं पडिवज्जिया मस्साणे' प्रथम-श्मशान स्थान पाया,
अन्धेरी ओरी पाकर नहिं भय भैरव से घबराया।
बने पथिक से पन्थाधिप तुम तेरी पथ-कथा सुनायें हम,
वन्दन हो अभिनन्दन हो ये तन-मन चरण चढ़ायें हम।

(३)

'अत्त समे मनिज्ज छप्पिकाये' इसी पद्य को अपनायें,
दया-दान-सिद्धान्त शान्त मन एक अलौकिक रस पायें।
आवश्यक औ तृप्ति धर्म है नहीं यह आग्रह ढायें हम,
वन्दन हो अभिनन्दन हो तन-मन चरण चढ़ाये हम।

(४)

'पुढवी समो मुणी हवेज्जा' वीर वाक्य अपने दिल धर,
उग्र विरोध विनोद समझकर सहे परीषह भीषणतर।
फलतः सत्य अहिंसा की अब विजय ध्वजा फहरायें हम,
वन्दन हो अभिनन्दन हो ये तन-मन चरण चढ़ायें हम।

(५)

'तवसा धुणइ पुराण पावगं' सफल बना इस शिक्षा को,
घोर तपस्या और आतापना वाह वह तीव्र तितिक्षा को।
माना फिर स्थिरपाल फतेह की वाणी क्यों विसरायें हम,
वन्दन हो अभिनन्दन हो ये तन-मन चरण चढ़ायें हम।

(६)

'सज्झायम्मि रओ सया, जीवन में खूब उतार लिया,
सरस सुगम ३८ हजार पद्यों का सुन्दर सृजन किया।
दृढ़ अनुशासन विमल व्यवस्था की क्या बात बतायें हम ?
वन्दन हो अभिनन्दन हो ये तन-मन चरण चढ़ायें हम।

(७)

'तं सच्चं भयवं' यह वाणी साध्य तुम्हारे जीवन का,
इसीलिये तो केन्द्र बने तुम जन-जनके आलोचन का।
तुलसी तब चरमोत्सव बम्बई सिक्कानगर मनायें हम,
वन्दन हो अभिनन्दन हो ये तन-मन चरण चढ़ायें हम।

यह गीतिका नहीं है, मेरा हृदय बोल रहा है। नहीं, नहीं, आचार्य भिक्षु का हृदय और उनके सिद्धान्त ही बोल रहे हैं।

आचार्य भिक्षु आचार के कट्टर पक्षपाती थे। इसके कुछ निदर्शन देखिये :-

एक व्यक्ति ने आचार्य भिक्षु से कहा—अगर एक साधु बीहड़ जंगल में चलता हुआ थक जाय और पीछे से आती हुई गाड़ी में बैठ कर अपना रास्ता तय करे तो इसमें क्या हर्ज है ? आचार्य भिक्षु ने कहा—वह तो गाड़ी आ रही है अगर गधा आता हो और उस पर बैठ जाये तो क्या हर्ज है ? साधु अपने आचार को छोड़कर कहीं पर भी या किसी पर भी बैठता है तो वह गधा ही है। किसी भी स्थिति में मर्यादा का पालन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

संघ में फत्तजी आदि पाँच साध्वियाँ थीं। आचार्य भिक्षु ने उनसे कहा कि जितना कपड़ा चाहिये ले लो। उन्होने कपड़ा ले लिया। आचार्य भिक्षु को शक हो गया कि साध्वियों ने कपड़ा मर्यादा से अधिक लिया है। साध्वियों से पूछने पर कपड़ा पूरा बताया गया। आपने उसे वापस मंगाकर फिर उसे स्वयं नापा। कपड़ा मर्यादा से अधिक निकला। आपने पांचों साध्वियों को फौरन संघ से बाहर कर दिया।

ऐसे परिग्रह के लालची साधु-साध्वी संयम को कभी नहीं पाल सकते—यह समझ उन्होंने कितना कड़ा नियन्त्रण किया। वे छोटी सी आचार की स्खलना को भी बहुत बड़ी गलती समझते थे। साध्वियों का संघ से पृथक्करण इसका एक सजीव उदाहरण है।

खेतसीजी नाम के साधु आचार्य भिक्षु के बड़े विनीत साधु थे। एक बार आचार्य भिक्षु ने किसी कारण से एक साधु को संघ से अलग कर दिया। खेतसीजी मुनि ने आचार्य भिक्षुसे निवेदन किया कि मैं उसको समझाकर फिर से वापस संघ मे लाने जा रहा हूँ। आचार्य भिक्षु ने कहा कि मैंने उन्हे संघ से अलग कर दिया है। वह अब संघ में नहीं रह सकता। खेतसी जी ने फिर निवेदन किया तब आचार्य भिक्षु ने कहा कि संघ मे उनको लाने की कोई जरूरत नहीं है और अगर तुम लाते हो तो तुमसे मेरे संघ का सम्बन्ध विच्छेद हो जायगा। खेतसीजी मुनि को अपनी अवस्था का भान हुआ और उन्होने आचार्य भिक्षु के अनुशासन को शिरोधार्य किया।

उन्हे संख्या से प्रेम नही था, वे आचार के प्रेमी थे और जीवन भर उसी के लिए प्रयत्नशील रहे।

स्थानकवासी सम्प्रदाय से अलग होने के समय की यह घटना है। आचार्य भिक्षु के द्वितीय उत्तराधिकारी श्री भारमलजी स्वामी के पिता कृष्णोजी आचार्य भिक्षु के साथ थे। आचार्य भिक्षु उनकी कड़ी प्रकृति से उन्हे संघ में रखना नहीं चाहते थे। आचार्य भिक्षु ने भारमलजी स्वामी से कहा कि मैं तुम्हारे पिताजी को कड़े स्वभाव के कारण साथ मे रखना नहीं चाहता। तुम्हारी क्या इच्छा है? अगर उनके साथ जाना चाहो तो तुम्हारी इच्छा है। भारमलजी स्वामी ने कहा कि मैं तो आपका साथी रहूँगा। तब आचार्य भिक्षु ने कृष्णोजी से कहा कि मैं आपको कड़े स्वभाव के कारण संघ में रखना नहीं चाहता। कृष्णोजी बोले कि अगर आप मुझे

नहीं रखते हैं तो मैं अपने लड़के भारमल को अपने साथ ले जाऊंगा। भिक्षु स्वामी ने कहा कि जैसी आपकी इच्छा। तब कृष्णोजी ने भारमलजी से सारी स्थिति कही। उत्तर-स्वरूप भारमलजी ने कहा कि अब साधु-अवस्था मे हमारे बाप-बेटे का क्या सम्बन्ध है ! मैं नहीं जाऊंगा। यह सुनकर कृष्णोजी भारमलजी को हाथ पकड़कर ले गये। भारमलजी ने उनके हाथ का आहार ग्रहण करने का त्याग किया। तीन दिन तक यह स्थिति रहा। आखिर कृष्णोजी ने विवश होकर भारमलजी स्वामी को आचार्य भिक्षु के पास भेजा और नम्रतापूर्वक कहा कि आप ही इसे आहार कराइये। सारी स्थिति आचार्य भिक्षु को सुनाई।

जिस तरह आचार्य भिक्षु आचार को पूर्णतया पालन करने पर बल देते थे उसी तरह उनके शिष्य भी उस शिक्षा के प्रभाव से अछूते नहीं रहे।

इस तरह आचार्य भिक्षु एक दृढ़ आचारी महात्मा बने। आज उनका १५२ वा चरम दिवस समारोह बम्बई (सिक्कानगर) में मनाते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। वे हमारे जीवन-धन हैं। हम उनको बारम्बार श्रद्धाजलिया अर्पित करते हैं।

बंबई,
१० सितम्बर '५४

१२७ : बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय

कवित्व जीवन के नैसर्गिक गुणो मे से एक विशेष गुण है, जो हर किसी को प्राप्त नहीं होता, बिरले ही लोगों को वह मिलता है। अभ्यास या अध्ययन ही इसका कारण नहीं, इसका मुख्य कारण है शक्ति या प्रतिभा, जैन-दर्शन के शब्दों में कहूं तो क्षयोपशम। कवि की वाणी सहज रूप में हृदयस्पर्शिता, आकर्षण और प्रभाव लिए रहती है। इसलिए किसी प्राचीन कलाकार ने कवि और धनुर्धर की तुलना करते हुए कहा है कि कवि की कविता से क्या, जिसे सुनकर श्रोता अपना सिर न डुलाने लगे, धनुर्धर के धनुष की क्या विशेषता यदि उससे निकला बाण लक्ष्य को तत्क्षण ही बींध न डाले। आशय यह है कि कवि की वाणी मे ओज होता है, स्फुरणा होती है, चैतन्य होता है, जिसका प्रभाव पड़े बिना रह नहीं सकता। कवि संस्कारी होता है। वह युग को बदलने की क्षमता रखता है क्योंकि उसके पास वाणी का अमोघ बल जो होता है। आचार्य मम्मट ने कविता के गुणों का वर्णन करते हुए आनन्द, यश,

आदि के साथ उसे "उपदेशयुजे" भी बताया है अर्थात् जन-जीवन को सन्मार्ग दिखाने का गुण भी वह रखती है। काव्य के माध्यम से दिया जाने वाला उपदेश हृदयग्राही और असर कारक होता है। यही कारण है कि उसे 'कान्तासम्मित उपदेश' कहा है।

काव्यकला की सृष्टि आत्मप्रेरणा का प्रतिफल है। वास्तव में काव्य का लक्ष्य 'स्वान्तः सुखाय' है। आत्मानन्द और आत्मोल्लास के लिये कलाकार कला का सर्जन करता है। वह कला बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय होती है क्योंकि कलाकार के जीवन की सत्य अनुभूतियों का लेखा-जोखा जो उसमें होता है। जैन-आगम मे तीर्थंकरों को 'तिन्नाणं-तारयाणं' कहा गया है अर्थात् स्वयं तरने वाले—आत्मविकास करने वाले और दूसरों को तराने वाले—आत्म-विकास के मार्ग पर ले जाने वाले। आत्म-साधना या आत्म-सुधार के बिना दूसरों के उत्थान की बातें बनाना केवल आत्म-विडम्बना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। कलाक्षेत्र के कार्यकर्ताओं से मैं कहूँगा कि वे 'स्वान्तः सुखाय' और 'स्वान्तः शोधाय' का तथ्य दृष्टि मे रखते हुए अपने प्रतिभा के बल से उस ओजपूर्ण काव्य की सृष्टि करें जो आज की पथ-विचलित मानवता को आत्म-चैतन्य और जागृति का सदेश दे सके। मुझे कहने दीजिये—आज कवियो को लोक-रंजन की भूलभुलैया मे अपने को नहीं भुला देना है, उन्हे आज के अनीतिग्रस्त, अन्यायपूर्ण, अनाचारमय वातावरण की जड़ें खोखली कर देनी हैं; डूबती हुई मानवता को बचाना है, अपनी तपःपूत वाणी से, अपनी ओज भरी स्वर-लहरी से। क्या मैं आशा करूँ कि कविजन अपने इस गौरव भरे उत्तरदायित्व को निभायेंगे?

मनुष्य जन्म मिला, विकास की परिपूर्ण सामग्री मिली। ऐसा होते हुए भी यदि व्यक्ति जीवन का सही उपयोग नहीं करता तो वह उसकी अज्ञता है। हर मनुष्य का यह प्रयास होना चाहिये कि उसे सही माने मे अपने जीवन का विकास करना है। मनुष्य मे विवेक नामक एक विशिष्ट शक्ति है। उसके द्वारा वह हेय क्या है, उपादेय क्या है, कार्य क्या है, अकार्य क्या है इन सबका निर्णय कर सकता है। हंस जिस प्रकार मिले हुए दूध और पानी मे से दूध-दूध ले लेता है; पानी छोड़ देता है, उसी प्रकार विवेकशील व्यक्ति को समूल तथ्य ग्रहण कर लेना चाहिये। भगवान महावीर ने ज्ञान के सम्बन्ध में कहा है कि जिस व्यक्ति को सत्-असत् का ज्ञान नहीं है, वह क्या करेगा अर्थात् क्रिया और ज्ञान का आपस मे गहरा सम्बन्ध है। दोनों एक

दूसरे के पूरक हैं। जैन-दर्शन में कहा गया है—**ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः**—मोक्षके लिये क्रिया और ज्ञान दोनों की अपेक्षा है। मैं चाहूँगा कि संसार का समग्र मानव समुदाय सद्ज्ञान और सत्क्रिया की आराधना करता हुआ जीवन को सफल बनाये, उसे विकास के लिये उच्चतम स्थान तक ले जाय। देश और विदेश के बहुत से व्यक्ति मेरे सम्पर्क में आते रहते हैं। सांस्कृतिक समन्वय और सद्भावनामूलक सुन्दर बातें चलती हैं। डा० नोरमन ब्राउन की तरह अमेरिका के बहुत से कलाकार व राजनीतिज्ञ मेरे सम्पर्क में आते रहे हैं। आपस में बड़ा सुन्दर सांस्कृतिक सम्बन्ध रहा है। मुझे आशा है—डा० नोरमन ब्राउन उसमें एक कड़ी और जोड़ेंगे।

बंबई,
१२ सितम्बर '५४

१२८ : भारतीय जीवन के आदर्श

मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ—ये भारतीय जीवन के आदर्श अंग हैं। मनुष्यों के प्रति ही नहीं प्राणिमात्र के प्रति मानव में मैत्री-भावना हो। वह अपनी ओर से किसी को भी कष्ट न दे, पीड़ा न पहुँचाये, खेदान्वित न करे। दूसरों में अहिंसा आदि सद्गुणों को देख वह प्रमुदित हो। किसी के भी प्रति वह क्रूर और निर्दय व्यवहार न करे। अपकार करने वाले व्यक्ति जिन्हें लोग आम तौर से घृणा की दृष्टि से देखते हैं, उनके प्रति भी उपेक्षा-भाव रखे। प्रत्येक व्यक्ति को यह सोचना चाहिए कि वह कौन है ? उसका जीवन किधर जा रहा है ? वह अपने जीवन के सही लक्ष्य से दूर तो नहीं हो रहा है ? यह कहते हुए खेद होता है कि आज का जन-जीवन हिंसा और अनीति से बोझिल बना जा रहा है। व्यक्ति का विवेक इतना निस्तेज हो गया है कि वह अपने थोड़े से स्वार्थ के लिए, कायिक तृप्ति के लिये, दूसरे प्राणी के प्राण लूटते हुए भी नहीं हिचकिचाता। आज हिंसा के खिलाफ अहिंसा की शक्ति के लिए भीषण संग्राम छेड़ देने की आवश्यकता है। भारतीय दृष्टि में अहिंसा ही सच्चा विज्ञान है, वही अप्रतिहित शक्ति है। व्यक्ति-व्यक्ति के व्यावहारिक जीवन में इसका उपयोग हो—आज यह अपेक्षित है। अहिंसा-प्रसार तो एकमात्र साधन है अहिंसा के प्रति मानव के हृदय में निष्ठा और प्रेम की जागृति हो।

बंबई,
१८ सितम्बर '५४

१२९ : अहिंसा और सर्वोदय

अहिंसा और सर्वोदय का गहरा सम्बन्ध है। बिना सर्वोदय के अहिंसा नहीं और बिना अहिंसा के सर्वोदय नहीं। सर्वोदय का मतलब है—सबका उदय। सबका उदय अहिंसा से ही सम्भव है।

अहिंसा को हमें हृदय-परिवर्तन के द्वारा प्रतिष्ठित करना है। बिना हृदय-परिवर्तन के वह ठहरेगी नहीं। अनीति के द्वारा थोड़े से पैसे का लाभ होते देखा कि वह उधर झुक जायगा। अगर अहिंसा द्वारा हृदय-परिवर्तन का उसपर गहरा असर हो जायगा तो हिंसा और अनीति के झकझोर उसे सहसा झुका नहीं सकेंगे। उसका आत्म-बल जाग्रत होगा अतः वह इनपर विजय पा जायेगा।

आज व्यक्ति की अहिंसा में निष्ठा है। वह अच्छी है पर जब तक वह जीवन में नहीं उतरती तबतक उसकी पूर्ण सफलता नहीं। व्यक्ति आचरण के क्षेत्र मे समाजवादी बन जाता है—समाज सुधरेगा फिर मैं सुधरूगा, और अपने व्यक्तिगत लाभ के समय व्यक्तिवादी बन जाता है। यह वृत्ति और भावना अहिंसा के परिपालन के क्षेत्र में बाधक बन रही है। अगर व्यक्ति ने इस वृत्ति को छोड़ आत्म-विकास की दिशा में व्यक्तिवादी मनोवृत्ति को अपनाया तो अवश्य ही उसके अपने उत्थान के साथ-साथ सर्वोदय अर्थात् सबका उदय होगा।

बंबई,
१९ सितम्बर '५४

१३० : जीवन-शुद्धि के मार्ग

व्यक्ति के चिन्तन और वर्तन मे सचाई होनी चाहिये। तत्त्व को सही रूप में समझना, तदनुसार जीवन में ढालना जैन-दर्शन का मूल है। सोचना कुछ, कहना कुछ और करना कुछ यह अपने अन्तरतम की खिलाफत है, आत्म-बिडम्बना है। भगवान् महावीर ने कहा—प्राणी ! तू ही अपने सुख और दुःख का स्रष्टा है, तू ही अपना शत्रु है और तू ही मित्र, यदि तू भला करता है तो तू अपना मित्र है, बुरा करता है तो शत्रु।

जीवन शुद्धि का मार्ग है—त्याग और तपस्या। त्याग से अभिप्राय दुष्प्रवृत्तियों को छोड़ना और तपस्या का अर्थ है—सत् क्रियाओं मे अपने को जोड़ना। प्रतिपालन

की अपेक्षा से इसे दो भागों में बांटा जाता है—महाव्रत और अणुव्रत। हिंसा आदि का सम्पूर्ण त्याग महाव्रत है और आंशिक त्याग अणुव्रत। अणुव्रत मध्यम मार्ग है। अणुव्रतों को आधार मानते हुए एक अध्यात्म-विकास-मूलक कार्यक्रम हमारी ओर से चल रहा है, जिसका लक्ष्य है जाति, सम्प्रदाय, वर्ग व वर्ण-भेद को छोड़ते हुए मानव जाति में आध्यात्मिकता और नैतिकता का संचार करना।

सबमें मैत्री, सद्भावना व भाईचारे का प्रसार हो, हिंसा, क्रूरता, लोलुपता आदि पतनकारी वृत्तियाँ मिटें—यही मेरी भावना है। यहाँ समागत विदेशी भाइयों से मैं कहना चाहूँगा कि वे अपने देश में इस मैत्री एवं सद्भावना मूलक सन्देश को फैलायें। आज दिन देशों के पास अणबम और उद्जन बम हैं, पूछने पर वे कहते हैं—ये उनकी रक्षा के लिये हैं। पर जरा सोचें तो सही कि यदि ये उनके शत्रु के पास हों तो ? दूसरी अचरज की बात यह है कि आज विश्व में शान्ति के लिए बड़े-बड़े सम्मेलन व परिषदें होती हैं पर उनके नेता कौन हैं ? वे लोग जो बड़ी से बड़ी संहारक और विध्वंसक शक्तियों के धनी हैं। कैसी विडम्बना है। जिनके खुद के पास शान्ति नहीं वे औरों को क्या शान्ति दे सकते हैं ! मुझे कहने दीजिये—शान्ति दुनिया को मिलेगी तो केवल अहिंसा से ही मिलेगी।

बंबई,
२३ सितम्बर '५४

१३१ : संस्कृत का महत्त्व

भाषा भावों का दौत्य या प्रतिनिधित्व करती है, वह भावों को दूसरे तक पहुंचाने का जरिया है। भगवान् महावीर ने श्रुति को समाधि बताया है। ज्ञान के लिए श्रुत का अध्ययन करना चाहिये। एकाग्र और स्थिर होने के लिये श्रुत का अध्ययन करना चाहिये। श्रुत अथवा ज्ञानार्जन के कितने हृदयस्पर्शी उद्देश्य हैं। इनसे जीवन में शान्ति और आत्मस्थता आती है। इसलिये इनका चिन्तन, अनुशील, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये। श्रुत का साध्य है भाषा। ज्ञान जहाँ भाव-श्रुत कहा गया है भाषा को द्रव्य-श्रुत के नाम से अभिहित किया गया है। यदि श्रुत आत्मा है तो भाषा उसका कलेवर। अतः दोनों का गहरा सम्बन्ध है।

संस्कृत भाषा का महत्त्व इसलिए है कि उसमें आत्म-शोधन, आत्म-परिमार्जन और जीवन-विकास के महत्त्वपूर्ण तत्त्व भरे पड़े है। भगवान् महावीर ने कहा—

'सागयं पागयं चेव पसत्थं इसिभासियं' अर्थात् संस्कृत और प्राकृत ऐसी भाषायें हैं जिनमें आत्मशोधन के तत्त्व भरे पड़े हैं। भारत की चारित्र्य एवं साधनामूलक संस्कृति को आप लोग अपने जीवन में डालकर आत्म-उत्थान के पथ पर आगे बढ़ें।

बंबई,
२५ *सितम्बर '५४*

१३२ : जीवन का सही लक्ष्य

जैन-संस्कृति त्याग, संयम एवं साधना की संस्कृति है। अहिंसा, बंधुता, मैत्री, समता और सद्भाव जैन-संस्कृति की आत्मा है। जहाँ अन्यत्र बल का मुकाबला बल से व हिंसा का हिंसा से करने का निर्देश पाते हैं, वहाँ जैन-संस्कृति अहिंसा, मैत्री और बंधुत्व का आदर्श प्रस्तुत करती है। आत्म-ऋजुता, सरलता, अकुटिल भाव जीवन को परिमार्जित करने वाले सद्गुण हैं—यह जैन संस्कृति की आवाज है। विनीत भाव से आत्मा में निर्मलता आती है। आत्म-निर्मलता शाश्वत सुख और शान्ति का हेतु है। शाश्वत शान्ति और अध्यात्म-सुख जीवन का सही लक्ष्य है—ऐसा जैन-संस्कृति का अभिमत है। जीवन-तत्त्व को सही रूप में समझना, तदनुसार अनुवर्तन करना जीवन को सच्चे विकास की ओर ले जाने का अमोघ साधन है। अतः जैसे ज्ञान का महत्त्व है, उसी तरह सत्-चर्चा भी कम महत्वशील नहीं। क्रिया के बिना ज्ञान पंगु है और ज्ञान के बिना क्रिया अंध।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह की सम्पूर्ण आराधना ये पाँच महाव्रत हैं। साधु, मन, वचन और काया से इनका पालन करते हैं, वे स्वयं इनकी विराधना नहीं करते हैं, न कराते हैं और न करने वाले का अनुमोदन ही करते हैं। गृहस्थ का जीवन सीमित साधना का जीवन है। वह यथाशक्ति उक्त व्रतों का पालन करता है अतः वे व्रत 'महा' के बजाय 'अणु' कहलाते हैं। अणुव्रत अर्थात् छोटे-छोटे व्रत।

बंबई,
२७ *सितम्बर '५४*

१३३ : जीवन-विकास के साधन

जैन-आगम ज्ञान-विज्ञान के अमूल्य विधान हैं। जीवन को विकास के निर्मल मार्ग पर ले जाने के वे अमोघ साधन हैं। उनका जितना दोहन किया जाय, उतने ही ज्ञान-मूलक रत्न निकलेंगे। प्राचीन जैन-इतिहास वास्तव में संघर्षों का इतिहास है। जैन-महापुरुषों ने संयम आत्मसाधना की सुरक्षा के लिए हँसते-हँसते कष्टों को गले लगाया। आत्मबल और अहिंसा के साथ उनका मुकाबला किया। देह-पात हो जाये तो कोई पर्वाह नहीं पर जीवन के महान व्रत जिन्हें वे आजीवन पालने की प्रतिज्ञा कर चुके हैं, निभाये जाने चाहिये, यह उनका आदर्श था। इस आदर्श पर चलने वाला कभी संकटों से घबड़ा सकता है ! इस प्रकार जैन-आगम आत्म-साधकों के लिये एक महत्वपूर्ण सहारा है, जो उन्हें साधना-मार्ग पर आगे बढ़ने में प्रेरणा दे सकता है।

बंबई,
२८ सितम्बर '५४

१३४ : जीवन की इति कर्तव्यता

आज लोगों का जीवन निस्सार और खोखला बनता जा रहा है। केवल बाहरी दिखावों में जीवन की इतिकर्तव्यता मान मानव भ्रान्त बना जा रहा है। सिर्फ पुस्तकीय ज्ञान को जीवन का साध्य समझ वह भूलता जा रहा है कि जीवन में सक्रिय रूप से उसे कुछ करना भी है। जब तक जीवन में सात्त्विक आचरण, ईमानदारी, सद्वृत्ति, मैत्रीभाव जैसे गुण नहीं आते तब तक उपचार मात्र वह जीवन है, वास्तविक नहीं। केवल बड़ी-बड़ी बातें करने से कुछ बनने का नहीं। जैन कहें कि उन्हें अहिंसा का गौरव भरा सिद्धान्त विरासत में मिला है, बौद्ध दावा करें कि करुणा तो उन्हीं द्वारा आविष्कृत तत्त्व है, वैदिक उपासना के ऊँचेपन का गर्व करें, पर इन सब बातों से कुछ नहीं बनेगा जब तक जीवन में इन आदर्श तत्त्वों का समावेश न हो।

यद्यपि यह सही है कि संसार से असत्य, काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि का कभी भी सर्वथा लोप नहीं हो सकता, इसलिये ऐसे युग की कल्पना हम नहीं कर सकते जब कि सारे के सारे लोग त्याग, तितिक्षा और आत्म-साधना के पथ पर आ जायें। पर सोचना यह है—असत्य, हिंसा, क्रोध आदि के पैर बड़े लम्बे होते हैं,

यदि इनका सामना न किया जाय तो बहुत जल्दी ये भारी फैलाव पा लेते हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि सत्य, अहिंसा, मैत्री आदि का अत्यन्त दृढ़ता के साथ प्रचार होना चाहिये। मैं उपस्थित व्यापारियों से कहूँगा—पैसा पैदा कर लेना मात्र जीवन का साध्य नहीं है। जीवन का साध्य है—आत्म-स्वरूप को समझना। मैं आशा करता हूँ कि व्यापारी इस ओर अग्रसर होंगे।

बंबई,
२८ सितम्बर '५४

१३५ : संयम

अणुव्रत-आन्दोलन जीवन-शुद्धि का उपक्रम है। यह पाँच वर्षों से चल रहा है। हजारों व्यक्ति अणुव्रती बने। अपूर्ण व्रतों को लेने वाले तो कई हजार हैं। लाखों व्यक्ति इस विषय में रस लेते हैं। भारत से बाहर की प्रजा भी इसे अपनाना चाहती है। इसी वर्ष (४ अप्रैल १९५४) जापान में हुए सर्व धर्म सम्मेलन के अवसर पर अणुव्रतों का प्रचार हुआ। उसे जापानी और दूसरे राष्ट्र के प्रतिनिधियों ने पसन्द किया। और उन्होंने कहा कि इसका अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से व्यापक प्रसार होना चाहिये। अभी बम्बई में बेरन आदि कई विदेशी व्यक्ति आये, उन्होंने कहा—हम अणुव्रतों को अपने राष्ट्र में ले जाय और वहाँ की जनता को बतायें--इससे बहुत भला होगा। मुझे लगता है—इसका कारण हिंसा से पीड़ित मानव की आन्तरिक वेदना है। युद्ध और वस्तुओं की स्पर्धा ने मनुष्य को इतना अशात बना दिया है कि अब वह इस ज्वालामुखी से कोसों दूर भाग जाना चाहता है। बेरन ने बताया—अमेरिकन धर्म के प्रति असंभावित दिलचस्पी ले रहे हैं। चर्च में अभूतपूर्व भीड़ होती है। राष्ट्रपति आइजनहोवर आध घण्टा तक नियमित रूप से एकान्त मौन प्रार्थना करते हैं।

मनुष्य इच्छा पूर्ति के लिए उच्छृङ्खल गति से चला। इच्छा पूरी नहीं हुई। इच्छा पूर्ति के लिए दूसरे पर निर्भर रहना, वह निर्भरता भी टूट रही है। इसलिये वह अशात बन रहा है। वह चाहता है कहीं शान्ति मिले। आप ध्यान से देखिये—शाति वे चाहते हैं, जो सुख-सुविधाओं को पाकर भी अतृप्त हैं। जो गरीब हैं, सुख सुविधाओं से वंचित हैं, वे शाति की चर्चा नहीं कर रहे हैं। उनकी चर्चा अभी सुख-सुविधा के लिये चलती है। निम्न वर्ग असुविधा से पीड़ित है और उच्च वर्ग अशाति से।

आज का संघर्ष अभाव और अतिभाव का संघर्ष है, दोनों से बचकर चलने का मार्ग समभाव है। राजनीति की दृष्टि उत्पादन, वितरण और विनिमय पर से वैयक्तिक प्रभुत्व हटाकर समभाव को फलित करना चाहती है। इसलिए उसके अनुसार समभाव सामूहिक संपत्ति पर आधारित है। संयम की दृष्टि उससे भिन्न है, वह समभाव को आत्मनिष्ठ मानती है। व्यक्ति-व्यक्ति मे समभाव आये—प्राणी मात्र को आत्मतुल्य समझने की भावना प्रबल बने। एक दूसरे का शोषण और उत्पीड़न इसलिए करता है कि उसकी भोगवृत्ति चलती चले और आत्मिक समता की भावना नहीं जाग जाती, तब तक वह करता है। व्रत के दर्शन मे रोग का मूल भोग-वृत्ति है, पदार्थ और संग्रह नहीं। भोग-वृत्ति न्यून नहीं होती तब तक न शोषण घटता है और न संग्रह। शोषण और संग्रह भोग-लालसा की पूर्ति के लिए हैं। वह मिटती है तब उनका कोई कारण नहीं रहता। व्रती बनने के बाद, इच्छायें सीमित नहीं होतीं किन्तु, इच्छायें सीमित हो जाती हैं तभी व्रती बनते हैं। व्रत की स्थिति बलवान होती है वहाँ अतिभाव के बिना अभाव भी नहीं होता। इस प्रकार आत्म-निष्ठ समभाव से पदार्थाश्रित समभाव स्वयं फलित हो जाता है। अणुव्रत-आन्दोलन का ध्येय है आत्मिक समभाव की स्थापना हो।

पदार्थ पर आधारित समभाव सत्ता निर्मम रहता है। सत्ता से नियंत्रित व्यक्ति जड़ बन जाता है। उसे संग्रह-त्याग मे वह आनन्द नहीं आता जो आत्म नियमन करने वाले व्रती को आ सकता है।

जीवन की आवश्यकतायें जो हैं उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती किन्तु उनकी पूर्ति राज्यसत्ता या उसकी समान्तर शक्ति पर निर्भर है। अणुव्रत आन्दोलन व्रत प्रधान है। इसलिए इसकी कार्य-दिशा उससे भिन्न है। इसका सम्बन्ध जीवन की पवित्रता से है। आवश्यकता के अतिरिक्त अथवा परिस्थिति की जटिलता से जो बुराइयाँ बढ़ती हैं, उन्हें मिटाना यह इसका उद्देश्य है। परिस्थितियाँ जब कभी भी बुरी हो सकती हैं किन्तु उसके कारण व्यक्ति बुरा न बने—यह भावना है। यह तभी संभव है जब कि मनुष्य-समाज कठोर जीवन का अभ्यासी बने।

आज की दुनिया में जो राजनीतिक और आर्थिक स्पर्धायें चल रही हैं, उनसे व्यक्ति अमानुषिक कार्य कर रहा है। उसकी अमानुषिक वृत्तियाँ मिटें, इसके लिए

आन्दोलन की ये अपेक्षायें हैं—(१) मनुष्य शस्त्रानष्ठ न बनकर अहिंसानिष्ट बने और (२) भोगी न बनकर त्यागी बने।

यह आन्दोलन (१) जीवन-शुद्धि की सामान्य भूमिका को प्रस्तुत करता है, (२) धार्मिक मतभेदों के प्रति व्यक्ति को सहिष्णु भी बनाता है (३) धर्म जो सिद्धान्त और भाषा की वस्तु बन रहा है उसे आचरण बनाने की स्थिति पैदा करता है, प्रतिष्ठा और बड़प्पन के मूल्यों को बदलकर व्यक्ति का मूल्यांकन बदलना चाहता है।

आन्दोलन की वर्तमान गतिविधि प्रमुखतया राजस्थान, विदर्भ, उड़ीसा, दक्षिण, बंगाल, पंजाब व बम्बई मे चल रही है। इसकी आवश्यकता सब अनुभव करते हैं। किन्तु व्रती बनने से हिचकते हैं। कठिनाई यह है कि उच्चवर्गीय कहलाने वाले व्यक्ति और सरकार के उच्च अधिकारी अपने को दूध का धुला मानते हैं। वे शायद अपने आपको व्रती बनाना आवश्यक नहीं समझते।

दूसरे लोग उनके कार्यों की ओर देखते हैं किन्तु उन्हे उनसे जीवन-शुद्धि की प्रेरणा नहीं मिल रही है; वे उनसे प्रेरणा पा रहे हैं जीवन को विलासी और पूंजीमय बनाने की। उच्च वर्ग न बदले तब निम्न वर्ग से क्या कहा जाय? वह स्वयं उसी मार्ग की ओर बढ़ना चाहता है जिस पर उच्च वर्ग चल रहा है। गरीबी दीनता है इसलिए अच्छी नहीं; अमीरी शोषणाश्रित है वह भी अच्छी नहीं। अस्तु जीवन का सही मार्ग संयम है।

बंबई,
१ अक्तूबर '५४

१३६ : विश्व-शान्ति के लिए अहिंसा

सत्य और अहिंसा भारतीय जीवन का मुख्य आधार रहा है पर खेद के साथ कहना पड़ता है कि आज भारतीय जीवन से उसका लोप-सा हुआ जा रहा है। आज के जनव्यापी असन्तोष, अशान्ति और दुःख का एक मात्र कारण यही है। मैं प्रत्येक भारतीय नागरिक से कहना चाहूंगा कि वह जीवन में अहिंसा और सत्य को प्रश्रय दे। अहिंसा और सत्य का स्रोत मुख्य रूप से भारत में बहुत रहा है अतः आवश्यकता है कि उसे यहीं से विश्व भर में प्रसारित किया जाय। विश्व के नागरिक आज हिंसा के झपेटों से उकता चुके हैं और शान्ति के लिये अहिंसा की ओर मुड़े

हैं। भारतीयों का यह कर्तव्य है कि वे इस मोड़ को बढ़ायें। अगर ऐसा किया गया तो मुझे विश्वास है कि अहिंसा अवश्य ही बल पकड़ेगी।

बम्बई,
२ अक्टूबर '५४

१३७ : श्रमण-संस्कृति

श्रमण-संस्कृति का मूल आधार है—श्रम। जीवन-विकास के निमित्त पुरुषार्थ। 'श्रमण' शब्द के विश्लेषण में जायें तो हमें इसके मूल में 'श्रम' 'शम' और 'सम' ये तीन शब्द मिलेंगे। जो संस्कृति पुरुषार्थ की संस्कृति है, चिन्तन की संस्कृति है, समता की संस्कृति है, उसका नाम है श्रमण-संस्कृति। जैन और बौद्ध ये दोनों सांस्कृतिक धारायें श्रमण-संस्कृति के नाम से अभिहित होती है। यदि तुलनात्मक रूप में विवेचन करें तो मिलेगा कि दोनों में बहुत से पहलुओं में समानता है। कुछ पहलू ऐसे भी हैं जिनमें पूर्ण समन्वय नहीं भी है। पर प्रत्येक धर्म और दर्शन के अनुयायी के लिये यह अपेक्षित है कि जिन-जिन तत्त्वों में उनमें समन्वय या सामंजस्य है, उन्हें आगे रखते हुए वे जीवन-विकास की ओर अग्रसर हों।

जैन-दर्शन जहाँ सुचीर्ण-सुकृत कर्मों का सत् फल बताता है और दुश्चीर्ण अर्थात् दुष्कर्मों का फल असत् उसी तरह बौद्ध-दर्शन भी बुराइयों के त्याग और भलाइयों के स्वीकार की बात कहता है। जैन-दर्शन में मुख्य नौ तत्त्व हैं—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, बंध, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष। बौद्ध-दर्शन के मुख्य तत्त्व चार हैं—दुःख, समुदय, मार्ग और निरोध। दुःख के पांच भेद हैं—विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूप। संख्या में चार और नौ इतने लम्बे अन्तर को देख सहसा एक व्यक्ति के दिमाग में यह सवाल उठेगा कि फिर दोनों का सामंजस्य कैसे सध सकता है? पर सापेक्ष दृष्टि से गवेषणा करें तो समन्वय होना कठिन नहीं होगा। दुःख का अर्थ है—आनुकूल्य प्रातिकूल्यमय वेदना, संस्कार। जैन-दर्शन के पुण्य, पाप और बंध से इसकी तुलना हम कर सकते हैं। जो दुःखोत्पत्ति के हेतु हैं, उनका नाम है—समुदय। यह आस्रव से उपमित किया जा सकता है। आस्रव भी तो कर्मागम का द्वार है। जीवन में शान्ति आ सके, यह दिशा जो दे, उसका नाम मार्ग है। यह संवर और निर्जरा से तुलित किया जा सकता है। संवर से कर्म प्रवाह का

निरोध और निर्जरा से अशुभ संचित का अपगम होता है। फलतः मुक्ति अर्थात् दुःखों से छुटकारा मिलता है।- इसी भाव को बौद्ध-दर्शन ने निरोध कहा है। इसी प्रकार अन्यान्य तत्त्वों में भी हमें समन्वय मिल सकता है।

बम्बई,
३ अक्टूबर '५४

१३८ : अणुव्रत-आन्दोलन का घोष

आचार और विचार ये जहाँ दो हैं, वहाँ एक भी है। इनमें जहाँ पौर्वापर्य (पहले-पीछे का भाव) है, वहाँ नहीं भी है। विचार के अनुरूप ही आचार बनता है अथवा विचार ही स्वयं आचार का रूप लेता है। आर्ष वाणी में मिलता है—"पहले विचार और पीछे आचार।" आचार शुद्ध नहीं तो विचार कैसे शुद्ध होगा? शुद्ध विचार के बिना आचार शुद्ध नहीं बनता। आचार-विचार के अनुकूल चले तब उनमें द्वैध नहीं रहता। जहाँ विचार के अनुकूल आचार नहीं बनता, वहाँ वे दो बन जाते हैं। अपेक्षा है, विचार और आचार में सामंजस्य आये।

कई व्यक्ति ऐसे हैं, जिनमें विचारों की स्फुरणा नहीं है, उन्हें जगाने की आवश्यकता है।

कई व्यक्ति जागृत हैं किन्तु उनकी गति संयम की दिशा में नहीं है, उनकी गति बदलने की आवश्यकता है।

कई व्यक्ति सही दिशा पर हैं किन्तु उनके विचार केवल विचार तक ही सीमित हैं, उन्हें सावधान करने की आवश्यकता है।

मूल बात यह है—आज आचार-शुद्धि की आवश्यकता है। उसके लिये विचार-क्रान्ति चाहिए। उसके लिए सही दिशा में गति और इसके लिए जागरण अपेक्षित है।

राजनीति की धारा परिस्थिति को बदलना चाहती है और वह उसको बदल सकती है। अणुव्रत का मार्ग संयम का मार्ग है। इसके द्वारा हमें व्यक्ति को बदलना है। परिस्थिति बदले इसमें हमारा विरोध नहीं किन्तु उसके बदलने पर भी व्यक्ति न बदले अथवा दूसरे पथ की ओर मुड़ जाय यह वाँछनीय नहीं। सामग्री के अभाव में जो कराहता रहे, वही उसे पाकर विलासी बन जाये यह उचित नहीं।

संयम की साधना नहीं होती तब यह होता है। संयम का लगाव न गरीबी से है न अमीरी से। इच्छाओं पर विजय हो—यही उसका स्वरूप है।

इच्छायें संभव है एक साथ नष्ट न भी हों किन्तु उन पर अंकुश तो रहना ही चाहिये। शक्तिशाली और पूँजीपति वर्ग को इच्छाओं पर नियंत्रण करना है और अधिक संग्रह को भी त्यागना है। गरीबों के लिए अधिक संग्रह के त्याग की बात नहीं आती किन्तु इच्छाओं पर नियंत्रण करने की बात उनके लिए भी वैसी ही महत्वपूर्ण है जैसी धनी वर्ग के लिए है।

बड़ा या उच्च कहलाने वाले वर्ग के लिए यह चुनौती है कि वह संतोषी बने। निम्न वर्ग स्वयं उनके पीछे चलेगा। जब तक ऐसा नहीं होता है तब तक देखा-देखी या स्पर्धा मिटती नहीं।

विश्व की जटिल परिस्थितियों, मानसिक और शारीरिक वेदनाओं को पाते हुए भी मनुष्य समाज नहीं चेतेगा ? जीवन की नश्वरता और सुख-सुविधाओं की अस्थिरता को समझते हुए भी वह नहीं सोचेगा ?

जीवन की दिशा बदलने के लिये हम सबका एक घोष होना चाहिए—'**संयमः खलु जीवनम्**'। अणुव्रत-आन्दोलन का यही घोष है। जीवन के क्षणों में शान्ति आये, उसके लिए यह नितान्त आवश्यक है।

१३६ : सुख-शान्ति के मार्ग

अणुव्रत-आन्दोलन प्रेरणा देता है कि व्यक्ति सोचे—मैं अपनी आत्मा का दमन करूँ। अपनी बुराइयों को मिटाऊँ। क्योंकि सही माने में वीर वे ही हैं, जो आत्म-बल और दृढ़ता के साथ अहिंसा और सत्य के मार्ग पर अविचल भाव से चलते रहते हैं। मनुष्य भूलों का पुतला है, जान-अनजान में होने वाली भूलों को वह समझे, आगे के लिए न करने का संकल्प करे। अणुव्रत-आन्दोलन व्रतों का आन्दोलन है। पर कोई राजनैतिक या आर्थिक योजना नहीं, यह तो जीवन-शुद्धि की योजना है। व्यक्ति इसमें आये, अपने जीवन को सुधारे। व्यक्ति अपने जीवन का स्वयं निर्माता है, हम तो केवल प्रेरणा देने वाले हैं।

मनुष्य सुख चाहता है, शान्ति चाहता है, जिससे उसे दुःखों में घुलना न पड़े। पर उसका मार्ग आज का घातक विज्ञान नहीं हो सकता और न भौतिकवाद ही हो सकता है। उसका मार्ग है—इच्छाओं का नियन्त्रण, लालसाओं का संवरण। सुख

पाने के लिए दुःखों के मार्ग को रोकना होगा। मैं जानता हूँ, आप लोग संसार में रहते हैं और इज्जत से रहना चाहते हैं, भिक्षुक नहीं बन सकते। मैं कब कहता हूँ, आप ऐसा करें, पर कम-से-कम शोषण और संग्रह से तो आप बचें। औषधि ली जाती है रोग मिटाने के लिए, पर उससे पेट तो नहीं भरा जाता। कोई पेट भरने लगे तो लोग परिस्थितियों की दुहाई देने लगते हैं, यह आत्म-दुर्बलता का परिचायक है। परिस्थितियों का स्रष्टा स्वयं मनुष्य ही तो है।

परिस्थितियों पर विजय पाने के लिये व जीवन को सच्चे सुख व शान्ति के मार्ग पर आगे बढ़ाने के लिए आपको अपना जीवन हल्का बनाना होगा। अणुव्रत-आन्दोलन यही प्रेरणा आपको देता है। यह कोई मेरा आन्दोलन नहीं है, बल्कि पहले जन-जन का आन्दोलन है। इसमें व्रत दिलाये नहीं जाते, निष्ठाशील व्यक्ति स्वयं आत्म-प्रेरित होकर व्रत लेते हैं।

बंबई,
१७ अक्टूबर '५४

१४० : संयम ही जीवन

देहली का वह समय मुझे याद आ रहा है जब कि चांदनी चौक में लगभग ५०० व्यक्तियों ने खड़े होकर इन नियमों को अंगीकार किया, सबने सुना, सोचा और कइयों ने संदेह की दृष्टि से भी देखा। वे आशंकायें भी सर्वथा निरर्थक नहीं थीं। आज के इस अनीतिमय वातावरण में चंद व्यक्ति नैतिक जीवन बिताना चाहें तो वह कैसे सम्भव हो सकता है? पर मैं देखता हूँ कि अणुव्रती बन्धुओं ने आत्म-बल, साहस और धैर्य के साथ उन व्रतों का पालन किया है। फलस्वरूप आज वे आशंकायें भी काफूर हो गई हैं और होती जा रही हैं।

मैं मानता हूँ कि अणुव्रती भाई-बहन व्यक्तिगत बुराइयों को दूर करने के लिये कटिबद्ध हैं, पर आज का युग कुछ विचित्र-सा है। आज प्रगति और सुधार का मापदण्ड बदल चुका है। लोग व्यक्ति के सुधार को ही सुधार नहीं मानते। व्यक्ति सुधर कर दूसरों को सामष्टिक रूप में सुधारे। सुधारकों की विचारधारा इस ओर जाती है और यह सही भी है। माना कि अपना घर साफ-सुथरा है पर अगर उसके आस-पास में गन्दगी है तो क्या उसकी बदबू अपने घर में नहीं आयेगी? वह आयेगी और हमें उसे नहीं आने देना है—इसलिये आसपास की गन्दगी को भी

साफ करना होगा। मैं अणुव्रती बन्धुओं से कहूँगा—उनके लिये अपने आपको ही उठा लेना पर्याप्त नहीं है। मैं उनसे अपेक्षा करूँगा कि वे वर्ष में कम-से-कम ५ अणुव्रती अवश्य बनायें। वे समाज की रूढ़ियों और बुराइयों को दूर करने में प्रयत्न-शील हों। अगर इस तरह वे सबको आन्दोलन के अनुकूल बनायेंगे तो आन्दोलन फलेगा फूलेगा।

कई अणुव्रती बन्धु अपना सामाजिक संगठन चाहते हैं। अगर वह बन गया तो अवश्य ही अनीति के खिलाफ एक सबल मोर्चा तैयार होगा। अनीति अपनी मौत मर मिट जायगी। अब तक हुए अणुव्रतियों से इस विषय मे कितनी अपेक्षा है—यह मैं नहीं कह सकता। उनमें वह आत्म-शक्ति मैं पैदा करूँ इसके पहले आवश्यक समझूँगा कि वे स्वयं इस ओर जागरूक हों। उनके जीवन का एक ही सूत्र है—**"संयमः खलु जीवनम्"**—संयम ही जीवन है। अणुव्रतियों को इसी दिशा मे प्रयाग करना है और विश्व की भोगमयी दिशा को बदल देना है।

बबंई,

१८ अक्टूबर '५४

१४१ : अणुव्रतियों का लक्ष्य

आज का दिन वह दिन है जिसकी अणुव्रती भाई-बहन एक वर्ष से प्रतीक्षा करते आ रहे थे। जोधपुर में एक वर्ष पहले अणुव्रतियों ने व्रत ग्रहण किये। उन्होंने अनेक विघ्न-बाधाओं के उपरान्त भी व्रतों को धैर्य और साहस के साथ निभाया। अगर उनसे कोई छोटी-सी गल्ती भी हो जाती है तो वे हृदय खोल कर उसे सामने रख देते हैं, इससे लगता है कि वे पाप-भीरु बन गये हैं। व्रती-जीवन से पूर्व जो सरकार के नियमो को तोड़ने मे संकोच तक नहीं करते थे उनमें आज इतनी भी हिम्मत नहीं रह गई है कि वे एक पुस्तिका के नियमों को भी तोड़ सकें। अणु-व्रतियों का एक मात्र लक्ष्य होना चाहिये—जीवन-जागरण, आत्म-उत्थान।

अणुव्रती आगामी वर्ष के लिये अपनी समस्त आत्म-शक्ति को बटोर कर अणुव्रती बनें और क्रमशः आगे बढ़ें। जो अणुव्रती नहीं हैं वे अणुव्रतियों के जीवन को देखकर अणुव्रती बनें।

कई लोग कहते हैं कि अणुव्रतियों के सामने बहुत कठिनाइयाँ हैं पर मैं तो समझता हूँ कि जो ज्यादा खुले हैं उनके सामने अधिक कठिनाइयाँ हैं। कल ही एक

भाई ने बताया—कुछ समय पूर्व हमने देखा कि जो अणुव्रती नहीं थे उन्होंने आर्थिक लाभ काफी उठाया पर कुछ ही समय बाद जब हमने उसकी दुर्गति होते देखी तो व्रतों का पूर्णरूपेण फल मालूम हुआ। ऐसी अनेक परिस्थितियाँ अणुव्रतियों के सामने आती हैं पर आगे चलकर उनका मार्ग प्रशस्त हो जाता है। उनके अनुभव सुनकर मुझे लगा कि उनका जीवन उठ रहा है—वे आत्म-दर्शन की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

बंबई,
२० *अक्टूबर '५४*

१४२ : आत्म-विकास और लोक-जागरण

कुछ दिन ऐसे होते है जब कि चालू व्यवस्था कुछ उलट-पुलट सी हो जाया करती है। सदा का वक्ता मैं आज श्रोता के रूप मे हूं। सुनना भी वह जिसे सुनने की मुझे कोई अभिरुचि नहीं। मेरी तो रुचि नहीं, पर लोगों की अत्यन्त अभिरुचि है; वे बोलने को हृदय से उत्सुक हैं और यही कारण है कि अपने यहाँ जन्म-दिवस मनाने की कोई परम्परा न होते हुए भी उनके भक्तिपूर्ण उल्लास ने समारोह का रूप-सा ले लिया है। आप सबको मालूम ही है कि अपने यहाँ तो कोई भी दिन मनाया जाय, उसका एकमात्र लक्ष्य है—आत्म-जागरण की प्रेरणा लेना और जीवन-विकास के पथ पर आगे बढ़ना। मेरी दृष्टि मे उत्साह एवं उल्लास की सफलता इसीमें है कि वे अपने जीवन को त्याग व सयम की साधना मे आगे बढ़ायें।

मुझे याद नहीं कि कार्त्तिक शुक्ला २ को मेरा जन्म हुआ और न किसी को अपनी जन्म-तिथि याद ही रहती है। औरों की तरह मैं भी जानता हूँ कि यह मेरा जन्म दिवस है। किस व्यक्ति का कहाँ और कब जन्म हुआ, इसका क्या महत्त्व? महत्त्व तो जीवन का है, जीवन-साधना का है। जबसे आचार्य पद का उत्तरदायित्व मुझपर आया, अपने जीवन से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु को अत्यन्त सूक्ष्मता एवं बारीकी से परखने की वृत्ति बढ़ी क्योंकि मुझे उसे सफल बनाना है। अतः मेरा यह जन्म-दिवस मेरे लिये जीवन के सिंहावलोकन, आत्म-पर्यवेक्षण का दिन है। विगत जीवन की बहुत-सी स्मृतियाँ मुझे आज याद आती हैं पर मुझे तो आगे की मंजिल तय करनी है। बहुधा मैं सोचा करता हूँ—मुझे एकान्त में मौन साधना करनी चाहिये। जितना अवसर मिलता है, करता भी हूँ पर सब के उत्तरदायित्व को देखते

हुए जितनी मेरी इच्छा है, उतनी तो बन नहीं पाती। और भी मैं, आत्म-विकास और लोक-जागरण के लिये जो कुछ करता हूँ वह साधना का ही एक रूप है पर मौन साधना की ओर मेरा ज्यादा झुकाव रहता है। मैं उपस्थित भाई-बहनों से कहना चाहूंगा कि वे अपने जीवन को माजने व परिष्कृत करने की ओर अग्रसर हों, ताकि उनकी भक्ति, उत्साह व उल्लास की सच्ची सार्थकता हो सके।

कार्तिक, शुक्ला २

१४३ : अहिंसा की प्रयोगशाला

हिंसा और अहिंसा के बीच श्रेष्ठता का निर्णय हो चुका किन्तु कौन-सा मार्ग अपनाया जाय, यह निर्णय अभी नहीं हुआ है।

लोग जहाँ हिंसा से कतराते हैं वहाँ अहिंसा से भी भय खाते हैं। विश्वास बन रहा है—अहिंसा का मार्ग कठोर है। हिंसा सचमुच खतरनाक है पर उसका मार्ग सीधा है—ऐसी समझ बन रही है। इसीलिये एक अध्यात्म योगी ने कहा है :—

मूढ़ात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद्भयास्पदम्।
यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः॥

मूढ़ व्यक्ति हिंसा मे विश्वास करता है उसके लिये उससे बढ़कर कोई दूसरा खतरा नहीं। वह हिंसा से भय खाता है उसके बराबर दूसरा कोई अभय का स्थान नहीं।

हिंसा का आकर्षण इसलिये है कि उससे भोगवृत्ति पलती है। भोग छूटे तब रोग मिटे। भोग सामग्री सापेक्ष है, सामग्री परिग्रह सापेक्ष और परिग्रह हिंसा सापेक्ष। लोग न तो भोग छोड़ना चाहते हैं और न परिग्रह, केवल हिंसा छोड़ना चाहते हैं किन्तु उन दोनों के छूटे विना हिंसा छूटती नहीं, तब अहिंसा का मार्ग कठोर लगता है। अहिंसक को विलास, ऐश्वर्य और सामग्री सापेक्ष बड़प्पन का मोह त्यागना ही होगा। अहिंसा में सहज-आनन्द है पर जब तक बाहरी विकार बना रहता है तब तक उसकी अनुभूति नहीं हो सकती। विकार व्यक्ति को व्यामोह मे डालता है और उसके मौलिक आनन्द को दबाये रहता है। अहिंसा मन, वाणी और देह की निर्विकार स्थिति है। इसके लिये बाहरी पदार्थों की सीमा अत्यन्त अपेक्षित है। बाहरी पदार्थ ममकार पैदा करते हैं और ममकार विकार पैदा करता है। केवल तर्क-

वाद पर चलनेवाले पदार्थ-वृद्धि को सुख का साधन बताते हैं पर अनुभव ऐसा नहीं बताता। आवश्यकता की निस्सीमता घोर अपवित्रता लाती है, इसे जो नहीं सोच सकते वे विश्वास मानकर चलें और जो सोच सकते हैं वे अनुभव की कसौटी पर कसकर देखें। पदार्थ की मर्यादा से कैसा आनन्द मिलता है, इसका प्रयोग कर देखें। ऐसा प्रयोग चले और आगे बढ़े तो अहिंसा बहुत फल ला सकती है।

अहिंसा-दिवस मनाने की सफलता इसमें ही है कि लोक-जीवन अहिंसा की प्रयोगशाला बने।

१४४ : मानव-धर्म का आचरण

धन भारतीय जीवन का आदर्श कभी नहीं रहा है और न यहाँ धन की प्रतिष्ठा ही रही। प्रतिष्ठा का मुख्य आधार रहा है—त्याग, सयम और चारित्र। भारत के मस्तक को जिन तत्त्वों ने ऊँचा रखा था वे तत्त्व ये ही हैं। यहाँ के ऋषि-महर्षियों मे साधना से प्राप्त वह आत्म-ओज और आत्मबल था जो पूँजीपतियों को स्वप्न मे भी सुलभ न था। विदेशी व्यक्ति यहाँ पर त्याग, संयम और सदाचार की शिक्षा लेने आते थे और उसे पाकर अपने जीवन को सफल समझते थे। आज मुझे यह कहते हुये खेद होता है कि भारतीय नागरिक अपनी उस मूल सम्पत्ति को भूले जा रहे हैं। यह एक बहुत अनिष्ट प्रसंग है। मैं भारतीय नागरिको से कहना चाहूँगा कि वे अपनी उस त्याग और सयम-मूलक संस्कृति को सजीव बनाये रखें। वह उनकी मूल सम्पत्ति है। उनका सबसे बड़ा कर्त्तव्य आज यही है कि वे उसका संरक्षण करें।

वर्तमान युग के मानव ने अगर किसी चीज को खोया तो वह है उसकी नैतिकता। उसने अपनी मानवता को खोया है और अपनी त्याग-मूलक सास्कृतिक परम्परा को खोया है। उस पतन-मूलक दिशाहीन प्रवाह से बचा कर उसे जीवन के विकास पथ पर लगाना आज अत्यन्त आवश्यक है और वह मानव-धर्म के आचरण से ही सम्भव है। मानव-धर्म का मतलब यही है कि मानव में सत्य, प्रामाणिकता, ईमानदारी, सन्तोष आदि गुणों का समावेश हो। यह भी जरूरी है कि आज जो लोग धर्म की ओर से विमुख और श्रद्धाहीन होते जा रहे हैं, उन्हे धर्म की ओर अग्रसर किया जाय। धर्म जीवन की आवश्यकता का पक्ष है, उपेक्षा का नहीं। उसके अभाव में जीवन वास्तव में जीवन नहीं कहला सकता। धर्म जीवन में सरसता, शान्ति

और सन्तोष लाने का एक अमोघ साधन है। उसकी जितनी भी उपासना की जायगी, उसका फल उतना ही उत्तम होगा।

जो लोग देश के अनीतिमय वातावरण को सुधारकर उसमें नैतिक और धार्मिक भावना का प्रसार करना चाहते हैं, उनपर इस समय यह विशेष जिम्मेदारी है कि वे स्वयं सुधरते हुये जनता को उस ओर लगायें। धर्म के प्रति दृढ निष्ठा ही इसकी सफलता का मूलभूत आधार है। उन्हें उसे मजबूत बनाना है तभी इस कार्य में उन्हे सफलता मिल सकती है।

बंबई,
६ नवम्बर '५४

१४५ : शान्ति की खोज

चारों ओर शान्ति की पुकार है पर शान्ति का मार्ग नही मिल रहा है, क्योंकि जहाँ पर शान्ति की खोज है, वहाँ पर शान्ति नहीं है और जहाँ पर शान्ति है, वहाँ शान्ति पाने के लिये खोज नहीं हो रही है। शान्ति मिले भी तो कैसे? व्यामोह जैसा कुछ हो रहा है।

जीवन का लक्ष्य आनन्द है। आनन्द शान्ति के बिना मिलता नहीं। हृदय में अशान्ति है तो आनन्द की कल्पना ही कहाँ? भारतीय विचारधारा में शान्ति का मार्ग अभय है, अहिंसा है। अभय का सम्बन्ध सिर्फ अपने से ही नहीं है। जो स्वयं अभय बनना चाहता है उसे दूसरे को भी अभय करना होगा। दूसरे की शान्ति लूटकर अगर कोई स्वयं शान्ति पाना चाहता है तो वह शान्ति टिकती नहीं।

शान्ति के लिये अनेक राष्ट्र अनेक तरह के संहारक और प्रलयंकारी अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण कर रहे हैं। आखिर वे भी शान्ति और रक्षा के लिये बताये जाते हैं। संहारक शस्त्रों से शान्ति की कल्पना सर्वथा निरर्थक है। हिंसा से हिंसा और अशान्ति-पूर्ण साधनों से अशान्ति मिटती नहीं। शान्ति के लिये जो अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण करते हैं, उनके ऐसे कहने को क्या कोई दूसरा मानने को तैयार होगा? सब राष्ट्र भयभीत हैं। दूसरों की शस्त्रों की तैयारी से अपने अस्तित्व के रहने में सन्देह कर रहे हैं। यही सन्देह जो नहीं चाह रहे हैं, उन्हें भी शस्त्र-निर्माण के लिये बाध्य कर रहा है और वे भी इस तरह अशान्त में पड़ रहे हैं। अशान्ति के व्यापक बनने मे इसी

तरह के कारण प्रमुख हैं। जब तक यह सन्देह की भावना नहीं मिटेगी तब तक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण कम नहीं हो सकता, शान्ति तो और भी दूर है।

शान्ति के लिये अगर निम्नलिखित तत्त्वों पर ध्यान दिया जाय तो शान्ति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है :—

१—सब के साथ समानता की दृष्टि हो।

२—घृणा की भावना का त्याग हो।

३—पर अधिकार हरण की भावना का त्याग हो।

४—जाति, वर्ग, लिंग, वर्ण और अर्थ-भेद के आधार पर ऊंच-नीच की भावना मिटे।

५—मूल्यांकन की दृष्टि में परिवर्तन आये।

६—त्याग-भावना को प्रश्रय दिया जाय।

७—संग्रह और शोषण की भावना मिटे।

अगर इन सूत्रों पर ध्यान दिया जाय तो विश्व-मैत्री और विश्व-शान्ति की भावना काफी सबल हो सकती है।

बंबई,

७ नवम्बर '५४

१४६ : जीवन में अहिंसा

संसार में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं होगा जो दुःखी बनना चाहे फिर अपनी ओर से किसी को दुःख देना कहाँ तक उचित है, व्यक्ति जरा विवेक से सोचे। किसी के प्रति दुर्भावना करना, किसी का जी दुखाना भी हिंसा है। अहिंसानिष्ठ व्यक्ति को इससे बचने के लिये भी सजग रहना चाहिये। आज स्थिति ऐसी बन गई है कि व्यक्ति में दिखावा अधिक रह गया है, असलियत कम। पर अहिंसा जैसे धर्म-तत्त्व दिखाने से पोषण नहीं पाते, उनके लिये व्यक्ति को अपनी आत्मा झोंकनी होगी, दृढ़निष्ठा के साथ उनका प्रतिपालन करना होगा। अणुव्रत-आन्दोलन का लक्ष्य यह है—मानव के व्यावहारिक जीवन में अहिंसा, सत्य-निष्ठा, संयम-वृत्ति, सन्तुष्टि-भावना, सादगी आदि सद्गुणों का समावेश हो, जिससे मानव सही माने में मानव कहलाने योग्य हो सके। यह हर्ष का विषय है कि अणुव्रत-आन्दोलन की ओर दिन पर दिन जन-मानस खिंचता जा रहा है। लोग अधिक से अधिक उसमें रस लेते जा रहे हैं।

अहिंसा दिवस जो अणुव्रत-आन्दोलन की अहिंसा-मूलक भावना का प्रतीक है, उत्तरोत्तर प्रसार पाता जा रहा है। यह अहिंसा-विकास के भारी शुभ का परिचायक है। अहिंसा-दिवस के इस सांस्कृतिक अवसर पर मैं व्यापारियों, मजदूरों, किसानों, धार्मिक, राजनैतिक व सामाजिक क्षेत्र के कार्य-कर्ताओं, जन-नेताओं आदि सभी से अपील करूँगा कि वे जहाँ तक बन सके, अपने जीवन को अहिंसा के साँचे में ढालने का प्रयास करें।

बंबई,
७ नवम्बर '५४

१४७ : सबसे बड़ी पूँजी

भारत के पास जो सबसे बड़ी पूँजी है वह है नीति और चारित्र की। सिक्के की पूँजी यहाँ जीवन का साधन-मात्र रही है, साध्य रहा है—सन्तोष और शान्ति।

भारतीय नीति और चारित्र के प्रधान अंग हैं—अभय, अनाक्रमण, अहिंसा या मैत्री, सत्य, प्रामाणिकता, सात्त्विकता, आहार-शुद्धि या मादक वस्तु-वर्जन और सादगी। सपनों की दुनिया मे जीकर भी जो सपनो का नहीं बनता वही वास्तविक व्यक्ति है। विलास की जिन्दगी बिताने वाले कभी वास्तविक शान्ति को छू भी नहीं सकते। गरीबी जो स्वयं बुरी स्थिति है, अमीरी जो अच्छी स्थिति नहीं है, इन दोनों से परे जो त्याग या संयम है, इच्छाओं और वासनाओं की विजय है वही भारतीय जीवन का मौलिक स्वरूप है और इसीने भारत को सब देशों का सिरमौर बनने का अवसर दिया था।

आवश्यकताओं को बढ़ाने की बातें सुनने में मीठी लगती हैं किन्तु उन्हें बढ़ाने वाले आज कितने असन्तुष्ट और अशान्त हैं यह कौन नहीं जानता? भारतीय सूत्र हैं—आवश्यकताओं को कमी करो। इससे जीवन-शक्तियों का विकास होता है। जीवन-विकास को ही दबानेवाला पदार्थ-विकास हमें नहीं चाहिये।

चारों ओर राष्ट्रों के कर्णधार शान्ति की चर्चा करते हैं किन्तु शान्ति का मार्ग मन की शुद्धि मे है, आत्मा के संयम में है, चारित्र के विकास में है। कार्य अशान्ति के चलें और प्रार्थना शान्ति की की जाय, इससे शान्ति नहीं मिलती। शान्ति चाहते सब हैं किन्तु दिशा मोह जैसा कुछ हो रहा है। इसलिये अधिकांश लोग उसका मार्ग नहीं पा रहे हैं। सामाजिक विकास को मुख्य माननेवालों को व्यक्ति-विकास

की स्थिति अतीत की पुनरावृत्ति-सी लगेगी, अणुबम की छाया में पलनेवालों को अणुव्रतो की साधना कठोर लगेगी किन्तु ये दोनों ऐसे सत्य हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। भारतीय व्यक्ति जिन्हें परम्परा के रूप में आध्यात्मिक मार्ग मिला है, यदि चारित्र-विकास की स्थिति को विकसित करेंगे तो दूसरों को भी उनकी महान् परम्परा से लाभान्वित होने का अवसर मिलेगा—ऐसा मेरा विश्वास है।

१४८ : जीवन की सार्थकता

धर्म की जिस पुनीत भावना में आप सब ओत-प्रोत रहे हैं, हमारे जाने के पश्चात् कहीं उसे भुला न दें। धर्म का जीवन के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध है, उसे जीवन के हर पहलू में, हर कार्य मे पाला जाना चाहिये। मैं उम्मीद करूँगा—जैसा उत्साह इस चातुर्मासिक प्रवास में आपका रहा वह आगे घटेगा नहीं, प्रत्युत बढ़ेगा।

एक बहुत प्राचीन काल की घटना है - श्रमण केशिकुमार ने प्रदेशी राजा को अपने उपदेशों द्वारा नास्तिकता से आस्तिकता की ओर लाने के बाद सदेश देते हुए कहा था—राजन् ईख के पक्के खेतो मे कैसा सुखद और उल्लासपूर्ण वातावरण होता है। लोग आते हैं, रसास्वादन करते हैं, खुशियॉ मनाते है पर जब ईख पेर लिये जाते हैं उनका गुड़ के रूप मे परिवर्तन हो जाता है तब जरा उस खेत की दशा तो देखिये—वहाँ मक्खियाँ भिनभिनाती हैं, रूखे और नीरस डठल खड़े रहते हैं, वहाँ कोई आता नही। लोगो की अठखेलियों से भरा पूरा वह खेत सुनसान बन जाता है। कहीं ऐसा ही यहाँ भी न हो कि हमारे जाने के बाद तुम्हारी यह आत्मोत्कर्षमयी धर्म-भावना उसी तरह सूनी हो जाय। मैं आप लोगो को इस घटना का स्मरण कराता हुआ कहना चाहूँगा कि आपको धर्म के प्रति नीरस और नीरुचि नहीं बनना है। धर्म-पथ पर आत्मबल और साहस के साथ उत्तरोत्तर आगे बढ़ना है। इसीमें जीवन की सार्थकता है।

बंबई,
११ नवम्बर '५४

१४६ : संस्कृति का सर्वोच्च पक्ष

जीवन का रहस्य समझने के लिये तर्क की अपेक्षा अपनी अनुभूति अधिक आवश्यक है। अपनी अनुभूति मन की एकाग्रता से मिलती है। मन की एकाग्रता या स्थिरता चंचलता की निवृत्ति से होती है। आज की दुनियां में प्रवृत्तियों का बोलबाला है। मनुष्य यान्त्रिक जीवन जी रहे हैं। भोग-सामग्री की स्पर्धा चल रही है। अधिक भोग और अधिक आकांक्षायें, अधिक साधन और अधिक हिंसा, अधिक भय और अधिक अशान्ति—इस प्रकार जीवन की सूई घूम रही है।

कभी सशस्त्र युद्ध चलता है और कभी शीत युद्ध। लड़ाइयों से जनता उकता गई है। जन-धन की अपार क्षति से जीवन का ढाँचा भी लड़खड़ा गया है ; फिर भी आपस में आशंका, अविश्वास और भय बना हुआ है। इसलिये ऊपर से शान्ति और निःशस्त्रीकरण की चर्चायें चलती हैं पर अन्दर-ही-अन्दर नये घातक अस्त्रों का निर्माण चलता है। शक्ति की स्पर्धा से क्या शान्ति होगी? कभी नहीं। शान्ति का मार्ग है—अपने अधिकारो में सन्तोष करना, दूसरों के अधिकारों को हड़पना और सहिष्णुता रखना। लोग दूसरों को और उनके अधिकारों को सहन नहीं कर सकते इसलिये यह छीनाझपटी चल रही है। बलवान दुर्बल को खा जाय और अपनी शक्ति बढ़ा ले—इस हिंसा की नीति पर ही मनुष्य चले तो अशान्ति का अन्त कभी नहीं होगा। समूचा संसार हिंसा के परिणामों को भुगत चुका है। अब उसे जीवन की दिशा बदलनी चाहिये। राजनीति और अर्थशास्त्र के नियमो को सर्वोच्च मानकर चलना खतरे से खाली नहीं है। जब जीवन के नियमों की ओर दृष्टि जायेगी तब खतरा मिटेगा। जीवन का नियम है—अपने आप पर अपना नियन्त्रण। यह हो तो शान्ति की चर्चा करने की अपेक्षा ही न रहे।

पदार्थ जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक होते हैं किन्तु जब वे मात्रा से अधिक हो जाते हैं तब उनसे जीवन का सात्विक आनन्द दब जाता है। विकास में सुख का आभास मिलता है किन्तु थोड़े समय बाद ही वह व्यक्ति को अतृप्त, असन्तुष्ट और अशान्त बना डालता है इसलिये इस पर वैज्ञानिक दृष्टि डालनी आवश्यक है।

जीवन सादा रहे, जीविका के साधन सरल और विकार-वर्जित रहें, शोषण और अधिकार हरण की भावना मिटे, इसलिये अणुव्रत-आन्दोलन चल रहा है। इससे

जीवन के प्रति सही, निश्चित और स्थिर दृष्टिकोण बनता है। मानव के आन्तरिक गुणों को विकसित किये बिना युग विकास का न रहकर ह्रास का रह जायगा।

मजबूत संस्कृति की छत्र-छाया में पलनेवाली सभ्यता ही टिकाऊ बनती है। संस्कृति का सर्वोच्च पक्ष आन्तरिक विकास है। व्रतों की निष्ठा भी अन्तर की वृत्तियों से फलती है। मुझे आशा है व्रतमय अनुष्ठान उन सबके लिये, जो जीवन का मर्म समझने की चेष्टा में हैं, ग्राह्य होंगे।

१५० : जैन-बन्धुओं से

युग में नव जागरण आया है। जागृति के समय में भी कोई जागने की बात न करे तो यह जागता ही नहीं, जाग नहीं सकता। इस जागरण के युग में जैन-समाज में भी जागृति आई है। यह तो हम नहीं कह सकते कि जागृति ने सक्रिय रूप धारण किया है पर आई अवश्य है। फलस्वरूप जैन-एकता, जैन-दर्शन का प्रचार, इत्यादि प्रवृत्तियों की चर्चा चल रही है। फिर भी एक बात यहाँ आशंका पैदा किये हुये है कि इस समय में भी अगर जैन समाजों के आपसी सम्बन्ध कटुतापूर्ण रहेंगे तो वह उन प्रवृत्तियों का भविष्य अच्छा नहीं होगा। राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध जब अहिंसा और मैत्री के द्वारा जुड़ सकते हैं तो क्या जैन-समाज, जो इन तत्त्वों को अपनी देन होने का दावा करता है, आपस में सम्बन्ध स्थापित न कर लड़ाई-झगड़ा करेगा? हमारा प्रयास इसके लिये सदा से रहा है और आज भी है कि जैन-सम्प्रदायों के आपसी मनमुटाव दूर हों।

इसके लिये पहला कार्य होगा कि एक साम्प्रदायी दूसरे सम्प्रदाय के प्रति घृणात्मक तरीकों से छींटाकशी न करें। विचार-भेदों से तो कलह को अवकाश नहीं मिलता है पर वह मनोभेद और छींटाकशी से उभड़ जाता है। ऐसी स्थिति में समस्त जैन सम्प्रदायों का कर्त्तव्य है कि ऐसे घृणात्मक कार्य न करें और यदि कहीं हो तो उनको प्रोत्साहन और प्रश्रय न दें।

जैन भाइयों से मैं यह विशेष रूप से कहना चाहूँगा कि वे महान दर्शन का अध्ययन व अनुशीलन करें। इससे भी बढ़कर जो एक बात जोर देकर कहनी है वह यह है कि वे अपने आचरणों को सुधारें। केवल किसी दर्शन की महानता से हम महान् नहीं बन जायेंगे। आवश्यकता है कि उसके सिद्धान्तों को हम अपने

जीवन में उतारें अतः जैन-बन्धु राष्ट्र मे व्याप्त अनैतिक वृत्तियों से अपने को दूर रखते हुए अपने जीवन को ज्यादा से ज्यादा त्यागनिष्ठ बनावें।

बंबई,
२८ नवम्बर '५४

१५१ : मानव-जीवन की मूलपूँजी

मानव-समाज अशान्त और उद्विग्न बन रहा है। शान्ति का प्रश्न युग का सर्वाधिक मुख्य प्रश्न हो रहा है। रोटी और जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधनों का प्रश्न भी वैसा ही जटिल है। इन प्रश्नों की भी सर्वथा उपेक्षा तो नहीं की जा सकती पर जीवन में चारित्र-गिरावट का जो प्रश्न है वह उन सबमे गम्भीर प्रश्न है। मानव-समाज अपने हाथों से क्या करने जा रहा है यह कुछ कहते नही बनता। चारित्र मानव-जीवन की मूलपूँजी है। अगर व्यक्ति ने उसे ही खो दिया तो कहना होगा कि उसने अपना सर्वस्व ही खो दिया। भारतीय नागरिकों को जो चारित्र और सदाचार की बहुमूल्य पैतृक सम्पत्ति मिली है उन्हें उसका संरक्षण करना चाहिये। उसकी उपेक्षा अपने जीवन की उपेक्षा के समान है जिसे पूरा करने से ही वे मानव-समाज मे जीने के लायक हो सकेंगे।

कुर्ला,
७ दिसम्बर '५४

१५२ : सफलता के साधन

खाने-पीने, उठने-बैठने और सुख-दुःख का अनुभूति करनेवाले सभी जीते है पर सबका जीना सफल नहीं कहा जा सकता। सफलता की परिभाषा सबकी एक नहीं होती। जो जिस चीज की कामना करता है वह उसे मिल जाय—व्यक्ति इसीको सफलता मान बैठता है। पूँजी के इच्छुक, परिवार की सम्पन्नता के इच्छुक और भोग-परिभोग के इच्छुक व्यक्तियों को वे मिल जायँ तो सफलता की इतिश्री वहीं पर हो जाती है। उसका चिंतन आगे बढ़ने की दिशा में नहीं रहता। भारतीय विचारधारा में जीवन की सफलता और सम्पन्नता का आधार भौतिक पदार्थों का विकास नहीं है। सूक्ष्म विचार से देखें तो जब तक आत्मा का विकास नहीं होता, जीवन मे सदाचार और संयम नहीं आता, तब तक जीवन की सफलता नहीं है।

भौतिक पदार्थों की बहुलता ही अगर जीवन की सफलता होती तो न कोई संयम मार्ग को अपनाता और न कोई संयमी को मस्तक नवाता। भौतिक सुख-सुविधाओं में पलने वालों को जब उनमें सुख-शान्ति का भान नहीं हुआ तब वे त्याग-मार्ग की ओर झुके। वास्तव में सुख और शान्ति का मार्ग त्याग ही है। उसके अभाव में जो जीवन बिता रहे हैं उनके मुँह पर आज भी शान्ति की चर्चायें और योजनायें तो हैं, किन्तु इसे एक अकाट्य सिद्धान्त मानना होगा कि त्याग के बिना सुख और शान्ति का कोई मार्ग नहीं है।

भौतिक जीवन में पलने वालों को भोग-विलास को छोड़ त्यागी बनने की बातें सुनने में अटपटी जैसी लगेंगी किन्तु कौन नहीं जानता कि त्याग के मार्ग की उपेक्षा ने व्यक्ति को कितना अशान्त और उद्विग्न बना दिया है। व्यक्ति चाहे कितना ही भौतिक सुख-सुविधा-सम्पन्न हो जाय, सुख वहाँ नहीं है, शान्ति वहाँ नहीं है। उसे केवल सुख पाने की भ्रान्ति है जो उसे विलास का पल्ला छोड़ने नहीं देती। इस भ्रान्ति को मिटा त्याग के पथ पर विश्वास जमाने की आवश्यकता है। अगर व्यक्ति विश्वास जमाकर सदाचार और संयम में प्रवृत्त होगा तो अवश्य ही उसके जीवन की सफलता और सार्थकता होगी।

कुर्ला, (बंबई)
७ दिसम्बर '५४

१५३ : प्रकृति बनाम विकृति

प्रकृति को छोड़ विकृति में जाना दुःख का हेतु है, अधर्म है। पशु और पक्षी-समाज से भी ज्यादा मनुष्य-समाज रोगों का शिकार है। कारण यही है कि पशु-पक्षी-समाज आज भी अपनी प्रकृति के अनुकूल आचरण करता है और अपने आचरण में वह प्रकृति का उल्लंघन कभी नहीं करता। आचार, व्यवहार और स्वाभाविकता के उल्लंघन के कारण व्यक्ति दुःखी, अशान्त और क्लान्त है। मानव-समाज ने जब से मर्यादा का अतिक्रमण करना शुरू किया है तभी से रोग, दुःख और अशान्ति इत्यादि निरन्तर मनुष्य के चारों ओर घेरा डालते जा रहे हैं।

मानव-समाज विकारों को छोड़ आचार में आये, खान-पान और रहन-सहन की विकृतियों को सुधारे तभी वह इस महामारी से अपना पिण्ड छुड़ाकर सही अर्थ में मानव बन सकता है। रोग का मूल कारण पदार्थों की असीमित लोलुपता है। मर्यादा-

हानता के कारण पदार्थों के आकर्षण में मनुष्य बेसुध बना हुआ है । जीवन में मर्यादा का सूत्र आये । सुख और शान्ति के इच्छुक व्यक्तियों को इस तथ्य पर ध्यान देकर गहराई से मनन करने की आवश्यकता है ।

बंबई,
८ दिसम्बर '५४

१५४ : अहिंसा का आचरण

विश्व में हुए गत दो महायुद्धों और अणुबमों की स्पर्धा ने मानव-समाज को अपने भविष्य की ओर से सशंकित कर दिया है । अणुबमों का निर्माण और वैसे अस्त्र-शस्त्रों के लिये विश्व में चल रही प्रतियोगिता यदि ऐसी ही चलती रही तो मानव-जाति अपना अस्तित्व खो बैठेगी । आखिर इन अस्त्र-शस्त्रों की तैयारी का कारण क्या है ? रक्षा और शान्ति के लिये ही उनका निर्माण हो चुका है और मानव-समाज उनके परिणामो को भुगत चुका है । स्पष्ट है कि उनकी तैयारी के पीछे बड़ा बनने का और सब पर प्रभुत्व जमाने का मोह है । इतने पर भी उनकी अन्तरात्मा रो रही है । युद्धों द्वारा विध्वंस, मानव-जाति का विनाश और इतने पर भी अशान्ति । यह स्थिति उनके निर्माताओं और राष्ट्रों के नेतृवर्ग को पुनः यह समझने के लिये प्रेरित करती है कि युद्धों और शस्त्रास्त्रों के निर्माण से शान्ति नहीं होगी । अहिंसा क्या कर सकती है और हिंसा से कितना विनाश हो सकता है ? इन दो में से दूसरे प्रश्न का उत्तर तो मिल ही चुका है । अब केवल पहला प्रश्न बचा है जिसका विशेष रूप से उत्तर मांगा जा रहा है ।

अणुव्रत-आन्दोलन अहिंसात्मक है । वह और कुछ नहीं, सिर्फ निर्माण कर सकता है । विध्वंसात्मक शस्त्रों का नहीं किन्तु चारित्र और सदाचार का निर्माण कर सकता है जिसकी आज सबसे आवश्यकता है । विनाश की बेला अब बीत चकी है, शान्ति की माग है और इसका निश्चित सही समाधान अहिंसा का आचरण ही है । व्यक्ति अहिंसा के प्रति निष्ठावान बने, दूसरे शब्दों में व्यक्ति अपने प्रति निष्ठावान बने, इसके लिये अणुव्रत-आन्दोलन चल रहा है । मैं राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक से यह कहना चाहूंगा कि वह अणुव्रत-आन्दोलन में शरीक हो और अपने जीवन से यह दिखा दे कि अहिंसामय जीवन से मानव-जीवन में विकास की कितनी

सम्भावनायें अन्तर्निहित हैं और वह वैयक्तिक जीवन तथा समाज के वातावरण को कितना समुज्ज्वल बना सकता है।

बंबई,
९ दिसम्बर '५४

१५५ : मानव-जीवन की सफलता

मानव संसार के अन्य प्राणियों की तुलना में उत्कृष्ट माना जाता है, क्योंकि दूसरे जीवों की अपेक्षा अधिक विकसित विवेक उसने पाया है अतः उसके जीवन की उपयोगिता इसीमें है कि वह अपने विवेक का सदुपयोग करे। वस्तु-तत्त्व को यथार्थ रूप में जाने, जानकर उसे जीवन में उतारे। पर खेद है, मानव इस तत्त्व को भूल-सा गया है। केवल ऐहिक सुखोपलब्धि के लिये वह इस कदर पिल पड़ता है कि आत्मत्व के प्रति उसकी निगाह तक नहीं जाती। आज के मानव की अर्थलोलुप-वृत्ति को देखें तो पता चलेगा कि धन-लुब्धता में फँस कर वह अपने पुत्र-पुत्रियों तक को बेंचते हुए भी नहीं सकुचाता। जीवन-व्यवहार के अन्यान्य क्षेत्रों में भी वह गिरावट की तरफ ही जा रहा है। मांस और मद्य जैसे अभक्ष्य और अपेय पदार्थों के सेवन मे उसकी आसक्ति बढ़ती जा रहा है। सच है—विवेक-भ्रष्ट होने पर मनुष्य का यह शतमुखी पतन होता है। मानव अपनी ओर निहारे, अन्तरतम का पर्यवेक्षण करे, अर्थ-लोलुपता, अशुद्ध खान-पान, अनैतिक व्यवहार आदि दुष्प्रवृत्तियों से मुँह मोड़कर जीवन-परिष्कृति मे लगे और त्याग, संयम, समता, संतोष, आत्म-तृप्ति आदि का संग्रहण करे। इसीमें मानव-जीवन की सफलता है।

कुर्ला,
१२ दिसम्बर' ५४

१५६ : व्यापारियों से

लोगों की मनोवृत्ति आज कुछ ऐसी बन गई है कि उनका न्याय, नीति और सच्चर्या की सार्थकता के प्रति विश्वास डगमगाता-सा जा रहा है। व्यापारियों मे भी यह भ्रम घर कर गया दीखता है कि ईमानदारी और सचाई से व्यापार चल ही नहीं सकता, जब कि आज समग्र लोक-जीवन बेईमानी और अनीति से अभिभूत है। इसलिये मैं जोर देकर कहता हूँ कि यह केवल उनका भ्रम है। दृढ़ता के साथ इस भ्रम को निकाल फेंकना ही इसका एकमात्र उपाय है।

कुछ दूकानदार अपनी दूकानों पर सूचनाएँ टाँगते हैं कि उनके यहाँ माल में मिलावट नहीं की जाती, व्यवसाय में सच्चाई बरती जाती है, पर यह सब क्यों ! यदि ईमानदारी और सचाई से व्यापार चलने के प्रति उन्हें निष्ठा नहीं है तो वे ऐसा क्यों करते हैं ? उनकी यह प्रवृत्ति स्पष्ट बताती है कि वे मन में तो यही मानते हैं कि पारस्परिक विश्वास सचाई पर आश्रित है। विश्वास आपसी व्यवहार का मूल है। लोगों से मेरा यही कहना है कि आप अपने मन में यह जमा लीजिये कि आपको अपने व्यवसाय में अधिकाधिक सचाई, नीति, न्याय और ईमानदारी का उपयोग करना है। ये जीवन-शोधन के साधन तो हैं ही, साथ ही जनता में आपके प्रति विश्वास व सद्भाव भी ये पैदा करेंगे। मैं कतिपय ऐसे व्यापारी भाइयों को जानता हूँ, जिन्होंने अणुव्रत-नियम ग्रहण करने के बाद यह अनुभव किया कि उनके प्रति लोगों के मन में अधिकाधिक विश्वास जमता जा रहा है और उनकी साख दिन-पर-दिन मजबूत होती जा रही है।

युग बदल रहा है, सामाजिक और आर्थिक परम्पराओं में एक क्रांति मच रही है। दिन-पर-दिन नये-नये कर लगते जा रहे हैं। शायद अब पूँजीवादी परम्परा अपने स्वरूप को अक्षुण्ण नहीं रख सके। यह टिक नहीं सकती। ऐसे प्रतिकूल वातावरण को देखते हुए भी यदि व्यापारी नहीं बदले तो उनकी इससे बड़ी भूल क्या होगी ? युग का प्रवाह किसीके रोके नहीं रुकता, तो क्या व्यापारी उससे अछूते रह पायेंगे। मैं फिर दोहराऊँगा कि व्यापारी-बन्धु लोभ और तृष्णा को संयत करते हुए सत्य, सद्आचारण और नैतिकता के प्रति निष्ठाशील बनें, जीवन व्यवहार में इनका उपयोग करें।

कुर्ला,
१६ दिसम्बर '५४

१५७ : पावन-पाथेय

यद्यपि साधक प्रत्यक्ष में तो वीतराग भगवान् की उपासना करता है, परन्तु प्रकारान्तर से वह अपनी आत्मा की ही उपासना है। उपासना से उसकी आत्मा में वीतरागता पनपती है, विकसित होती है, प्रगाढ़ बनती है। इस दृष्टि से वीतराग-पूजा साधक के लिये परम आधार है, और इहलोक-परलोक दोनों के लिये पावन पाथेय है।

जैन-दर्शन आत्मवादी दर्शन है। आत्म-स्वरूप की प्राप्ति उसका लक्ष्य है। आत्म-गुण-उपासन, आत्मा पर लगे कर्मावरण का अपवर्तन उसके परिष्करण का साधन है। असत्प्रवृत्तियों से हटता-हटता साधक ज्यों-ज्यों सत्प्रवृत्तियों की ओर जाता है, त्यों-त्यों उसमें आत्म-उन्मुखता और पर-पराङ्मुखता आती जाती है। भगवत्प्रार्थना और आत्म-जागरूकता आत्म-उन्मुखता में साहाय्यभूत है। प्रार्थना का तात्पर्य है—बन्धनमुक्त, निर्विकार, वीतराग, मोक्षगत आत्मा के गुणों का संस्मरण-संस्तवन। इससे साधक आत्म-सम्मार्जन की प्रेरणा पाता है, 'स्व' की ओर मुड़ता है, वीतराग-भाव और निर्विकार वृत्ति की स्फुरणा उसमें आती है। आत्म-विकास की पगडंडी पर चलने वालों के लिए प्रार्थना एक पावन पाथेय है, संबल है। साधना में आगे बढ़ने में साधक के लिए यह एक सहारा है क्योंकि साधक का लक्ष्य भी तो वीतरागत्व प्राप्ति ही है। वीतराग उसका आदर्श है और वीतरागता साधन। वीतरागता के साधक द्वारा होनेवाली वीतराग-प्रार्थना, वीतरागोपासना, वीतराग-पूजा वीतरागता की प्राप्ति के लिये होनी चाहिए।

कुर्ला,
१६ दिसम्बर '५४

१५८ : युग और धर्म

आज उन लोगों की, जो बुद्धिवादी हैं, विज्ञान में विश्वास रखनेवाले हैं, धर्म के प्रति निष्ठा न्यूनातिन्यून होती जा रही है। शैक्षणिक और बौद्धिक क्षेत्र के विद्यार्थियों तथा नौजवानों को कोसा जाता है कि उनमें नास्तिकपन पनपता जा रहा है। पर गहराई से सोचिये—एकमात्र उनकी मनोवृत्ति ही इसका कारण नहीं है। हाँ, वे दूध के धोये हैं, सर्वथा निर्दोष हैं, ऐसी बात तो नहीं, पर साथ-ही-साथ धार्मिक लोगों को भी अपने अन्तरतम को टटोलना होगा, वे भी जरा गम्भीरता से अपने-आपमें डुबकी लगायें और देखें—कहीं उनमें ही तो धर्म के नाम पर जड़ता घर करती नहीं जा रही है। धर्म जो जुदे-जुदे व्यक्तियों को सुई की तरह मैत्री, सौजन्य और समता के धागे द्वारा जोड़ने का जरिया है, कहीं विद्वेष और विषमता के द्वारा कैंची की तरह कतर तो नहीं रहा है, व्यक्ति-व्यक्ति में अलगाव और पार्थक्य तो पैदा नहीं कर रहा है? यदि ऐसा है तो कहना होगा कि उसने केवल धर्म का बाना पहन रखा है, तत्वतः तो उसके अन्तस् में अधर्म अड्डा जमाये बैठा है।

यह स्पष्ट हो चुका है कि आज की शिक्षा-प्रणाली शिक्षार्थियों के लिये श्रेयस्कर नहीं है। यह मैं ही नहीं कहता हूँ—बल्कि इस विशाल राष्ट्र के बड़े-बड़े शासनविद् एवं शिक्षा-शास्त्री भी कह रहे हैं। शिक्षा जीवन का आधार जरूर है पर कलुषित व सड़ी-गली बुनियाद पर टिकनेवाली इमारत क्या कभी दृढ़ व सुन्दर हो सकती है? आज शिक्षा का माध्यम एकमात्र भौतिक विकास रह गया है। जीवन के अध्यात्म पक्ष का—जो सबसे अधिक आवश्यक और महत्त्वशाली पक्ष है, अवहेलना-सी होती जा रही है। परिमाणतः आज का शिक्षित मानस एक ही प्रवाह में बहा जा रहा है, जो जड़ता में सराबोर है। भारतीय जन-मानस की परम्परा, संस्कृति, जीवन-चर्या, व्यवहार-पद्धति, सब कुछ अध्यात्म-संवलित रही है तभी तो इसका अतीत विश्व के लिए आदरणीय था, समुद्र पार के लोगों को भी वह अपनी ओर खींचता था। आज वह अध्यात्म-परम्परा भुलाई जा रही है, फलतः भारत जैसा अमर संस्कृति व सभ्यता का देश भी अनीति और नास्तिकपन के बहाव में बिना रुके बहता चला जा रहा है। यदि इस पर रोक न लगाई गई तो यह बहाव उसे कहाँ ले जाकर छोड़ेगा वह कहने-सुनने की बात नहीं। इसके लिये सबसे अधिक आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा-प्रणाली में आध्यात्मिकता, नैतिकता, संयतता, सदाचारिता और शालीनता का समावेश हो। शिक्षार्थियों को केवल पुस्तकीय ज्ञान देकर ही शिक्षा की इतिकर्तव्यता नहीं मान लेनी चाहिये, मुख्य लक्ष्य तो उनके जीवन को संयमित, सुशासित, व्यवस्थित एवं नियमित बनाना है। ऐसा होने से ही शिक्षा की सार्थकता है।

धर्म-गुरुओं और धर्म-नेताओं को भी आज के इस करवट बदलते हुए युग को निहारना होगा। स्थितिपालकता और परम्परा के पोषण को छोड़ धर्म के जीवित चैतन्य का आज उन्हें मानव-मानव में संचार करना होगा ताकि अध्यात्म-ज्योति के वे सजीव स्फुलिंग बन सकें जो मानव की सुषुप्त चेतना में जीवन और जागरण भर सके। धर्माधिकारियों को आज अनिरुद्ध आगे बढ़ते हुए भौतिकवाद के खिलाफ प्रबल बगावत करनी होगी। लोगों को बताना होगा कि एक निश्चित अवधि के लिए मन्दिर, धर्म-स्थान व साधु-सम्पर्क में आने मात्र से ही उनकी धर्मोपासना की सफलता नहीं है उन्हें अपने दैनंदिन जीवन में सत्य, संतोष, ईमानदारी जैसे तत्त्वों को सन्निहित करना होगा, तभी उनकी धर्मोपासना की सच्ची सफलता है। भारत एक धार्मिक देश कहा जाता है पर कितनी विडम्बना आज उस धर्म की यहाँ हो रही है!

शोषण, अनाचार और कालाबाजार से धन संग्रह कर, किसी भूखे को रोटी का टुकड़ा दे दिया, प्यासे को पानी पिला दिया और मान बैठे कि कितना बड़ा पुण्य कमा लिया ! क्या इस तरह पुण्यार्जन के बहाने वे कहीं आत्म-विडम्बना तो नहीं कर रहे हैं ? राष्ट्र मे भिखमंगों की परम्परा को और ज्यादा मजबूत तो नहीं बना रहे हैं ? क्या एक आजाद देश के लिये यह शोभास्पद है कि वहाँ एक भाई तो ऐश-आराम और वैभव-विलास के साथ गुलछर्रे उड़ाये और दूसरा भाई उसके लिये बासी व सूखी रोटी के टुकड़े को चबा उसे पुण्यभागी बनाये ? चीन को आजाद हुये लम्बा समय नहीं गुजरा, वहाँ जाकर आने वाले लोग बताते हैं कि वहाँ एक भी भिखारी नहीं है। हमारे देश के तथाकथित पुण्यात्मा भाई इससे सिर धुनने लगे तो आश्चर्य नहीं कि वहाँ तो पुण्यार्जन का द्वार ही रुक गया। मैं उनसे कहूँगा—वे समझ लें—दुनिया उनके दान-पुण्य की भूखी नहीं है, उसे तो उनके शोषण और संग्रह पर रोष है। वे शोषण छोड़ें, असग्रह और अपरिग्रह को अधिकाधिक प्रश्रय दें तो भीख मागने जैसी स्थिति स्वयं ही निर्मूल हो जायगी। न कोई दानी और न कोई याचक ही रहेगा। सामाजिक जीवन मे वे रहते हैं, सामाजिक भाई को सामाजिक सम्बन्ध के नाते कुछ सहयोग दे देते हैं तो मेरी समझ मे नहीं आता वे कौन-सा बड़ा कार्य करते हैं ? धन तो समाज के सामूहिक प्रयास से पैदा होनेवाली वस्तु है, यदि एक सामाजिक भाई को कठिनाई में उसने इमदाद की तो ऐसा करनेवाले ने अपने सामाजिक कर्तव्य का ही तो पालन किया। इससे अधिक और क्या किया ? पर तथाकथित पुण्य के पर्दे के नीचे अपने शोषण को ढकने का प्रयास करनेवाले ऐसा क्यों समझें ? भूल क्यों जाते हैं, जमाना आज बहुत आगे बढ़ता जा रहा है इसलिए वे लोगों को भुलावे मे नहीं रख सकते। यदि वे चाहते हैं कि सब कोई शान्ति से रहे तो अपरिग्रह और अशोषण की वृत्ति के अतिरिक्त और कोई चारा ही नहीं है। यदि ऐसा होगा तो आज के युग और धर्म का एक सहज सुन्दर और सुखद समन्वय हो सकेगा।

घाटकोपर (बम्बई),
१९ दिसम्बर '५४

१५६ : सुखी समाज की रचना

व्यक्ति मन्दिर में गया, धर्म-स्थान में गया इसमें मानों उसमें मूर्तिमती धार्मिकता जाग पड़ी परन्तु ज्यों ही धर्म-स्थान को छोड़ बनिया दूकान में आया, दिमाग में से सब कुछ निकाल उसने केवल इतना ही रखा कि वह केवल एक व्यापारी है और पैदा करने के अलावा उसका दूसरा धर्म ही क्या हो सकता है ? धर्म-स्थान का उपास्य-भाव मानों कभी उसके दिमाग में रहा ही न हो—ऐसा हो गया। राज्य कर्मचारी अपने कार्यालय के बीच पहुँचा, वह क्यों याद करने लगा कि कर्मचारीपन की सारवत्ता इसीमें नहीं है कि रिश्वत द्वारा पैसा ऐंठा जाय या उसे अपना जन्मजात अधिकार समझ बैठे। इसी तरह आज का जन-जीवन विडम्बना में घुला जा रहा है। जीवन के सही मूल्यों के प्रति मानव में निष्ठा आज रह नहीं गई है। दिखावे के लिये, अपने को प्रतिष्ठित बनाये रखने के लिये शोषण और जुल्म से पैदा किये पैसे में से चन्द कौड़ियाँ भिखमंगों के बीच फेंक वह पुण्यात्मा और धार्मिक बनने का स्वांग रचता है। वह अपने अन्तरतम को नहीं टटोलता कि उसके जुल्मों की चक्की के नीचे पिसे हुई कितने शोषित जनों के निर्मम क्रन्दन की बुनियाद पर उसका यह तथाकथित दान-पुण्य टिका हुआ है। व्यक्ति शोषण को छोड़े, लालसाओं को संयमित करे, भोग को जीवन का लक्ष्य न मान त्याग के आदर्शों पर चले। उसके रोजमर्रा के काम और जीवन का दैनिक व्यवहार सचाई पर अधिष्ठित हो—अणुव्रत-आन्दोलन सिर्फ यही सिखाता है।

आन्दोलन के नियम अपेक्षा-भेद से छोटे भी कहे जा सकते हैं और बड़े भी। न्याय और नीति पर चलने वाले किसी कर्मचारी से कहा जाय कि आप रिश्वत मत लीजिये। सहसा वह कह उठेगा—मानव कहलाने वाले के लिये क्या यह भी कोई ग्राह्य वस्तु है ? इसी तरह एक ईमानदार व्यापारी से कहा जाय कि कालाबाजार मत करो, झूठा तौल-माप मत रखो तो क्या उसका मन घृणा से नहीं भर उठेगा कि क्या व्यापार में इतना कालुष्य सहन करने की बात है ? यदि ये ही बातें दूसरी तरफ उन लोगों से कहा जाय, जो येन-केन प्रकारेण न्याय-अन्याय, उचित-अनुचित सभी तरह से पैसा इकट्ठा करने के लिये कमर कसे बैठे हैं, तो वे फौरन कह उठेंगे—आज के युग में भला काले बाजार के बिना कहीं काम चल सकता है ? ऐसा न करें तो हम और हमारे घर वाले खायें क्या ? कर्मचारी कहेंगे—रिश्वत न लें तो सरकार

से मिलने वाले वेतन के सहारे हम और हमारे घर वाले फाँके न मरें ? अब जरा सोचिये—सरलता और कठिनता व्यक्ति के भावों पर है, उसकी दृढ़ता पर है। अतः मैं कहूँगा—परिस्थितियों और वातावरण की दुहाई न देते हुए व्यक्ति को आज अपनी मनोवृत्ति में दृढ़ता का समावेश करना होगा। हो सकता है, उसके मार्ग में कठिनाइयाँ आयें, असुविधायें आयें, पर आत्मबल और सत्यनिष्ठा के सहारे उनसे लड़ते हुए उसे अपने पथ पर बढ़ना होगा। अणुव्रत-आन्दोलन उसे मार्ग देगा—जीवन की दिशा दिखायेगा।

क्या मंत्रीगण, क्या राजकर्मचारी, क्या व्यापारी, क्या विद्यार्थी, क्या किसान व क्या मजदूर, सब इस आध्यात्मिकता व नैतिकता के राजमार्ग पर आयें, स्वयं आगे बढ़ें, दूसरों को आगे बढ़ने में सहयोग दें। तभी एक स्वस्थ व सयत समाज की निष्पत्ति होगी।

घाटकोपर (बंबई),
२५ दिसम्बर '५४

१६० : सादा जीवन : उच्च विचार

भारत के प्राचीन इतिहास को हम टटोलें तो पायेंगे कि यहाँ पूंजी और धन-सम्पदा का महत्त्व नहीं रहा, सत्ता और वैभव के सामने व्यक्ति कभी नहीं झुका, यदि वह झुका है तो योग, संयम और साधना के सम्मुख। भारतीय जन-मानस भी परिग्रह, पूँजी और वैभव की चकमक में इतना गुमराह हो गया है कि उसके अतिरिक्त उसे कुछ सूझ ही नहीं पड़ रहा है। पैसा की रट लगाता हुआ वह मानो अपने आपको भी भूलता जा रहा है। यह आत्म-पतन की पराकाष्ठा है। यदि इस मनोवृत्ति का परित्याग भारतीयों ने नहीं किया तो कुछ कहा नहीं जा सकता कि पतन के कितने गहरे गर्त में वे जा गिरेंगे। उन्हें यह समझ लेना है—धन जीवन का साध्य नहीं है, उसे अपना चरम ध्येय समझ सर्वतोभावेन उसके पीछे पड़ वे कितनी भारी भूल कर रहे हैं। जीवन का साध्य है—आत्मा का परिशोधन, वृत्तियों का परिष्करण, भावनाओं का समीकरण। यह तभी सम्भव होगा, जब जीवन में सादगी, सरलता, सात्विकता और सन्तोष का समावेश होगा।

आज का मानव कहता है कि उसने विकास किया है, तरह-तरह के यान, वाहन तथा अन्यान्य जीवनोपयोगी वस्तुयें उसने तैयार की है। पर गहराई से सोचें तो

पता चलेगा कि इस विकास की आड़ मे मानव ने क्या अपनी शक्तियों का ह्रास नहीं किया है ? ज्यों-ज्यों मानव प्रकृति से विकृति की ओर गया, त्यों-त्यों उसने अपनी शक्तियों से हाथ धोया। कुछ ही समय पहले की बात है, गाँव के किसान ४०-४० मील एक दिन मे पैदल चले जाते थे पर आज अगर दो ही मील जाना पड़ता है तो घंटों बस का इन्तजार करेंगे। इसी प्रकार जिधर देखें, इस तथाकथित विकास के पर्दे के पीछे ह्रास ही नजर आयेगा। सही बात तो यह है जीवन मे जितनी कृत्रिमता और बनावटीपन आयेगा, वह उतना ही बोझिल बनेगा। भले ही उसे हम विकास कहें पर वास्तव मे बोझिल जीवन कभी सुखी हो नहीं सकता। इसके अतिरिक्त आज व्यक्ति की मनोदशा भी विपरीत बनती जा रहा है। एक समय था—अहिंसा-वादी, सत्य-निष्ठ, निश्छल और ईमानदार व्यक्ति को निपुण माना जाता था, उसे होशियार कहा जाता था, पर आज होशियार वह माना जाता है जो दम्भचर्या, धोखा, छल और कपट करने मे निपुण हो, वह यह सब करे और किसी को मालूम तक न पड़ने दे, वही चतुर ! कितने खेद की बात है, व्यक्ति का मानस कितना ज्यादा गिर गया है ! अधर्म और बेईमानी की कसौटी पर वह निपुणता और होशियारी को परख रहा है। वह अपनी ओर निहारे, क्या इसीमे वह मानव-जीवन का सार देखता है ? वह क्यों नहीं सोचता, जिस धन और वैभव के लिये वह न्याय-अन्याय का जरा भी ध्यान न रखता हुआ रात-दिन कोल्हू के बैल की तरह जुटा रहता है, वह उसके साथ जाने वाला नहीं, यहीं पड़ा-का-पड़ा रह जायेगा। मेरा तो सबसे यही कहना है कि वे अपने जीवन मे अपरिग्रह, सन्तोष, अहिंसा और सत्यनिष्ठा आदि गुणों को प्रश्रय दें, जिससे सही माने मे उन्नत और विकसित बन सकें।

माण्डुप (बम्बई),
२६ दिसम्बर '५४

१६१ : जीवन-सुधार की योजना

लोगों का जीवन-व्यवहार आज बुराइयों और कलुषित वृत्तियों से दिन पर दिन विकृत बनता जा रहा है। स्वार्थ परायणता इतनी अधिक फैलती जा रही है कि अपने थोड़े से लाभ के लिये व्यक्ति दूसरे का बड़े से बड़ा नुकसान करने नहीं हिच-किचाता। लोग पैसे को जीवन का चरम लक्ष्य मान बैठे हैं जिसका नतीजा सामने है। संघर्ष, झगड़े, असन्तोष, पारस्परिक अविश्वास आदि से लोगों का जीवन दिन पर

दिन कलुषित हो रहा है, दुःखी व संत्रस्त हो रहा है। ईमानदारी, सचाई, नैतिकता आदि जो मानवता के सहज गुण हैं, आज मिटते जा रहे हैं। उनके स्थान पर बेईमानी, असत्य, अनैतिकता पनप रहे हैं। जीवन सत्वहीन और खोखला बनता जा रहा है।

लोक-जीवन से बुराइयाँ मिटें, मानव सही माने में मानव बने, सदाचरण, सद्वृत्ति उसके जीवन में आये—इस लक्ष्य को लेकर अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन किया गया। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह जिन्हें जैन-दर्शन में पाँच महाव्रत, योगदर्शन में पाँच यम और बौद्ध-दर्शन में शील के नाम से बताया गया है, उनके आधार पर जन-जीवन को छूने वाले छोटे-छोटे नियमों की रचना की गई। नियम बनाते समय समाज के विभिन्न वर्ग जैसे—व्यापारी, राज्य-कर्मचारी, वकील, अध्यापक, विद्यार्थी, आदि मद्देनजर रखे गये, उनके जीवन में जो बुराइयाँ आज घर करती जा रही हैं, उन्हें ध्यान में रखा गया, ताकि उन बुराइयों पर सीधी चोट हो सके और समाज के समस्त वर्गों में सद्वृत्तियों की लहर दौड़ सके।

जैसे व्यापारियों के लिये कालाबाजार, झूठा तोल-माप, असली के बदले में नकली वस्तु देना आदि का वर्जन है, राज्य-कर्मचारियों के लिये रिश्वत का निषेध है, उसी तरह वकीलों के लिये झूठा मुकदमा लेने का वर्जन है। वकील इसे अपना लें तो मैं तो समझता हूँ कि मुकदमेबाजी का रोग जिससे आज समाज का अंग-अंग जर्जरित है, बहुत कुछ दूर हो सकता है। समाज के व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध मैत्री-पूर्ण बन सकते हैं। इसी तरह समाज के अन्यान्य वर्गों के व्यक्ति भी अणुव्रत-नियमों को अपनायें तो उनके जीवन में बहुत बड़ा सुधार हो सकता है। आज का वातावरण प्रतिकूल है, ईमानदारी और नेकनीयती से काम कैसे चल सकता है—इस कथन को मैं बहाना समझता हूँ। यह आत्म-दुर्बलता की निशानी है। व्यक्ति यदि आत्म-निष्ठा और मनोयोग पूर्वक बुराइयों से बचने का दृढ़ संकल्प करले तो वातावरण और परिस्थितियाँ भी उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकती। हाँ सत्य के मार्ग पर चलनेवालों को कठिनाइयों का सामना अवश्य करना पड़ता है, पर सत्य के पथिक क्या कभी कठिनाइयों से घबराते हैं, उनकी परवाह करते हैं? मैं आशा करूँगा—आप लोग इस आन्दोलन के स्वरूप को समझें, इसके नियमों को जीवन में उतारने का प्रयास करें और दूसरे लोगों में इसे प्रसारित करने में सहयोगी बनें।

थाना (बंबई),
१९ दिसम्बर '५४

१६२ : सच्चा सुखी कौन ?

विज्ञान और राजनीति की बातें सुनने को आज का मानव बड़ा उत्सुक है, तत्पर है, पर धर्म और चारित्र की बातें सुनने के प्रति उसकी अभिरुचि क्षीण और क्षीणतर होती जा रहा है। ध्वंस की बातों में वह रस लेता है, निर्माण की बातें उसे अखरती-सी लगती हैं। इस मनोदशा को बदलना होगा। धर्म ध्वंस नहीं, निर्माण की दिशा देता है। निर्माण ही तो जीवन की सच्ची शक्ति, स्फूर्ति, सौन्दर्य और सौष्ठव है। कुछ लोग सोचते हैं—"व्यावहारिक जीवन में धर्म से हमें क्या मिलता है ? क्या वह हमें नई खुराक देता है ? जिससे जीवन क्षेत्र में आगे बढ़ने में हम ताजगी और स्फुरणा संजोज सकें ?" वे जरा गहराई से मनन करें—धर्म की आराधना, अनुसरण, अनुशीलन और अनुपालन से जीवन में जो शान्ति, आनन्द, उल्लास और आह्लाद मिलता है, वह न तो सम्राट्पन में है और न कुबेरपन में। संक्षेप में धर्म की व्याख्या है—आत्म-शुद्धि, जीवन की मंजावट, अन्तर्तम की सुसज्जा, जीवन-व्यवहार का शालीनपन। धर्म वह है जो सच्चा प्रेम सिखाता है। समता, मैत्री और शुद्ध स्नेह के धागे में सबको पिरोता है। वहाँ भेदभाव कैसा ? वह ऐक्य की पावन सुरसरी है। जो धर्म मानव-मानव को परस्पर लड़ाता है, विद्वेष और वैमनस्य फैलाता है, उसे धर्म कौन कहेगा ? वह मूर्तिमान पाप है, अधर्म है, अन्याय है। किस बेहूदे आदमी ने उसका नाम 'धर्म' रख दिया ? वह तो धर्म की विडम्बना है, उसके नाम पर कलंक का काला टीका है। जो व्यक्ति धर्म के नाम पर शोषण करते हैं, लोगों का खून चूसते हैं, अपनी जेबें भरते हैं, विद्रोह और घृणा का वातावरण फैलाते हैं, वे धर्म को कलंकित करने वाले हैं, गद्दार हैं। युग उन्हें चुनौती दे रहा है। वे इस सत्य को समझें, आत्म-आलोड़न करें। इस अधर्म के जामे को उतार फेंकें और धर्म की सच्ची आराधना करें। उस आराधना का स्वरूप होगा—जीवन में त्याग भावना की अभिवृद्धि, समता का संचार, सौहार्द्र की उत्पत्ति, मैत्री-भावना का विकास, जीवन-व्यवहार का परिशोध।

भगवान् महावीर ने जगत को अहिंसा का महत्त्वपूर्ण पाठ पढ़ाया। बाह्य उत्पीड़न और ताड़ना कोई किसी की न करे—यह तो उन्होंने कहा ही, किसी के मनोभावों को भी चोट न पहुँचाई जाय, क्लेश पैदा न किया जाय, यह भी उनकी शिक्षा थी। अहिंसा का जो सूक्ष्म विवेचन उन्होंने किया, वह वास्तव में अनूठा है।

अपरिग्रह की बहुत बड़ी देन भगवान् महावीर ने दी। पर खेद का विषय यह है कि आज जो जैन भगवान् महावीर के अनुयायी कहे जाते हैं, जब उनके जीवन में आन्तरिक कलह, आपसी झगड़े, एक दूसरे को नीचे गिराने की कलुषित प्रवृत्तियाँ, मिथ्यारोपण आदि जब देखने में आते हैं तब ऐसा लगता है कि वे अपने उपास्यदेव के सिद्धान्तों का कितना उपहास कर रहे हैं! पानी छानकर पीने, अष्टमी और चतुर्दशी को हरी-वनस्पति न खाने तक ही उन्होंने आज अहिंसा का सीमाकरण कर लिया है। मनुष्यों का खून चूसते, उन्हें लूटते, दूसरों की हत्या करते उनके सिर पर जूं नहीं रेंगती! क्या यही अहिंसा उन्होंने भगवान् महावीर से सीखी? भगवान् महावीर ने परिग्रह को बन्धन कहा, धन को आत्म-तृप्ति का बाधक बताया, पर खेद है, अपने को इस अपरिग्रह के आदर्श के अनुगामी कहने वाले जैन भी कालाबाजार जैसे पातकी कृत्यों से नहीं बचते! क्या उनके गौरव भरे इतिहास की यह मखौल नहीं है? जब मैं कभी-कभी अजैन लोगों से यह सुनता हूँ कि पहले जैन कहे जाने वाले व्यक्तियों को तो आप सुधारिये तो मुझे मन-ही-मन खेद होता है। मैं जैन भाइयों से कहूँगा—वे सोचें, समझें और अब भी चेतें। सकीर्ण, स्वार्थी और संकीर्ण मनोवृत्ति को छोड़ जीवन को अहिंसा और अपरिग्रह के ढाचे में ढालें।

क्या जैन और क्या अजैन, मेरा उपदेश तो सबके लिये यही है कि जीवन के विकारों को मिटाकर सात्विक भाव अपनाने से ही वे सुखी बन सकेंगे।

घाटकोपर (बंबई),
२९ दिसम्बर '५४

१६३ : आदर्श साधक

मानव जीवन बहुमूल्य जीवन है। इसका चरम ध्येय है आत्म-स्वरूप की प्राप्ति, आत्मा पर लगे कर्म-आवरणों के परिमार्जन द्वारा शाश्वत शान्ति और आनन्द का साक्षात्कार। जीवन के इस लक्ष्य को पूर्ण करने की भावना वाला साधक दृढ़निष्ठा, आत्म-जागरण और स्थिरप्रज्ञा लिये अपने पथ पर आगे बढ़ता रहता है। उसे तो जीवन की मंजिल पार करनी है, महान् लक्ष्य तो उसके सामने है, और फल की आकांक्षा वह क्यों करे?

भगवान् महावीर ने साधु की जीवन-चर्या का विश्लेषण करते हुए कहा है—जो नित्य साधना में लगा रहे, गुरु के इंगित तथा मर्यादा में चले, योगवान

हो—जप, स्मरण, भजन, आत्म-चिन्तन आदि में निरत हो, जो तपस्या से आत्मा को उज्ज्वल बनाने में तत्पर रहे, किसी के प्रति अप्रिय न बोले, अनावश्यक बहुभाषी न हो, आत्म-निर्माण की पगडंडी पर चलनेवाला हो, वह आदर्श साधक है।

इस आदर्श को सम्मुख रखते हुए प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन-व्यवहार को त्याग व संयममय बनाये। सचमुच इसीमें जीवन की सफलता है।

थाना (बंबई),
३० दिसम्बर '५४

प्रवचन-डायरी, १९५५

(आचार्य श्री तुलसी द्वारा जनवरी '५५ से दिसम्बर '५५ तक दिये गये प्रवचनों का संकलन)

१ : सच्चा मार्ग

आज मानव बाह्य भावपद के अन्वेषण में प्राणपण से तत्पर बना है। वह अणु की खोज में जुटा है और भौतिक तत्त्वों की थाह लेने चला है। पर खेद है, अपने-आपके अन्वेषण की ओर से वह उपेक्षित रहा; सारे संसार को मुट्ठी में कर लेने की तमन्ना उसकी है पर आश्चर्य है, अपने-आप पर वह नियन्त्रण कर नहीं रहा है। अपने मन को, अपनी इन्द्रियों को, अपनी इच्छा और वासना को नियन्त्रित करने का उसे ख्याल तक नहीं रहा! यह उसकी बड़ी-से-बड़ी कमी और भूल है। वह क्यों नहीं सोचता कि आत्म-विजय अथवा अपने-आपका संयमन ही जीवन-उत्कर्ष का सच्चा पथ है!

एक समय था जब भारत पराधीन था। लोगों से जब धर्माचरण की बात कही जाती तो वे कहते—परतन्त्रों का कैसा धर्म! पर आज वे अपनी तरफ क्यों नहीं देखते! आज तो वे स्वतंत्र हैं। देश की हुकूमत विदेशियों के बदले उनके ही चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथ में है, फिर वे क्यों नहीं आत्म-मंथन करते! आज उनका जीवन स्वार्थ की भट्टी में जल रहा है। मान, यश व बड़प्पन का भूखा बन व्यक्ति पतन के गहरे गड्ढे में गिरता जा रहा है। जिस राम-राज्य की कल्पना लोग कर रहे थे, उसे साकार बनाने की ओर क्या आज किसी का ध्यान है? सबके जीवन में सादगी, ईमानदारी, मैत्रीभाव, तितिक्षा और संयमवृत्ति की प्रतिष्ठा होगी, तभी सच्चा राम-राज्य हो सकेगा और तभी आन्तरिक स्वतन्त्रता जो सच्ची स्वतन्त्रता है, मिल सकेगी।

आज नाम की नहीं, काम की आवश्यकता है। महाजन और ब्राह्मण आदि नाम धराने से क्या बनने का है, यदि नामोचित जीवनचर्या न हुई। एक समय था—ब्रह्म में आचरण करने वाले, आत्म-स्वरूप में रमण करने वाले 'ब्राह्मण' कहे जाते थे, आज वह आदर्श कहाँ रह गया है! एक समय उक्ति थी—**"महाजनो येन गतः स पन्था"**—अर्थात् महाजन जिस मार्ग से जायं वही सच्चा मार्ग है। यह उक्ति बताती है कि उनके जीवन में कितना शौच, सदाचरण और सात्त्विक भाव था। पर आज! क्या उन्हें 'महाजन' कहें—जो असीम स्वार्थपरता

और धन-लोलुपता मे इतने अन्धे बन गये हैं कि उन्हें उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय, सत्-असत् का भी कुछ भान तक नहीं ! उनका दृष्टबेध यही है कि येन केन प्रकारेण धन संग्रहीत किया जाय। क्या यह महाजन को लजाने वाली बात नहीं ! इसी तरह यदि 'वकील' शब्द के मूलरूप 'वाकील' के अर्थ की गहराई में जायँ तो वाणी का कीलन—अर्थात् वाणी का संयम करने वाले का नाम 'वकील' है। जिसकी वाणी संयमित, नियंत्रित और व्यवस्थित नहीं, दूसरों को लड़ाना, सत्य-असत्य का ख्याल न रखते हुए एकमात्र अपनी जेबें भरने की फिराक मे लगे रहना क्या एक सच्चे वकील के लिये शोभनीय है ? आज देश मे ब्राह्मण, सच्चे महाजन, सच्चे वकील और सच्चे नागरिकों की आवश्यकता है, जिनका जीवन उठा हुआ हो, उसे और ऊँचा उठाने का यथाशक्य सभी प्रयास हो। मतलब-परस्ती, धोखेबाजी, नाम और पद की भूख दफनाई जाय। ऐसा होने से ही देश तत्त्वतः आन्तरिक रूप मे आज़ाद कहला सकेगा।

प्रत्येक व्यक्ति जो अपने जीवन का सच्चा विकास करना चाहता है, विषय-वासना, आसक्ति और लोलुपता को अपने में आने तक न दे। इनकी भीषण आग ज्यों ही जीवन मे घुसी, त्योंही वह जीवन को जलाकर खाक बना डालेगी। गीता मे भी तो कहा है :

> **ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते,**
> **संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते।**
> **क्रोधाद् भवति सम्मोह सम्मोहात् स्मृति-विभ्रमः;**
> **स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥**

अर्थात् जो व्यक्ति विषयों का निरन्तर ध्यान करता है उसमें आसक्ति (काम-कामना लालसा) बढ़ जाती है। बढ़ी हुई लालसा से काम पैदा हो जाया करता है। काम के पूरा न होने पर क्रोध पैदा होता है। क्रोधी व्यक्ति को अपना भान कब रहता है ? वह तो मूढ़ बन ही जाता है। सम्मोह स्मृति का नाश कर डालता है। स्मृतिभ्रष्ट की बुद्धि ध्वस्त हो जाती है। व्यक्ति की बुद्धि या विवेक मिटा, फिर बचा ही क्या, विनाश हो ही जाता है। प्रत्येक व्यक्ति आत्म-निष्ठ बने, अनासक्त भावना और तितिक्षा-वृत्ति को जीवन मे उतारे। जीवन-विकास और सच्चे सुख का सफल हेतु यही है।

थाना,
१ जनवरी '५५

२ : सर्व जन हिताय : सर्व जन सुखाय

मुलुन्द के भाई एक लम्बे समय से यहाँ आने का निवेदन करते आ रहे थे। बम्बई चातुर्मासिक प्रवास के बीच ऐसा कोई भी विशेष अवसर न गया जब मुलुन्द के भाई वहाँ उपस्थित न रहे हों और समय पर अपनी माग न दुहराते रहे हों। चातुर्मास बीता। चर्चगेट, माटुंगा, कुर्ला प्रभृति स्थानों मे विचरना हुआ। कुर्ला से घाटकोपर आये। तब मुलुन्द वाले यह पूरी आशा लगाये बैठे थे कि घाटकोपर के बाद उनको अवसर मिलेगा। पर वहाँ से भाण्डुप होते हुए सीधे थाना जाना हो गया। जिस काम के लिए ज्यादा जल्दी की जाती है, अक्सर उसमें देर हो ही जाया करती है। थाना से आज हमारा मुलुन्द आगमन हुआ। जैसा कि यहाँ मैं देखता हूँ, लोगों में धर्म के प्रति गहरी निष्ठा एवं श्रद्धा है। एक गाँव के लिये नहीं, प्रान्त और राष्ट्र के लिये नहीं, बल्कि समूचे मानव-समाज के लिये मैं समझता हूँ कि धर्म की निष्ठा बहुत आवश्यक है। उसके बिना जीवन सूना और नीरस है।

आज का लोकजीवन अर्थ-संग्रह और सत्ता-प्राप्ति की भूल-भुलैया मे इस कदर उलझा पड़ा है कि उसे इनके अतिरिक्त और कुछ दीखता तक नहीं। चाहे कितने ही जुल्म ढाये जायँ, गरीब और मासूम लोगो का शोषण किया जाय, पर पैसा मिलना चाहिये, कोई किसी भी नीच कार्य से मुँह नहीं मोड़ता। उफ! मानव का कितना भारी अधःपतन आज हो गया है। सत्ता पाने के लिये धोखाबाजी, छल-कपट, फरेब, जालसाजी और न जाने क्या-क्या करने पर वह उतारु हो जाता है! कितनी जघन्य दानवीय वृत्ति उसकी यह है—कुछ कहने-सुनने की बात नहीं। नारकीय जैसा घिनौना वातावरण आज फैलता जा रहा है। यही कारण है कि भौतिक विकास में खूब बढ़े-चढ़े बनने के बावजूद संसार के लोग सुख की सास नहीं ले रहे, दुःख और अशान्ति से वे कराह रहे हैं। वे ऐसा मार्ग ढूँढ़ना चाहते हैं जो उन्हें इस विषादपूर्ण अशान्त जावन से छुटकारा दिला सके। इन बुराइयों को मिटाने के लिये सरकार की ओर से कानून बनते हैं, सजायें दी जाती हैं, जुर्माने किये जाते हैं पर दुनियाँ बदली नहीं, लोगों का मन उधर से हटता नहीं। समझने की बात यह है कि कानून और सजायें व्यक्ति को मजबूर कर सकती हैं पर सुधार नहीं सकतीं। सुधार का मार्ग है—हृदय-परिवर्तन। बुराइयों के प्रति घृणा। इसके लिये व्यक्ति-व्यक्ति का हृदय पलटना होगा, विकारों के प्रति उसमें नफरत पैदा करनी होगी। यह तभी होगा जब कि

व्यक्ति धर्म को अपने जीवन में प्रश्रय देगा। धर्म से मेरा मतलब उस आडम्बरपरक दिखावे से नहीं, जो स्वार्थ, शोषण और दिखावे के लिये किया जाता है। मेरा मतलब तो धर्म के उस विशाल राजप्रासाद से है, जो विश्वमैत्री की भव्य भित्ति पर खड़ा है; सत्य और अहिंसा के सुदृढ़ खम्भों पर टिका है। जिसमें जाति, वर्ग, रंग व कौम-भेद की दरारें नहीं हैं, जिसमें अमीर और गरीब, महाजन और हरिजन का भेद नहीं है। जो सर्वजन हिताय एवं सर्वजन सुखाय है।

आज केवल औरों को सुधारने की बातें बनाने से काम नहीं चलेगा, सबसे पहले व्यक्ति स्वयं सुधरे बिना औरों को क्या सुधारेगा ! इसलिये व्यक्ति-व्यक्ति अपने जीवन के अन्तर्तम को टटोले, जिन विकारों और बुराइयों से वह धूमिल बना है, उन्हें निकाल बाहर फेंके। उनके बदले अहिंसा और सत्य जैसे सद्गुणों को प्रश्रय दे, जिससे उसका आन्तरिक धूमिलपन उजलपन में बदल जाय।

मुलुन्द,
२ जनवरी '५५

३ : सच्चा सार

संसार की कैसी विचित्र स्थिति है ! सबल अपने से दुर्बल को खा डालने के लिए हर घड़ी मुंह बाये रहता है। वह सोचता है—मैं तो निरापद हूँ, बलवान जो ठहरा। चूहा, मेंढ़क पर झपटने का लोभ संवरण नहीं करता तो साँप मेंढ़क सहित चूहे को निगल जाने के लिये अपने जहरीले जबड़े खोलने से कब और कैसे रुके ? पर साँप भी मोर के पंजे से कब बच सकता है ! मोर को बिल्ली, बिल्ली को कुत्ता, कुत्ते को चीता, चीते को शेर और शेर को आखेट करने वाले मनुष्य का खतरा है। मनुष्य सोचता है, वह बुद्धिशील प्राणी है, सबसे अधिक विकसित है, उसको किसका भय ? पर वह भी काल के भयानक चंगुल से नहीं बच सकता। उपाध्याय विनयविजयजी के शब्दों में—"चाहे मनुष्य हाथी, घोड़े और रथों से सजी दुर्धर्ष सेनाओं के घेरे में अपने को छिपा ले पर मृत्यु से छिपा नहीं सकता। मल्लाह जैसे मछली को झट पानी में से निकाल लेता है, वैसे ही मौत उसे अपने पात्र में डाल लेती है। वह वज्र से बने घर में ही क्यों न रहे, भय, कायरता और शरणागति-भाव दिखाने के लिये मुंह में घास का तिनका भी क्यों न डाल ले पर निर्दय काल उसे कब छोड़ेगा ?" यह है संसार की दशा। इसे देखते कौन किसे बचाने का दावा कर सकता है ! हाँ,

मनुष्य स्वयं तो हिंसा जैसे दुष्कृत्यों अथवा पाप-कार्यों से अपने को बचा सकता है। सहसा सवाल आता है—सामाजिक जीवन में सम्पूर्ण अहिंसा व्यवहार्य हो, यह सम्भव नहीं, पर अनावश्यक हिंसा से तो अवश्य ही बचना चाहिये और प्रयत्न करने पर यह सम्भव भी है।

जीवन के ऐसे बहुत से पहलू हैं, जहाँ व्यक्ति लोलुपता, स्वार्थ अथवा मनोविनोद के लिये हिंसा में प्रवृत्त होता है। मांसाहारी मांस खाने के लिये पशु-पक्षियों की हत्या करते हैं, यह जीभ की लोलपता ही तो है। स्वार्थी अपने स्वार्थ-पोषण के लिये आरम्भ-समारम्भ में, न जाने छोटे-बड़े, कितने जीवों का हनन करता है। वह शिकारी का तो मनोविनोद होता है पर मूक पशुओं का प्राण-वियोजन। मनुष्य क्यों नहीं सोचता कि जिस तरह उसे अपना जीवन प्यारा है, अन्यान्य प्राणियों को भी वह वैसा ही प्यारा है। उसका जीव कोई ले तो जैसे उसे दुःख होता है तो क्या औरों को उनका जीवन लेने से दुःख नहीं होता? फिर वह क्यों उनके प्राण लूटता है? उसे चाहिये—वह हिंसा का वर्जन करता हुआ उत्तरोत्तर अहिंसामय जीवन की ओर आगे बढ़े। अहिंसा ही धर्म है, यही धर्माराधना का सच्चा सार है।

मुलुन्द,
७ जनवरी '५५

४ : अध्यात्म की उपासना

भौतिकता और नास्तिका के प्रवाह से थका, असन्तुष्ट और अशान्त मानव शान्ति और सुख के लिये अध्यात्मवाद की ओर मुड़ा है, यह खुशी की बात है। जड़-जगत् की उपासना के द्वारा होनेवाली क्षणिक तृप्ति शाश्वत तृप्ति का वास्तविक साधन नहीं, वह तो अतृप्ति को और भी बढ़ावा देनेवाली होती है। मृग चाहे मरुस्थल में कितना ही भटके, पर जल वहाँ कहाँ है? तृप्ति वहाँ नहीं है। भले ही वह मर मिट ही क्यों न जाय पर उसकी प्राप्ति के लिये उसे सरोवर पर जाना ही पड़ेगा। उसी तरह मानव जीवन का भले ही कुछ-से-कुछ कर डाले पर जड़-जगत् की उपासना से सुख, शान्ति और सन्तोष की निष्पत्ति सर्वथा असम्भव है और जो तृप्ति-सी मालूम होती है वह तो कोरा मन फुसलावा है। इस तथ्य पर आज विश्वास किया जाय या कल, आखिर इस पर विश्वास जमाकर अध्यात्मवाद की उपासना करनी ही होगी। समय रहते व्यक्ति बुराई से बच जाय, नहीं तो सब कुछ खो चुकने पर पश्चाताप के सिवाय कब

हाथ नहीं आयेगा। काल के अविरल प्रवाह में न जाने कितने महान् व्यक्ति बह चुके हैं और बहते जा रहे हैं। पूँजी और प्रभुत्व भी आखिर उसके साथ नहीं गये। अतः व्यक्ति को चाहिये कि वह पूँजी, सत्ता और शरीर की आवश्यकता को समझ जीवन को ज्यादा-से-ज्यादा त्याग, संयम और सदाचार में लगाये। संक्षेप में इसीका नाम 'अध्यात्म की उपासना' है।

मुलुन्द,
९ जनवरी '५५

५ : आन्तरिक शान्ति

संसार में कौन है जो सुख नहीं चाहता। प्राणिमात्र सुख का अभिलाषी है। पर जब तक वह शान्ति के सही मार्ग पर आता नहीं तब तक उसे सुख कैसे मिल सकता है? गीता में कहा है—**'अशान्तस्य कुतः सुखम्'** (अशान्त व्यक्ति को सुख कहाँ)? **'न चाभावयतः शान्ति'** (जब तक जीवन में सद्भाव का संचार नहीं तब तक शान्ति कहाँ)! जिनके पास करोड़ों का बैंक-बैलेन्स है, दसों मोटर गाड़ियाँ हैं, पचासों नौकर-चाकर हैं, ऐसे व्यक्तियों को भी प्रतिदिन हम देखते और सुनते हैं, फिर भी वे अपने को दुःखी ही अनुभव करते हैं। एक व्यक्ति जिसकी बहुत कम आय है फिर भी यदि उसमें सन्तोष और आत्मतुष्टि के भाव हैं तो वह उस कोट्याधीश से कहीं अधिक सुख और आनन्द में है। लोग भूलते हैं क्योंकि वे बाहरी सुविधाओं एवं दुविधाओं से सुख का सम्बन्ध जोड़ते हैं। सुख तो आन्तरिक शान्ति से ही उपलभ्य है। वह पर-निर्भर नहीं, आत्म-निर्भर है।

आन्तरिक शान्ति का एकमात्र साधन है—धर्म, यदि उनके साथ सौदेबाजी न कर उसका सही माने में जीवन में प्रयोग किया जाय। अन्यान्य कार्यों में तो सौदे-बाजी की जाती है, पर खेद है, धर्म के साथ भी सौदेबाजी की जाने लगी है। चाहिये तो यह कि व्यक्ति धर्म के अनुरूप स्वयं बने, उसके अनुकूल अपना जीवन ढाले, पर हुआ है इसके विपरीत यानी सुविधाओं की कसौटी पर धर्म कसा जाने लगा। जहाँ सुविधावाद मुख्य बना वहाँ यथार्थवाद कहाँ और कैसे टिक सकता है? फलतः धर्म के नाम पर ऐसी वृत्तियों को पोषण मिला जो एकमात्र मतलब-परस्ती की भावना से भरी थीं। नाम धर्म का रहा पर काम उसके विपरीत हुए। आज मानव को अपनी वृत्ति बदलनी है, अपने जीवन का सिंहावलोकन करना है,

अपने अन्तर्तम को टटोलना है, उसमें रहे विकारों को साहस के साथ निकाल फेंकना है। यही वह मार्ग है, जिस पर चलकर वह शान्ति पा सकता है, सुख का साक्षात्कार कर सकता है। गीता में एक प्रसंग आया है वहाँ अर्जुन ने जिज्ञासा की है :—

कथमुत्पद्यते धर्मः, कथं धर्मो विवर्धते।
कथं च स्थाप्यते धर्मः, कथं धर्मो विनश्यति ॥

अर्थात्—धर्म की उत्पत्ति, विवृद्धि और प्रतिष्ठा कैसे होती है और उसका विनाश कैसे होता है? श्रीकृष्ण ने उत्तर में कहा—

सत्येनोत्पद्यते धर्मो, दयादानैर्विवर्धते।
क्षमया स्थाप्यते धर्मः, क्रोधलोभाद् विनश्यति ॥

अर्थात्—धर्म से सत्य उत्पन्न होता है। जहाँ सत्य है, वहाँ धर्म है। सत्य के अभाव में धर्म की कल्पना भी नहीं की जा सकती। पर सत्य की साधना कहने मात्र से, दीवालों, पुस्तकों और कागजों पर **'सत्य जयते नानृतम्'** लिखने मात्र से नहीं होगी। जीवन में उसे अपनाना होगा। जीवन-व्यवहार को सत्यानुमोदित बनाना होगा। सत्य की उपादेयता के बारे में जितना कहा जाय, थोड़ा है। सत्य धर्म है, वह भगवद्-स्वरूप है। सत्य जीवन का साध्य है और अहिंसा है उसका साधन। आत्मा के सत्य साक्षात्कार का ही नाम तो बन्धनों से छुटकारा है, उन्मुक्त अवस्था है। यदि सत्य के प्रति निष्ठा नहीं, उन्मुखता नहीं तो केवल मन्दिरों में, उपाश्रयों में, धर्मस्थानों में और सन्तों के संसर्ग में जाने मात्र से धर्म की उपासना हो गई—यह कैसे सम्भव मान लिया जाय। सत्य बाहरी भेदों से बँधा नहीं है। फिर सत्यमय धर्म क्या कभी जातिवाद, वर्गवाद, वर्णवाद जैसे बन्धनों से बँधा रह सकता है? कितनी जातियाँ और वर्ग इस विश्व के रंगमंच पर आये और चले गये, आज उनका अवशेष तक नहीं बचा। पर धर्म क्या कभी मिट सकता है? बदल सका है? वह तो शाश्वत, स्थिर और व्यापक है; क्योंकि उसकी उत्पत्ति सत्य से है। दया और दान उसकी वृद्धि के हेतु हैं। संसार के किसी भी प्राणी के जीवन को मत हनो, किसी को दुःखी मत बनाओ, अपने को तथा अन्यों को पाप से बचाओ, प्राणिमात्र के प्रति समता और मैत्री-भाव रखो—यह दया का संदेश है। दूसरों को ज्ञान दो, संयम वृद्धि में सहयोग दो इसीसे धर्म की वृद्धि होगी, अभ्युदय होगा। क्षमा से धर्म की प्रतिष्ठा होती है। क्षमा सच्ची वीरता है। क्रोध तथा लोभ से धर्म का विनाश

होता है। एक क्रोध वैमनस्य, वैर, कलह, लड़ाई और मारकाट न जाने कितने भयानक उत्पात पैदा कर डालता है। एक लोभ, शोषण, अनाचार जैसे अनेक दुर्गुणों को जन्म देता है, जो पतन के हेतु हैं।

सत्य, अहिंसा, दया, क्षमा, अक्रोध, संतोष ये वे आदर्श हैं, जिन्हे क्या जैन धर्म और क्या सनातन धर्म सभी समर्थन करते हैं। मनुष्य अपने जीवन में इनका जितना अधिक प्रयोग करेगा, वह उतना ही अधिक सुखी बनेगा और तभी उसे शान्ति मिलेगी।

मुलुन्द,
१२ जनवरी '५५

६ : जीवन-विकास का मार्ग

जीवन की सफलता इसीमें है कि मानव सही माने में अपने कल्याण या विकास के लिये आगे बढ़े। भगवान् महावीर के शब्दों मे—"**लज्जा दया संयम बंभचेरं, कल्लाणभागिस्सविसोहिठाण**"—अर्थात् लज्जा, दया, संयम और ब्रह्मचर्य कल्याण चाहने वाले के लिये विशुद्धि के स्थान है। जीवन-शुद्धि या आत्म-विकास की पुनीत मंजिल तक पहुँचाने का यह सरल मार्ग है। जो अपना और दूसरे का कल्याण चाहता है, उसे इस मार्ग पर आना होगा। मरीज डाक्टर के बताये पथ्य, परहेज़ और औषधि-सेवन के अनुकूल न चले तो भला वह रोगमुक्त कैसे हो सकता है? यही बात कल्याण चाहनेवाले के लिये भी है। सत्य-पथ के अनुसरण से ही सत्य का लक्ष्य पूरा हो सकता है। लज्जा का अर्थ है—असत कार्यों से, बुरी प्रवृत्तियो मे भय रखना, जिससे व्यक्ति अपने-आपको उनसे बचा सके। सन्त तुलसीदास जी ने भी कहा है—

हर डर, गुरु डर, गाँव डर, डर करणी में सार॥
तुलसी डरे सो ऊबरे, गाफिल खावे मार॥

अर्थात्—जो व्यक्ति परमात्मा, गुरु और गाँव से डरता है, बुरा कार्य करते सकुचाता है—'भय' अनुभव करता है, सोचता है कि परमात्मा सबको सब कुछ करते देखते हैं, मेरे बुरे काम भी उनसे छिपे नहीं, मैं उनसे क्यो फँसूं, गुरुजन मुझे दुष्प्रवृत्तियों मे लगा देख क्या कहेंगे, गाँव के लोगो मे क्या मेरी निन्दा या भर्त्सना नहीं होगी? वह व्यक्ति उबरता है, बुरे कर्मों से अपने-आपको बचाता है। जो ऐसा

नहीं करता है, वह हानि उठाता है। व्यक्ति दुष्कार्यों के प्रति अपने मन में लज्जा, ग्लानि और परिहेयता के भाव रखे। इसी तरह दयालु वृत्ति, अहिंसक भावना भी आत्म-शुद्धि के लिये आवश्यक है। प्रतिपल व्यक्ति अपने मन मे यह भावना बनाये रखे—"मैं किसी को सताऊँगा नहीं, किसी का जीवन एवं सुख लूटूँगा नहीं। मेरी ओर से किसीको दुःख, संताप, विषाद या वेदना न मिले।" ऐसी भावना रखने वाला व्यक्ति किसी की हिंसा में नहीं पड़ता, किसी को सताता नहीं। "सर्वे भद्राणि पश्यन्तु"—सबका भला हो—यही वृत्ति उसकी रहती है। जैनधर्म मे दया या अनुकम्पा का बहुत बड़ा स्थान है। शम, संवेग, निर्वेद, आस्तिकता आदि सम्यक्त्व के लक्षणों में दया अनुकम्पा मे भी शामिल है। लज्जा और दया के साथ-साथ संयम तथा ब्रह्मचर्य भी जीवन-शुद्धि के महान् साधन हैं। संयम अर्थात् आत्म नियमना, वृत्तियों का संयतपन जीवन को व्यवस्थित, नियमित और सन्तुलित बनाये रखता है। ब्रह्मचर्य आत्म-साधना अथवा जीवन-शुद्धि का मुख्य अंग है। सभी धर्मों मे इसकी यशोगाथायें मिलती हैं। वेद मे भी कहा है :—

"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत"

अर्थात्—ब्रह्मचर्य और तपस्या से देवो ने अमरत्व पाया।

व्यक्ति उत्थान या विकास की केवल बड़ी-बड़ी बातें न बना कर जीवन को उसके सही पथ पर लगाये, सत् सिद्धान्तो को जीवन मे परिणत करे, दूषित कार्यों से अपने को अलग रखे तभी जीवन परिमार्जित होगा, और वह श्रेयस् तथा कल्याण की ओर आगे बढ़ेगा।

मुलुन्द,
१४ जनवरी '५५

७ : विद्यार्जन की सार्थकता

आक का बीज बोकर यदि कोई आम पाना चाहे तो इसे उसकी नासमझी के अलावे और क्या कहा जा सकता है। इसी प्रकार विकृत बुनियाद पर स्थाई महल टिक सकेगा यह मानने जैसी बात नहीं है। आज के शिक्षा क्षेत्र की ओर नजर दौड़ाई जाये तो यह साफ दिखाई देगा कि उसकी बुनियाद ही गलत है, बहुत बड़े परिष्कार और शोध की उसमें आवश्यकता है। जहाँ विद्यार्थी जीवन अथवा, शिक्षार्थी-काल का मकसद जीवन का सच्चा निर्माण करना है, चारित्र को गढ़ना है

वृत्तियों की निर्मलता और शुद्धि देनी है। आज उसका लक्ष्य केवल ऊँची-ऊँची परीक्षाएँ पासकर बड़ी-बड़ी उपाधियाँ ले लेने तक ही सीमित रह गया है। यह कितना बड़ा बुनियादी दोष है। इससे जीवन सच्चे माने में कभी बनता नहीं, शिक्षा क्षेत्र से निकलनेवाले स्नातक के समक्ष कोई महत्त्वपूर्ण दिशा नहीं होती। येन-केन प्रकारेण उदर पोषण कर लिया जाये, यही उसके जीवन का बोध हो जाता है। क्या विवेक इस विद्यार्जन की सार्थकता कहेगा? इसीलिये मैं जहाँ भी विद्यार्थियों में जाता हूँ—उनसे कहता हूँ यह उनके जीवन का स्वर्णिम काल है, विकास बेला है। इसका जितनी जागरूकता और सही समझ के साथ वे उपयोग करेंगे उतनी ही उनके श्रम की, प्रयास की और जीवन की सार्थकता है।

विनय, शालीनता, सरलता, सादगी, सत्य, निष्ठा आदि सद्गुणों में वह शक्ति है जो जीवन को सच्ची प्राणवत्ता देती है। यदि मनुष्य में ये सद्गुण नहीं तो वह केवल कहने मात्र का मनुष्य है, महज एक मानवीय ढाँचा है। मानवता का स्वत्व उसमें कहाँ? विद्यार्थियों से मैं कहना चाहूंगा—वे अपने जीवन में इन अच्छी वृत्तियों को स्थान दें। अध्यापकों को विद्यार्थियों को इस मार्ग पर ले जाना है अतः यह आवश्यक है कि वे भी अपने जीवन का परिमार्जन करें, यदि कोई विकार उनमें है तो उसे निकाल फेंकें। तभी विद्यार्थी उन्हें आदर्श मानेंगे, उनके कहने का विद्यार्थियों पर असर होगा।

मुलुन्द,

१८ जनवरी '५५

८ : गुमराह दुनिया

मोह, माया और ममता का कितना गहरा आवरण आज मानव के जीवन पर छाया है। कुछ कहने सुनने की बात नहीं। फलतः व्यक्ति 'मेरे पन' और 'स्वार्थ' के दलदल में इतना ज्यादा फँसा है, फँसता जा रहा है कि उसे आत्म स्वरूप, वस्तु तत्त्व का भान तक नहीं रहा। इस दलदल से उसे निकालना है, नहीं तो दुःख, चिंता, क्लेश और अधःपतन के अलावा और कुछ उसके हाथ आने का नहीं। जिन्हें वह अपना समझता है, जरा भी उसके स्वार्थ का व्याघात हुआ, वे झट त्योरियाँ बदल देते हैं, जिनके लिये वह जान देने को तैयार रहता है, जरा भी विपरीतता हुई, वे उसकी जान के ग्राहक बन जाते हैं। यह है गुमराह दुनियां का स्वरूप। आत्मार्थी

को इसे विदीर्ण करना है। ममता, मोह, माया और स्वार्थवाद के आचरण को मिटा समता, त्याग, तितिक्षा, संयम को अपने जीवन में प्रतिष्ठित करना है। यही तो वह पथ है जिसे धर्म सिखाता है।

प्रत्येक व्यक्ति के लिये सच्ची शांति तथा सुख प्राप्ति के निमित्त यह आवश्यक है कि जीवन में अधिकाधिक धर्मानुवर्ती बने। कर्मानुवर्तिता से ही जीवन का आन्तरिक विकास और उत्थान होगा। यह प्रसन्नता की बात है कि मुलुन्द के भाई बहिनों का धर्म के प्रति अच्छा अनुराग है। बम्बई महानगरी के व्यस्त व्यवसाय से जुड़े रहने के बावजूद वे धर्म-श्रवण के लिये समय निकालते रहते हैं। आशा है कि अपनी धर्म-भावना को वे आगे भी बढ़ाते रहेंगे। मैं प्रस्थान के उपलक्ष में आप लोगों से कुछ भेंट चाहूँगा पर डरिये मत मैं अकिंचन और अपरिग्रही हूँ। मुझे आपसे धन-दौलत की भेंट नहीं चाहिये। मैं तो चाहता हूँ—जीवन की बुरी प्रवृत्तियाँ आप अपने में से निकाल कर मेरे चरणों पर रख दें। आपका जीवन ऊँचा उठे, शुद्ध बने इसे ही मैं अपनी भेंट मानता हूँ।

मुलुन्द,
१८ जनवरी '५५

६ : अणुव्रत-भावना का प्रसार

आज के लोक-जीवन से शृंखला, मर्यादा, नियमन, सन्तुलन मिटता जा रहा है। फलतः मानव अपने को दुःखी पाता है। बाह्य सुख-सुविधाओं को पुष्कल मात्र में पाने के बावजूद वह अपने में खोया-खोया-सा है। यदि वह चाहता है, उसके जीवन में शृंखला आये, सन्तुलन आये, उसका विषाद मिटे तो उसके लिये एक ही मार्ग है—वह धर्म की आराधना करे, धर्म-पथ पर चले—तथाकथित आडम्बर और दिखावे पूर्ण धर्म पर नहीं, उस धर्म पर जो आत्मा के विकारों को मिटा कर उसमें सद्भावना, सद्वृत्ति और सत्चर्या का समावेश करने वाला है। वह धर्म निर्विशेषण है। विशेषण विशेष उसके पीछे लगे, यह आवश्यक नहीं। धर्म पारस्परिक कलह वमनस्य, ईर्ष्या और विद्वेष को मिटाता है, वह भाईचारा, समता, मैत्री, सहिष्णुता और सौजन्य का पाठ पढ़ाता है। तभी तो भगवान् महावीर ने कहा था—विषाद, दुःख और असन्तोष के प्रवाह में बहने वालों के लिये धर्म गति है, त्राण है, आधार

है। मैं चाहता हूँ, सब भाई बहिन धर्म के इस विश्वजनीन स्वरूप को समझते हुए उसे जीवन-वृत्तियो मे ढालें।

अहिंसा धर्म का प्राण है। अहिंसा मे अटूट शक्ति है। उसकी सुखद गोद मे सारा संसार सुख की सांस ले सकता है। मानव ने अहिंसा को छोड़ हिंसा को जितना ज्यादा पकड़ा, उसका जीवन उतने ही संकटों और क्लेशों से जर्जरित बना। जब तक वह हिंसावादी प्रवृत्तियों से मुख नहीं मोड़ता उसे शान्ति मिल नहीं सकेगी।

यदि कोई अपने जीवन मे सम्पूर्ण रीति से अहिंसा, सत्य और महाव्रतो का परिपालन कर सके तो यह बहुत अच्छी बात है, पर प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं। मध्यम मार्ग का अवलम्बन वह कर सकता है। अतः अहिंसा आदि व्रतों का अपेक्षाकृत छोटा रूप अर्थात् आंशिक परिपालन के आधार पर अणुव्रत-नियमों का संकलन किया गया है जिसमे लोगो को व्यावहारिक जीवन मे व्याप्त अनैतिक वृत्तिया और दुर्गुण मिट सके, जीवन में सद्गुण, सच्चरित्र और नैतिकता का संचार हो सके। अणुव्रत-आन्दोलन नैतिक जागृति का एक रचनात्मक कार्यक्रम है। चातुर्मासिक प्रवास के बीच लोगों मे अणुव्रत-भावना का प्रसार किया गया, उसका पुनर्जागरण हो—इसी लक्ष्य से ऐसे आध्यात्मिक समारोहों की आयोजना है। तीन दिन तो क्या जितने भी ज्यादा दिनों के लिये हो, इनकी उपयोगिता है, उपादेयता है। लोग अपने जीवन को परखें, अपनी दूषित वृत्तियों को मिटायें, अपने अन्तरतम को माँजें—यही इस आन्दोलन की भावना है और यही प्रेरणा आप लोगों को लेनी है।

बंबई,
२३ जनवरी '५५

१० : जीने की कला

अणुव्रत जीने की कला है। वे यह बताते हैं कि व्यक्ति निर्विकार तथा निर्दोष जीवन कैसे जीये। शास्त्रो मे जहाँ एक ओर हम पाते हैं—किसी का जीना चाहना राग है, मरना चाहना द्वेष है, राग और द्वेष परिहेय हैं। वहाँ दूसरी ओर यह भी तो कहा है—जीना भी वांछनीय है, यदि वह संयमपूर्ण हो। उसी तरह वह मृत्यु भी वाछनीय है, जो सयम के साथ हो। विशेषता यहा जीने या मरने की नहीं है, विशेषता है संयम परिपालन की, संयत जीवन-चर्या की। अणुव्रत-आन्दोलन यह सिखाता है—जीवन में संयम को प्रश्रय दो, सम्पूर्ण रूपेण असंयम से बच सकने की

क्षमता और आत्म-बल नहीं है तो कम से कम उन असंयत प्रवृत्तियों से तो बचो जो हिंसा, असत्य, चोरी आदि के स्थूल रूपों के साथ जुड़ी हैं, जो अमानवीय हैं—मानवता की दृष्टि से अकरणीय है। मनुष्य आज इतना प्रमादी और आत्म-पराङ्मुख बन गया है कि करणीय-अकरणीय की तरफ उसकी नजर तक नहीं जाती। उसकी दृष्टि में उचित-अनुचित का कोई भेद नहीं। हिंसा और दुराचरण के नंगे नाच में वह उन्मत्त बना है। क्या यह पतन की पराकाष्ठा नहीं? व्यक्ति अन्तर्मुख बने, देखे—कितना दुष्प्रवृत्त और असयत वह हो गया है। अणुव्रत-आन्दोलन उसे आत्म-जागरूक बनने का संकेत करता है, संसार में रचे-पचे व्यक्ति को भी अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह आदि व्रतों को जीवन-व्यवहार में सँजोने की प्रेरणा देता है। आज सत्यनिष्ठा, नैतिकता और ईमानदारी जैसे मानवीय गुण रसातल में घुसे जा रहे हैं, व्यक्ति सब कुछ भूल कर स्वार्थ के दलदल में इस कदर फँसता जा रहा है कि सद्—असद् का भान तक नहीं। ऐसे विषम समय में इस बात की और अधिक आवश्यकता है कि लोगों में अध्यात्म-भावना और नैतिक-वृत्ति का संचार हो, अणुव्रत-आन्दोलन का यही लक्ष्यवेध है।

धन जीवन का साध्य नहीं है, लोक जीवन में वह एक साधन है। उसे ही यदि जीवन का साध्य मान लिया जाय तो शोषण, उत्पीड़न, अनाचरण और भ्रष्टाचार से व्यक्ति कैसे बच सकेगा? अत: मैं कहूँगा—व्यापारी बन्धु अपने दृष्टिकोण को बदलें। अपरिग्रह और सतोष को अपने जीवन में स्थान दें। कितने खेद की बात है, सत्य-निष्ठा और ईमानदारी के प्रति आज उन्हें अश्रद्धा हो गई है। कल एक बड़ा व्यापारी मुझसे मिला। मैंने कहा—व्यापारी कालाबाजार न करें। वह बोला—तो क्या करें? कहने का आशय यह है कि व्यक्ति की निष्ठा इस कदर गिर गई है कि वह अनीति को करणीय मानने लगा है, वहाँ वह त्राण मानता है। खेद! मनुष्य के जीवन में कितना वैपरीत्य आ घसा है। अनीति और अन्याय पर आधारित जीवन क्या पाशविक जीवन से भी गया गुजरा नहीं है? संग्रह करने वाले यह न समझें कि वे लोगों की आँखों में धूल झोंक रहे हैं, जो कुछ वे कर रहे हैं, दूसरे कहाँ देख पाते है! वे बदलते हुये जमाने को देखें, समझें, चेतें। स्वयं अपने को बदलें, नहीं तो शायद जमाना उनका इन्तजार नहीं करेगा। जरा सोचें वह उन्हें धन-राशि के बड़े-बड़े पर्वत खड़े करने देगा क्या? अस्तु, अधिक न कहता हुआ मैं व्यापारी भाइयों से इतना ही कहूँगा कि वे अपने व्यापार में सत्यनिष्ठा,

ईमानदारी, नैतिकता और असंग्रह वृत्ति का संचार करें। अधिक नहीं तो कम से कम बिक्रयार्थ किसी भी वस्तु में मिलावट न करना, नकली वस्तु को असली वस्तु बताकर नहीं बेचना, एक प्रकार की वस्तु को दिखाकर दूसरे प्रकार की नहीं देना व माप-तौल में असत्य व्यवहार न करना आदि नियमों को वे अवश्यमेव अपनायें। जीवन को गिरावट की ओर तो ये बुराइया ले जाती ही हैं, आपके व्यापार की साख भी इनसे जमती नहीं, उखड़ती है।

बम्बई (सिक्कानगर)
२३ जनवरी '५५

११ : मानवता का आन्दोलन

अणुव्रत-आन्दोलन मानवता का आन्दोलन है। मानव मात्र के लिये यह अपेक्षित है कि वह जीवन मे नैतिकता लाये। अनैतिक जीवन कहने भर के लिये जीवन है, जीवन का सच्चा सत्त्व अथवा सार उसमे कहाँ ? जहाँ भी मेरा जाना या ठहरना होता है, लोगों को चारित्रिक विकास तथा नैतिक जागरण के लिये मैं कहता रहता हूँ पर मनुष्य का स्वभाव भूलने का है और ऐसी बातें, जिन्हे वह अपने रोजमर्रा के भौतिक स्वार्थ सधने मे साधक नही मानता, अपेक्षाकृत ज्यादा भूलता है। उसमे पुनर्जागरण, सावधानी तथा सचेतपन आये, वह जीवन मे नैतिकता का सही मूल्यांकन करता हुआ सत्य निष्ठा, और सदाचरण के पथ पर आगे बढ़े, इसके लिये ऐसे प्रेरणात्मक समारोहों की आवश्यकता एव उपयोगिता है और इसी उद्देश्य से ये आयोजित होते हैं।

नीति, सच्चाई एवं ईमानदारी, जो अणुव्रत-आन्दोलन की बुनियाद है, के मार्ग पर आने के लिये व्यक्ति को अपना हृदय बदलना होगा। जीवन की उच्चता का मानदण्ड आज जहाँ उसने अर्थ को मान रखा है, उसके स्थान पर उसे त्याग एव संयम की प्रतिष्ठा करनी होगी। क्योंकि संयम के पथ पर आने के लिये पहले यह निष्ठा पैदा करने की अपेक्षा है कि संयम जीवन का सही बोध है। ऐसा होने पर उसके मनमें प्रेरणा जागेगी, उत्साह पैदा होगा। उत्साह और प्रेरणा भरे कदम ही अथक रूप में आगे बढ़ सकते हैं।

जो भाई-बहिन अणुव्रत-आन्दोलन में आये हैं, मैं चाहता हूँ, वे अपनी निष्ठा को और मजबूत बनायें और जो समझ नहीं पाये हैं, इसे समझें, अनुशीलन करें, जीवन में उतारने का प्रयास करें।

बम्बई,
२५ जनवरी '५५

१२ : मर्यादा-महोत्सव

अपने जीवन में आप लोग बहुत प्रकार के उत्सव देखते हैं, उनमें भाग लेते हैं पर जिस समारोह में आज उपस्थित हुये हैं, वह एक दूसरे प्रकार का समारोह है। यह बाहरी सुसज्जा व दिखावे का समारोह नहीं है, यह तो जीवन के अन्तस्तत्त्व से लगाव रखनेवाला समारोह है। आज के मर्यादाहीन युग में जबकि जन-जीवन से मर्यादाओं की शृंखलायें टूटती जा रही हैं, ऐसे आध्यात्मिक अनुशासन एवं मर्यादा-मूलक समारोहों की बहुत बड़ी उपयोगिता है। मर्यादा और अनुशासन जीवन को संवारते हैं, उसे माँजते हैं, उससे जीवन में अध्यात्म और शांति का स्रोत बहता है। हमारे शासन-नायक तेरापन्थ के आद्य प्रवर्तक आचार्यश्री भिक्षु ने विक्रम संवत् १८५६ में साधु साध्वियों के लिये मर्यादाओं का निर्माण किया, जिनका आशय था, संघ में अनुशासन, ऐक्य, व्यवस्था, संगठन आदि परिपूर्ण रूप में बने रहे। साधु-साध्वीगण एक आचार्य के आदेश में रहें, चारित्र्य पालन में किंचित मात्र भी स्खलना न हो, क्योंकि साधु महाव्रती हैं, महाव्रतों का परिपूर्ण पालन उनका सर्वोपरि कर्तव्य है। विषमकाल अथवा प्रतिकूल परिस्थिति की दुहाई देकर वहाँ दोष को पोषण नहीं दिया जा सकता। कठिनाइयों अथवा दुविधाओं को हेतु मान यदि साधु दोष सेवन में प्रवृत्त हो जाय तो उसमें साधुता कहाँ?

आज के इस सांस्कृतिक-दिवस के प्रसंग पर आचार्य श्रीभिक्षु के प्रति हम हार्दिक श्रद्धांजलियाँ अर्पित करते हैं। उनकी सद्बोधमयी वाणी की सुधासिक्त निर्झरिणी में हमारा हृदय हिलोरें ले रहा है। श्री भिक्षु स्वामी ने अहिंसा, विश्व-मैत्री और समता का विवेचन करते हुए सर्व प्राणी सद्भाव का अनूठा संदेश दुनिया को दिया। उन्होंने कहा—स्वयं जागो और औरों को जगाओ—भूल भरे अथवा पापमय पथ से स्वयं टलो और दूसरों को टलने की प्रेरणा दो—यही सच्ची दया है, यही सच्चा दान है। उन्होंने शिथिलाचार के खिलाफ एक जोशपूर्ण क्रान्ति की। शिथिलाचार

की नीवें डगमगा उठीं, संयम की ज्योति जगमगा उठी। अध्यात्म-जगत् में यह एक अनूठा कदम उठा। क्रान्ति का विरोध हमेशा हुआ करता है, उनका भी हुआ, परन्तु वे उससे कब घबराने। अपने गन्तव्य पथ पर आत्म-दृढ़ता, ओजस्विता और अटल निष्ठा के साथ वे आगे बढ़ते रहे। जिस तरह महात्मा गांधी ने राजनैतिक क्षेत्र मे एक अपूर्व देन दी, उसी तरह आचार्य भिक्षु ने आध्यात्मिक क्षेत्र मे एक जबरदस्त क्रान्ति की।

प्रातः स्मरणीय आचार्य श्री भिक्षु ने जो समन्वय तथा सामंजस्य की नीति प्रस्तुत की थी, हमें प्रसन्नता है कि आज तक हमारा संघ उस पर आत्म-निष्ठा के साथ चलता आ रहा है। हमारा मन्तव्य है—शिथिलाचार पर प्रहार हो, शिथिलाचारियों पर नहीं, अर्थात् हमारा प्रहार किसी व्यक्ति पर न हो, दुर्गुणों पर हो। मैं समस्त श्रावक समुदाय से कहूँगा—इसी नीति को लेते हुए जैसे कि वे आज तक चलते रहे हैं, उन्हे स्वामीजी के आदर्शों पर चलना है, अपना जीवन ऊँचा उठाना है, औरों को उत्थान की ओर जाने में सहायता करनी है। जैन-एकता के लिए जैसा कि मैंने एक बार कहा था—सब सम्प्रदाय के लोग मण्डनात्मक नीति का अनुवर्तन करें, सहिष्णुता किंवा तितिक्षा-भावना को बरतें, दूसरे सम्प्रदाय के साधु-साध्वियों के साथ तिरस्कार एवं घृणापूर्ण बर्ताव न हो, सम्प्रदाय परिवर्तन के लिए किसी पर दबाव न डाला जाये, सामाजिक बहिष्कार न किया जाये, जैन धर्म के सर्व सम्मत मन्तव्यों को व्यापक रूप मे प्रसारित करने का प्रयत्न किया जाये। तेरापन्थी भाइयों को इनका पालन करना ही है, अन्यान्य लोगों से भी मैं कहना चाहूँगा—वे इनका अनुसरण करें।

बम्बई,
३० जनवरी '५५

१३ : अणुव्रत और महाव्रत

आपने अणुव्रत के बारे में सुना, पर मैं तो आज के महाव्रत के बारे में कह रहा हूँ। अणव्रत और महाव्रत ये व्रत के टुकड़े नहीं। व्रत की छोटी से छोटी सीमा अणव्रत है और उसका पूरा रूप महाव्रत। सिर्फ अणुव्रतों को स्वीकार कर लेना ही बड़ी बात नहीं है वह तो व्रत की ओर क्रमशः आगे बढ़ने के लिये है। अणुव्रत मे

शोषणपूर्वक किया जाने वाला संग्रह बन्द होता है, महाव्रत में संग्रह मात्र का वर्जन है।

अणुव्रत में निरपराध को मत मारो ऐसा विधान है, परन्तु महाव्रत में अपराधी को मारना भी वर्जित है।

अणुव्रत में जहाँ अनर्थकारी झूठ नहीं बोलना है, वहाँ महाव्रत में असत्य मात्र का परित्याग है। असत्य से दूसरे का अनर्थ हो या न हो, व्यक्ति अपने आपका तो पतन कर ही लेता है। असत्य न बोलने के साथ-साथ ऐसा सत्य भी न बोलना जो औरों के लिए अनर्थकारी हो। सत्य बोलो, निरवद्य बोलो, असत्य और सावद्य मत बोलो।

अणुव्रत में अनैतिकता से कमाना वर्ज्य है, क्योंकि यह एक प्रकार की चोरी है। महाव्रत में देव, गुरु और धर्म की आज्ञा के विपरीत चलना उनका वफादार न रहना भी उनसे चोरी है। किसी पर जबरन हुकूमत करना और बिना इजाजत घर में घुस जाना भी चोरी है। साधु-साध्वियो ! देव, गुरु और धर्म के प्रति सदैव स्थिर और अडिग रहो, उनकी आज्ञा के विपरीत मत चलो।

अणुव्रती के लिए वेश्या गमन, पर-स्त्री गमन आदि का त्याग है, वहाँ महाव्रती के लिए गमन ही नहीं तद्विषयक चिन्तन तक की मनाही है। लोग कहेंगे यह असम्भव है, पर आत्मबल-सम्पन्न व्यक्ति के लिये कोई बात असम्भव नहीं। असम्भव होता तो मनुष्य के लिये ऐसा विधान नहीं होता। अस्तु ! असम्भव नहीं दुःसम्भव हो सकता है।

साधु-साध्वियो ! हमने महाव्रत का झण्डा लिया है। हमें विकारों को जीतना है। दुनिया भर को जीतने का दम भरने वाला अपने विकारों पर विजय नहीं कर पाता है तो वह सच्चे माने में गुलाम है। लोग अज्ञानवश साधुओं को दीन, अनाथ कह देते हैं क्योंकि उनके पास मकान नहीं, पूँजी नहीं, खाद्य सामग्री का संग्रह नहीं, वे भूलते हैं। साधु-साध्वी तो उस महती आत्म-सम्पदा तथा संयम रत्न के धनी हैं, जिसके आगे संसार के हीरे, पन्ने जैसे पाषाणिक धन नगण्य हैं—तुच्छ हैं। मेरी समझ में हुकूमत के तख्ते पर बैठा हुआ भी वह हीन, दीन और अनाथ है जो अपने कानों, आँखों और हाथों पर अनुशासन नहीं रख सकता। महाव्रतियो ! अपने आपकी आत्मा को टटोलते रहो, निरीक्षण करते रहो। जहाँ लोग आइने में अपना

रूप देखते हैं, वहाँ आप अपनी आत्मा को आइना बनाकर देखिये कि कहीं विकृति तो नहीं आ रही है। जो साधु आत्मचिंतन या आत्म-निरीक्षण नहीं करते, उनकी साधना अधूरी रह जाती है। अपने आप पर अपने नियमो से अनुशासन करो और और जन-जन मे आत्म नियंत्रण का प्रसार कर दो। इसीमें आपके जीवन की सार्थकता है।

बम्बई,
३० जनवरी '५५

१४ : प्रभु का पन्थ

बहुत से लोग यह कहते हैं कि आप अणुव्रत-आन्दोलन द्वारा तेरापन्थ का प्रचार करते हैं, यह बात सुनकर मुझे कोई आश्चर्य नहीं होता। कारण कि मैं मानता हूं, अणुव्रत जीवन-शुद्धि का कार्यक्रम है और तेरापन्थ भी आत्म-शुद्धि का मार्ग है। अतः तेरापन्थ का प्रचार करने में मुझे संकोच नही होता। परन्तु इसमे तेरापन्थ को साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से न देखें। आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु ने जिस अर्थ मे 'तेरापन्थ' नाम रखा, मैं उसीको मानता हूं कि यह प्रभु का पन्थ है, सब किसी का पन्थ है और जीवन-शुद्धि का पन्थ है। मेरा सभी तेरापन्थी भाई बाहनों से यह कहना है कि वे अपना जीवन विकसित बनाने के लिये प्रयत्नशील रहें। अणुव्रत-प्रचार के कार्य मे वे सच्चा सहयोग दें।

बम्बई, (सिक्कानगर)
१ फरवरी '५५

१५ : समाज और व्यक्ति की सफलता

राष्ट्र स्वतन्त्र हुआ, गणतन्त्र की स्थापना हुई, लोग आनन्द से झूम उठे, पारतन्त्र्य का बोझिल जुआ जिससे उनके कन्धे दबे जा रहे थे, दूर हुआ। पर मैं इसे पर्याप्त नहीं मानता कि केवल बाह्य स्वतन्त्रता से लोग सन्तोष कर बैठें। कौन नहीं जानता कि राष्ट्र का नैतिक धरातल दिन-पर-दिन गिरता-गिरता रसातल की ओर पहुँचा जा रहा है। लोगों के जीवन मे न्याय, नीति, सदाचरण और प्रामाणिकता दिन पर दिन क्षीण होती जा रही है। भारत जैसे राष्ट्र के लिये, जिसने अतीत मे कभी आध्यात्मिक और नैतिक क्षेत्र में विश्व का नेतृत्व किया था, जगत् को पथ-प्रदर्शन दिया था, क्या यह लज्जास्पद नहीं? आज भारत के नौजवानों पर, विद्या-

र्थियों पर, शिक्षितों पर, नागरिकों पर एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। राष्ट्र के नैतिक धरातल और चारित्रिक स्तर को ऊंचा उठाने के लिये उन्हे प्राणपण से कार्य क्षेत्र में उतरना होगा। जब तक राष्ट्र की जनता के जीवन-व्यवहार में शुद्धि नहीं आयेगी, स्वार्थ-परायणता, धन-लोलुपता, यश-लोलुपता, पद-लोलुपता, अप्रामाणिकता और नैतिकता जैसी कमीनी वृत्तिया मिटेंगी नहीं, तब तक आन्तारक स्वातन्त्र्य तथा सच्ची शान्ति उसे कैसे मिल सकेगी? आज लम्बे-लम्बे भाषणो और बेहतरीन तकरीरों की जरूरत नहीं, आज तो जन-जन की जीवन शुद्धि के लिये समय का, जीवन का, शक्ति का, योग देने की जरूरत है। मैं राष्ट्र के नौजवानो, विद्यार्थियो और उत्साहशील कार्यकर्त्ताओं से कहूंगा—राष्ट्र के नैतिक व चारित्रिक निर्माण के लिये वे अपनी सेवा अर्पित करें।

व्यक्ति स्वयं अपना सुधार कर सके, औरों को सुधार के मार्ग पर आने की प्रेरणा दे सके, इसके लिये ज्ञान, चारित्र तथा क्रियाशीलता, इन तीन बातों की आवश्यकता है। यह वह त्रिवेणी है, जो जीवन मे सच्ची पावनता एव उत्तमता का सचार करनेवाली है। सद्‌ज्ञान जीवन मे सन्मार्ग प्रदर्शित करता है। चारित्र के मार्ग पर आगे बढ़ने के लिये ज्ञान प्रेरणा-स्रोत है। चारित्र का अर्थ है—जीवन को संयत भाव मे निभाना। वहाँ व्यक्ति जीता है, केवल जीने के लिये नही, जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक है इसलिये। उसमे आसक्ति नहीं होती। जहाँ आसक्ति नही, वहाँ जीवन लोलुप नहीं बनता। जीवन मे अलुब्ध भाव वहाँ रहता है। और दूसरी बात यह है कि चरित्रनिष्ठ बनने के लिये व्यक्ति को यह मान लेना होगा कि "**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्**" जो अपने को प्रतिकूल लगे, जिससे स्वयं को पीड़ा हो, वैसा आचरण दूसरो के प्रति भी वह न करे। यह वृत्ति जब अन्तरतम में जाग उठेगी, तब विश्वासघात, धोखेबाजी, ईर्ष्या, पारस्परिक विद्वेष, सघर्ष और कलह आदि आत्म-गुणों का हनन करनेवाले दुर्गुणों से स्वय बचाव हो सकेगा। तीसरी बात है—क्रियाशीलता की। कहने, सोचने और बातें बनाने से तब तक क्या बनेगा, जब तक जीवन मे क्रियाशीलता और कर्मठता नहीं आयेगी। आज कहने का नहीं, करने का युग है। बातों की नहीं, करने की आवश्यकता है। तभी क्या व्यक्ति, क्या समाज और क्या राष्ट्र ऊँचा उठ सकेगा?

देश के नागरिकों को मैं आह्वान करता हूँ—वे यदि व्यापारी हैं तो अपने मन में

दृढ़ता से जमा लें कि उन्हें अपने व्यापार में बेईमानी और अप्रमाणिकता नहीं करनी है; व्यवहार को शुद्ध बनाना है। यदि राज्य कर्मचारी हैं तो रिश्वत और पक्षपात से उन्हे परे रहना है। यदि वकील हैं तो झूठे मुकदमों और झूठी साक्षियों से बचना है। विद्यार्थियों से मैं कहना चाहूँगा—वे अभी से दृढ़ प्रतिज्ञ हो जांय कि वे अपने भावी जीवन में जिस किसी भी क्षेत्र में जायेंगे, प्रामाणिकता बरतेंगे, सत्य निष्ठा और नीति से परे नहीं होंगे। ऐसा होने से ही गणतन्त्र की सफलता है, राष्ट्र, समाज और व्यक्ति की सफलता है।

बम्बई,
२० फरवरी '५५

१६ : विदाई की बेला

हमें यहाँ से प्रस्थान करते देख लोग कुछ उदास से नजर आते हैं। पर वे क्या नही जानते—सन्तों के लिये गमन और आगमन दोनों एक ही सरीखे हैं। आत्म-साधना के साथ जन-कल्याण के लिए प्रयास करना उनका काम है जिसे वे जहाँ जाते हैं करते रहते हैं। जैसा कि भाइयों ने कहा—मेरे विचार उनके साथ हैं, फिर कैसी जुदाई। बम्बई में हमारा चातुर्मासिक प्रवास के निमित्त रहना हुआ। तदन्तर बम्बई के उपनगरो में मैं घूमा। मर्यादा महोत्सव का सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक पर्व सम्पन्न करके पुनः बम्बई आया। इस प्रकार मैंने लगभग ८ महीने इस इलाके में बिताये। इसी बीच हजारों लोग सम्पर्क में आये। विद्यार्थियों, व्यापारियों, कर्मचारियों, मजदूरों तथा अन्यान्य वर्गीय लोगो में नैतिक जागृति को लेते हुए सार्वजनिक कार्य-क्रम चले। मुझे प्रसन्नता है कि लोगों ने उसमें अच्छा रस लिया ; अणुव्रत आन्दोलन की सही कीमत आकी।

मैं अपनी विदाई की बेला के अवसर पर समस्त नागरिकों से कहना चाहूँगा कि आज लोक-जीवन मे धंसे अनैतिकता, अनाचरण और अप्रामाणिकता के विषैले जाल को उन्हे तोड़ फेंकना है। जीवन मे सत्य निष्ठा, प्रामाणिकता, न्याय, सदाचरण और विशुद्ध चर्या का समावेश करना है जिसके लिए सबको प्राणपण से कटिबद्ध होना होगा। मैं यहाँ से प्रस्थान कर रहा हूँ पर मेरे विचार आपके साथ

है। आप उनसे जीवन-जागरण और आत्मशुद्धि की प्रेरणा लेते हुए कहने भर के नहीं, सच्चे मानव बनने का प्रयास करेंगे, मुझे ऐसी आशा है।

बंबई,
८ फरवरी '५५

१७ : सच्चे धर्म की प्राप्ति

संसार में मनुष्य जीवन से अधिक दुर्लभ सच्चे धर्म की प्राप्ति है। वैसे तो संसार के सभी धर्मों में मनुष्य को अच्छाइयों की ओर ले जाने की प्रेरणा है। लेकिन जहाँ अहिंसा धर्म का प्रश्न आता है वहाँ झट से जैन धर्म की याद हो जाती है। इसका मतलब यह नहीं कि अहिंसा जैनियों की बपौती है लेकिन इन्हीं लोगों ने अहिंसा को जीवन व्यवहार में उतारा था। हालांकि समय के थपेड़ों के साथ उनके जीवन में भी कुछ गिरावट आई लेकिन आज भी ऐसे व्यक्ति विद्यमान हैं जिन्होंने ब्लैक, मिलावट, रिश्वत, भ्रष्टाचार आदि से अपने आपको बचाये रखा जब कि कितने ही लोग इनके चक्कर में फंसकर मानवता को खो बैठे। जहाँ मुनियों का सवाल आता है आज भी जैन मुनियों की आचार-परम्परा व त्याग दुनिया में पहला स्थान रखता है।

जैन धर्म के आदर्श केवल आदर्श नहीं हैं, वे जीवन व्यवहार को छूने वाले हैं। उनकी साधना दो तरह से है—एक महाव्रत और दूसरा अणव्रत। महाव्रत साधु ग्रहण करते हैं व अणुव्रत गृहस्थ जीवन के लिये हैं। जहाँ साधु कतई परिग्रह नहीं रख सकता वहाँ गृहस्थ श्रावक को चाहिये कि वह कम से कम अनैतिक तरीकों से तो उपार्जन न करे। यदि उसके लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन शक्य नहीं पर वह व्यभिचारी तो न बने। अणुव्रत—आन्दोलन एक इसी तरह का आन्दोलन है जिसमें जनसाधारण के जीवन में घुसी अनैकिताओं को निकालने वाले नियम हैं।

पनवेल
१४ फरवरी '५५

१८ : कल्पना का महल

मनुष्य भविष्य के लिये आशाओं के कितने ऊँचे-ऊँचे महल बनाता है। यह करूँगा, वह करूँगा—कल्पना में तन्मय हो वह भूल जाता है कि पीढ़ियों तक के लिए बाँधी हुई आशाओं के फलने तक उसका अस्तित्व भी रह पायेगा क्या ! एक विपरीत हवा का

झोंका आता है और वर्षों की आसक्ति और अभिलाषा के फलस्वरूप बने कल्पना-महल पल भर में ढह जाते हैं। सुखद स्वप्न और उल्लास भरी उमंगें विषाद और क्रंदन का रूप ले लेती हैं। उसकी कामनाओं का उजाला धूमिल अन्धेरे में बदल जाता है। यह है संसार की स्थिति !

'गोधूलि-वेला आने को थी। धनी युवक दूकानदार कार्य समेट कर घर पहुचा। भावी जीवन की हरी-भरी कल्पनाओं से उसका मन उत्फुल्ल था, सुखद आशाओं की मधुरिमा से उसकी मुखाकृति और भी अधिक लावण्यमय बन गयी थी। बेटे को आया जान माता ने भोजन परोसा। माँ—'अभी नही कुछ देर बाद खाऊँगा—जरा महल का काम तो देख लूं'—यों कहता हुआ युवक अट्टालिका की ओर लम्बी-लम्बी डगें रखता हुआ चला। कारीगर काम मे लगे थे। मजदूर गारा और ईंट ढो रहे थे। सेठ को आया जान अपनी वफादारी दिखाने के निमित्त उनकी दुबली टाँगों मे दुगुना जोश और तेजी भर आई। धनी युवक कुछ को झिड़कता, कुछ को दुतकारता, कुछ को काम के लिए ताकीद करता इधर-उधर निरीक्षण करता द्वार के पास पहुँचा। खाती हाथ मे हथौड़ा लिये चौखटों मे कीलें गाड़ रहा था। युवक ने कहा –'दीपावली के शुभ मुहूर्त्त पर गृह-प्रवेश करना चाहते है; जिसके आने मे केवल दो दिन बाकी हैं। किवाड लगाने मे यदि इतना विलम्ब होगा, तो कैसे चलेगा ? 'मैं बहुत शीघ्र यह कार्य समाप्त कर डालूगा, विलम्ब नहीं होगा स्वामी, खाती ने कर्तव्यपरायणता दिखाते हुए कहा। उसके हाथ का हथौड़ा और अधिक तेजी से चलने लगा। युवक नीची दृष्टि किये अभी-अभी बने आंगन को देख रहा था। सहसा खाती के हाथ से हथौड़ा छूट पड़ा। खाती महल की ऊँची मंजिल पर बैठा काम कर रहा था। हथौड़ा युवक के सिर पर इतने वेग से गिरा कि गिरते ही उसका कपाल फट गया। रक्त का नाला बह चला। मुह से उफ तक नहीं निकला। प्राण पखेरू उड़ गये। जीवन के अत्यन्त लम्बे, सुनहले स्वप्नों को मिटते क्षण भर की भी देर नहीं लगी। उधर भोजन परोसे बैठी मा बेटे की प्रतीक्षा कर रही थी। उसको क्या मालूम कि अब उसका पुत्र एक निर्जीव शव के अतिरिक्त कुछ रह नहीं गया है। किसको साहस कि उस बूढ़ी मा को उसके पुत्र की दुःखद मृत्यु का समाचार सुनाये। प्रतीक्षा करते-करते थक कर बुढ़िया बाहर आई। सबके मुख पर मुर्दनी छाई थी, सब निष्प्राण से लग रहे थे। बुढ़िया का माथा ठनका। आगे कदम बढ़ाया, देखा—उसका बेटा खून से

लथपथ निर्जीव पड़ा है। काटो तो खून नहीं। वह हक्की-बक्की रह गयी। अपने इकलौते पुत्र की यह दशा देख उसका जी टूट गया। रोम-रोम काँप उठा। वह बार-बार सिसकती हुई कहती थी—'हाय बेटा! क्या स्वप्न में भी मैंने कभी सोचा था कि तेरी यह दशा होगी? तरुण वय कमल सी कोमल काया, किस नीच ने तेरे पर हाथ उठा कर यह वज्रपात कर डाला?' पर बुढ़िया को कौन समझाता कि क्या क्रूर काल ने कभी किसी को छोड़ा है? क्या वह कभी वय और स्थिति देखता है?

यह था उस नौजवान के सुनहले स्वप्नों का विषम अन्त!

मानव, क्योंकि वह एक विवेकशील प्राणी है, अपने विवेक को जगाये। बाहरी वैभव, विलास और सुख-सज्जा में न खोकर आत्म-मंथन करे, जीवन की गति को सम्हाले—कहीं वह विपथगामी तो नहीं हो रहा है। जीवन का सार क्षणिक सुखैषणा मे नहीं, भौतिक वासनामय सुखाभासों में नहीं। उसका सार है—अन्तस्तत्त्व को समझना, उसे वर्तन में लाना। जिससे आत्म-नैर्मल्य निकलता है, अन्तर-चेतना उद्बुद्ध होती है, विकृत वृत्तियाँ सजावट पाती हैं, जीवन ऐसे पथ पर अग्रसर होता है, जो सयम, सौजन्य और शालीनता का पथ है।

अपने तीस वर्ष के साधु-जीवन का विहंगावलोकन करूँ तो लगता है कि बाह्य पदार्थों से मेरा मन उत्तरोत्तर हटता जा रहा है, पर प्राकृतिक दृश्यों के प्रति उसका आकर्षण घट नहीं रहा है, प्रत्युत बढ़ रहा है। प्रकृतिगत सौन्दर्य सहज सौन्दर्य है। प्रकृति की सुषमा मे कृत्रिमता नहीं, बनावट नहीं। स्वरूपावस्था मे ऐसा नहीं होता।

उन साधु-साध्वियों तथा गृहस्थों से बात करने का मेरा अधिक मन रहता है, जो प्रकृतिस्थ हैं, भद्र, सरल एवं सीधे हैं। बनावटी कृत्रिम सुसज्जा से असंलग्न प्राकृतिक दृश्यों के प्रति भी मेरा ऐसा ही खिंचाव है।

खण्डाला,
१८ फरवरी '५५

१६ : जीवन के सुनहले दिन

मैं थाना से चला, पनवेल आया। लोगों की बस्ती की दृष्टि से पनवेल एक समृद्ध और बड़ा गाँव है। लोगों का आग्रह था कि वहाँ मैं कम से कम दो दिन तो ठहरूं ही, पर ठहरना हुआ नहीं। चौक में भी ऐसा ही हुआ। लोगों की आकांक्षा थी कि चौक जैसे बड़े गाँव में एक दिन पर्याप्त नहीं, मुझे वहाँ अधिक ठहरना

चाहिये, पर वहाँ भी एक दिन ठहरना हुआ। मैं खण्डाला पहुंचा। यहाँ बस्ती सामान्य है, पर यहाँ के प्राकृतिक दृश्यों ने मुझे आकृष्ट किया। सोचा—प्रकृति के बीच स्थित होता हुआ आत्म-चिन्तन, आत्मानुशीलन, आत्म-पर्यालोचन एवं अन्तर-मन्थन में अपना विशेष समय लगाऊंगा। आज मुझे खण्डाला आये दूसरा दिन है, यदि समय होता तो और भी अधिक इधर ठहरता। यहाँ आने पर सूनी पर्वत माला की गोद में एक रमणीय सरोवर है, जो लोगवाला की बाँध से आने वाली नहर का जल-संग्रहालय है। तेज धूप और ऊंची चढ़ाई। फिर भी मैं यहाँ आया और मुझे इसमें आनन्द का अनुभव हो रहा है। कितना सलोना दृश्य यह है। प्रकृति के उन्मुक्त उत्सर्ग में कोई साधु किधर बैठा है और कोई किधर। उपस्थित भाई-बहिन भी अपने जीवन की समस्त उलझनों को भूल निश्चिन्तता की मधुर सांस ले रहे हैं।

छोटा बालक सबको प्रिय लगता है। क्यों ? इसलिए कि वह कृत्रिमता से परे होता है। उसमें असत्य, विश्वासघात, विषमता, घृणा आदि विपरीत भाव नहीं होते। असत्याचरण तथा विश्वासघात आदि मनुष्य की प्रकृति या स्वभाव नहीं हैं। वे विकृति हैं, विभाव हैं। मानव जितना विकृति में उलझा, विभाव में गया, सचमुच उसने कुछ पाया नहीं, खोया। आज की कृत्रिमता में बुरी तरह फँसे यन्त्रवत् बने मानव को प्रकृति जगत् से प्रेरणा लेनी है, अपने अस्त-व्यस्त जीवन को मूल स्रोत पर लाना है। जिसका अर्थ है—जीवन में समाये हुए वैषम्य, प्रमाद, विरोध, वैर, हिंसा-भाव, क्रूरता आदि विकारों से परे होकर समता, अप्रमाद, मैत्री-भाव, अहिंसा, दया आदि आत्मा के मूल गुणों पर आना।

खण्डाला के इस पर्वतीय प्रदेशों में बैठे मुझे आज थली की वह उज्ज्वल बालुका-मयी प्राकृतिक भूमि, पर्वतों से होड़ करने वाले ऊँचे-ऊँचे टीले सहसा स्मरण हो आते हैं। कितनी दूर मैं वहाँ से हूँ, वहाँ के सहस्रों श्रद्धालु जनों की दृष्टि आज इधर है, पर क्या आप नहीं जानते ? मैं यहाँ हूँ, पर मेरी दृष्टि तो उनके साथ है। अन्त मैं इतना ही कहूँगा—जन-जीवन में अध्यात्म जागृति का संचार करने के लिये नये प्रदेशों में पर्यटन बहुत कुछ जानने—समझने एवं समझने—समझाने के सुन्दर अवसर—सचमुच मैं इन्हें अपने जीवन के सुनहले दिन मानता हूँ।

खण्डाला,
१८ फरवरी '५५

२० : एक विधायक कार्यक्रम

भारतवर्ष की संस्कृति अध्यात्म प्रधान संस्कृति है। भारतीय जीवन मे बाहरी साज-सज्जा, आडम्बर व दिखावे का महत्त्व नहीं रहा। यहाँ महत्त्व रहा—संयमित जीवन-चर्या, त्याग व अध्यात्म का। समय-समय पर इस संस्कृति पर भौतिकवाद के दुर्धर्ष थपेड़े पड़ते रहे, यह उनसे क्षत्-विक्षत् जरूर हुई पर पराभूत नहीं हुई और आज भी उसका अस्तित्व विद्यमान है। पर खेद की बात है कि आज यदि भारतीय लोगों के जीवन का विश्लेषण करें तो पायेंगे कि उनका जीवन दिन पर दिन भौतिकवाद की ओर झुकता जा रहा है। वे भौतिकवादी संस्कृति में घुलते जा रहे हैं। फलतः लोगों का चारित्रिक स्तर गिरता जा रहा है। जिनके लिये यह प्रसिद्ध था कि—

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्व स्व चरित्रं शिक्षेरेन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

भारत मे पैदा होनेवाले अग्रजन्मा ज्ञानियों से संसार के सब लोग चारित्र्य की शिक्षा ले, उन भारतीयों के लिये यह स्थिति शोभनीय नहीं है। मेरा मतलब किसी देश विशेष की संस्कृति से नहीं है। मेरा अभिप्राय है, जीवन-शुद्धि और अन्तर-चैतन्य की संस्कृति से। क्योंकि भारतीय ज्ञानियों और तत्त्वचिन्तकों का मानस कभी अनुदार नहीं रहा। सत्य और शुद्ध वस्तु को ग्रहण करने के लिये वे सदा जागृत रहते आये हैं। भारतीयों को यह समझ लेना है कि उनकी संस्कृति मानवता की संस्कृति है, चारित्र शुद्धि की संस्कृति है, जिसे आज उन्हे अपनी जीवन-साधना द्वारा जगाना है, विकसित करना है। फलतः राष्ट्र मे नैतिक जागृति का संचार होगा, आध्यात्मिक चेतना प्रस्फुटित होगी।

हमारी संस्कृति गौरवमयी थी, हमारा अतीत उजला था, इस तरह का गौरव-गाथाओं के गाने से क्या बनेगा, यदि जीवन में उस गौरवास्पद संस्कृति और उजले अतीत के अनुकूल चर्या नहीं है, व्यवहार मे शुद्धि और नैतिकता नहीं है? आज का वातावरण स्वार्थ के रजकणों से धूमिल बना है। छोटे-से-छोटे स्वार्थ में पड़, व्यक्ति बड़े से बड़ा असत् और नीच कार्य करने पर उतारू हो जाता है। मानवता, सत्यनिष्ठा, ईमानदारी आदि सबसे वह परे हो जाता है। ऐसे विषम समय मे यह अत्यन्त अपेक्षित है कि लोगों को सच्चाई, न्याय, नीति और सात्त्विकता में लाया

जाये और अणुव्रत-आन्दोलन भी इसीकी पूर्ति के लिये चलने वाला एक विधायक कार्यक्रम है। उद्‌जन बम और अणु बम की ओर निहारने वाला व्यक्ति अणुव्रत में आये, उसे जीवन मे एक सहारा मिलेगा। जिन उलझनों में फँसकर उसका जीवन आज ध्वस्त-विध्वस्त हो रहा है, उनसे उसे छुटकारा मिलेगा।

पूना भारत का एक प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र है। यहाँ के बहुत लोगों से मेरा साक्षात् परिचय नहीं पर जो सद्‌भावना एव श्रद्धा मैं आप लोगों में देख रहा हूँ, मुझे लगता है—त्याग प्रधान भारतीय संस्कृति के प्रति हार्दिक निष्ठा और लगन आप लोगों मे है, जो भारतीय जीवन का एक भूषण रही है। आप लोगों ने मेरा स्वागत किया, मेरे अभिनन्दन में भाषण किये, पर आप जानते हैं—आकाश को वर्षा से कोई हर्ष नहीं और आतप से कोई विषाद नहीं। उसी तरह सन्तों का कैसा स्वागत ! कैसा अभिनन्दन ! उनका सच्चा स्वागत इसीमें है कि लोग उनके बताये पथ का अनुसरण करते हुए जीवन को सच्चे विकास की ओर ले जायें।

पूना,
२१ फरवरी '५५

२१ : साध्य-साधन विवेक

दर्शन का तात्पर्य है—जीवन की खोज, अन्तरतम का अन्वेषण। भारतीय दर्शन आत्म साधना का दर्शन है। वह केवल शुष्क तर्कवाद पर आधारित नहीं है। "घृताधारे पात्रम् अथवा पात्राधारे घृतम्" जैसे बुद्धि व्यायाम उसका लक्ष्य नहीं। पर इसका यह अर्थ भी नहीं लेना चाहिए कि वहाँ तर्क के लिये स्थान ही नहीं है। तर्क तत्त्व को स्पष्ट करता है, बुद्धि का परिमार्जन करता है। परन्तु कब ! जब कि वह श्रद्धा से युक्त हो। श्रद्धा शून्य तर्क व्यक्ति को सही मार्ग नहीं देता। भारतीय दर्शन का चरम लक्ष्य है—आत्म-स्वरूप की प्राप्ति, समस्त बन्धनों से छुटकारा, सत् चित् आनन्द का साक्षात्कार। भारतीय दर्शन की यह विशेषता है कि वह साध्य की शुद्धि पर जितना जोर देता है, साधन की शुद्धि पर भी उतना ही बल देता है। शुद्ध साध्य की प्राप्ति के लिये अशुद्ध साधना का उपयोग वहाँ ग्राह्य नहीं माना गया। अतः साध्य-साधन-विवेक भारतीय दर्शन का मुख्य पहलू है।

वैदिक, जैन और बौद्ध-तत्त्वज्ञान के रूप मे भारतीय दर्शन की त्रिवेणी दार्शनिक जगत् में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। भारतीय दर्शन समन्वयवादी दर्शन है।

दुराग्रह या एकान्तवाद के लिये उसमें स्थान नहीं।

किसी वस्तु या पदार्थ को विविध पहलुओं से, दृष्टियों से देखा जा सकता है और अपेक्षा भेद से उसका बहुमुखी निरूपण हो सकता है। जैसे—एक व्यक्ति पिता भी है और पुत्र भी। अपने पुत्र की अपेक्षा वह पिता है तथा अपने पिता की अपेक्षा पुत्र। जैन दर्शन में इसे अनेकान्तवाद या स्याद्वाद् कहा गया है। भारतीय दर्शन की अन्यान्य धाराओं में भी हमें अनेकान्त दृष्टि मिलती है। अनेकान्तवादी दृष्टिकोण संघर्ष और पारस्परिक कलह को मिटाता है। वह समन्वय तथा एकता का विज्ञापक है।

जानने की दृष्टि से व्यक्ति को प्रत्येक बात जाननी चाहिए पर उसमें जो हितकर हो वह लेनी चाहिए, जो अहितकर हो, उसका परित्याग करना चाहिए। ज्ञेय, हेय और उपादेय को समझते हुए व्यक्ति आत्मनिष्ठ बने, आत्म-जागरण और शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील हो; इसीमें उसके दार्शनिक अनुशीलन की सार्थकता है। अणुव्रत-आन्दोलन, जो आत्म-निष्ठा की भावना पर आधारित है, भारतीय दर्शन की आत्म-शुद्धि मूलक साधना का मूर्त रूप है।

पूना,
२३ फरवरी '५५

२२ : जीवन-चर्या का अन्वेषण

हमने यह शोध संस्थान देखा; तन्मयता पूर्वक विद्वत्गण साहित्य के शोध कार्य में लगे हुए हैं। मैं विद्वानों से कहूंगा—जिस तरह साहित्य की साधना, विद्या की आराधना और वाङ्मय का अन्वेषण एवं शोधन महत्त्वपूर्ण कार्य है, उससे भी अधिक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण एक बात और है, वह है अपने आपका अन्वेषण, अन्तरतम को शोधना। व्यक्ति अपने आपको परखे, टटोले, जीवनचर्या का अन्वेषण करे, कहीं उसमें विकार तो नहीं भर आए हैं। अन्वेषण के पश्चात् परिष्करण या संशोधन की बात आती है। यदि जीवन विकार-ग्रस्त है तो उसका शोधन करे, मार्जन करे, बुराइयों को अपने से निकाल फेंके।

आज संसार में शान्ति की बड़ी-बड़ी चर्चायें चलती हैं, परिषदें बैठती हैं, पर काम चल रहे हैं अशान्ति के। बाहरी चर्चाओं और सम्मेलनों की बैठकों से क्या

बनेगा, यदि शांति के सही मार्ग की प्रतिष्ठा नहीं ? शांति का मार्ग है—समता, संतोष, सहिष्णुता और सौजन्य।"

पूना, (फिलोसाफिकल यूनियन)

२५ फरवरी '५५

२३ : धर्म का शुद्ध स्वरूप

धर्म और व्यवहार का सामंजस्य होना अत्यन्त अपेक्षित है। व्यवहार यदि वंचना-पूर्ण होगा, तो धर्म को भी वह बदनाम करेगा। यदि व्यवहार धर्मानुकूल रहे, तो किसकी हिम्मत कि धर्म पर जरा भी आक्षेप कर सके, पर जहाँ कथनी में धर्म रहा, करनी में नहीं रहा, वहाँ धर्म की विडम्बना हुई और उसे अफीम की गोली कहा गया। दूसरों की बात आप छोड़ दीजिये। स्वयं भगवान् महावीर ने कहा है—यदि धर्म को स्वार्थ-पोषण से मिला दिया, यदि उसे भौतिक विषयों से जोड़ दिया, तो वह कालकूट हलाहल विष है, कुगृहीत शस्त्र है अर्थात् धार की ओर से पकड़ा हुआ शस्त्र जिस तरह गृहीता के ही घाव करता है, उस प्रकार स्वार्थपरता से जोड़ा हुआ धर्म सचमुच धर्म नहीं रहता। वह अधर्म बन जाता है, विष बन जाता है। वस्तु का सत्-असत् प्रभाव उसके उपयोग पर आधारित है। चाकू से हाथ भी कट सकता है और कलम भी बन सकती है, जिसका सुन्दर अक्षर लिखने में उपयोग होता है। अतः मैं कहना चाहूंगा कि धर्म के शुद्ध स्वरूप को जीवन में ढाला जाए। यदि ऐसा हुआ तो धर्म सचमुच अमृत सिद्ध होगा, वह जीवन में सच्ची ज्योति जगायेगा। आत्मिक आनन्द का स्रोत उससे फूट पड़ेगा। धार्मिक कहे जानेवाले व्यक्तियों पर इस बात का भारी उत्तरदायित्व है कि वे अपने जीवन में धर्म के शुद्ध स्वरूप को प्रश्रय देते हुए धर्म की, अपने धार्मिकपन की सच्ची प्रतिष्ठा कायम करें।

धर्म के प्रति मनुष्यों की डगमगाती हुई श्रद्धा को सुदृढ़ बनाने के निमित्त, मानव-जीवन में नैतिक और चारित्रक मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठापना के प्रयोजन को लेते हुए अणुव्रत-आन्दोलन का कार्यक्रम चल रहा है। हमने चाहा—एक ऐसा मंच बने, जिसपर सब धर्म, सम्प्रदाय, जाति, वर्ग, और वर्ण के लोग आ सकें। जीवन शुद्धि के कार्यक्रम में बिना किसी भेद और असमंजस के वे भाग लें, ताकि लोक-जीवन में नैतिकता, सत्-चर्या और सात्त्विक व्यवहार विकास पा सकें, जीवन में सच्ची

शाति और सुख का अनुभव किया जा सके। अणुव्रत-आन्दोलन इसीका परिणाम है। मैं चाहूँगा कि देश के सामाजिक कार्यकर्ता, विचारक और साहित्यसेवी इस आन्दोलन के अधिकाधिक निकट आएं, इसकी आत्मा को समझें। स्वयं जीवन में उतारें तथा अन्य लोगों को इस ओर प्रेरित करें।

पूना,
२७ फरवरी '५५

२४ : जैनों की जिम्मेवारी

मनुष्य चाहता है, सब पर उसकी हुकूमत चले, जैसा वह चाहे, उसके प्रतिकूल कोई क्यों बरते, सब कुछ उसके इच्छानुकूल हो। थोड़े में कहूं तो वह पर-नियंत्रण या दूसरों का नियंत्रण करना चाहता है। वह नहीं देखता कि अपने आप पर उसका नियंत्रण है क्या ? वह भौतिक वासना, ऐहिक स्वार्थ, धन लोलुपता आदि दूषित मनोवृत्तियों का क्रीत दास जैसा बना है—इस ओर उसका ध्यान तक नहीं जाता। मैं कहूँगा—आप पर-नियंत्रण को छोड़िये, सबसे पहले आत्मनियंत्रण कीजिये, मनोनिग्रह कीजिये, अपनी इन्द्रियों को अनुशासित बनाइये। परिणामस्वरूप आप जीवन में एक अभिनव स्फूर्ति पायेंगे। नैतिकता, ईमानदारी, सच्चाई, समता, तितिक्षा जैसे सद्गुण जिनसे सही माने मे जीवन बनता है, आपमे विकसित होंगे ! अणुव्रत-आन्दोलन का यही एक मात्र लक्ष्य है कि व्यक्ति मे आत्म-निष्ठा जागे, संयमित वृत्ति पनपे। ऐसा हुए बिना क्या वैयक्तिक, क्या सामाजिक और क्या राष्ट्रीय समस्यायें हल होने की नहीं। लोगो में अणुव्रत-भावना के प्रति अभिरुचि पैदा हो, उस ओर उनका झुकाव बढ़े इसके लिये अणुव्रत-प्रेरणा समारोह जैसे आयोजनों की उपयोगिता है।

अणव्रत-आन्दोलन वैसे तो क्या जैन, क्या जैनेतर सबका आन्दोलन है। इसका किसी सम्प्रदाय विशेष और जाति विशेष से लगाव नहीं, परन्तु जैनों पर इसकी और अधिक जिम्मेवारी आ जाती है क्योंकि इसका उद्गम जैनों से है। इसलिए मैं खास तौर से जैन भाइयों से कहना चाहूँगा कि केवल नाम के जैनत्व से कुछ बनने का नहीं। जैन अर्थात् राग-द्वेषादि आत्म-शत्रुओं के विजेता के अनुगामी इस अर्थ को अपने जीवन-व्यवहार की सात्त्विकता से यदि जैन साबित करें तो वे सच्चे माने में जैन हैं। अणुव्रत-आन्दोलन और क्या बताता है ! यही तो बताता है कि मनोविकारों

को जीतो, अशुचि-व्यवहार को जीतो। अस्तु, अन्त में मैं जैन व जैनेतर उपस्थित भाइयों से यह कहना चाहूँगा कि वे जीवन-शुद्धि के इस विधायक कार्यक्रम में अपना जीवन लगायें।

पूना,
२७ फरवरी '५५

२५ : सच्चा विज्ञान

आज मनुष्य को चरित्र, नीति, संयम, त्याग और श्रद्धा की बहुत बड़ी आवश्यकता है। जब से मनुष्य इन बातों को भूल चला है, उसने बहुत कुछ खोया है, पाया कुछ भी नहीं। भले ही वह इसमें तरक्की या विकास की अनुभूति करे, परन्तु जब वह ठंडे दिमाग से सोचेगा, उसे मालूम होगा कि विकास के नाम पर उसने अपने आपका बहुत बड़ा विनाश किया है। जब मानव में प्राकृतिक प्रेम और वास्तविक श्रद्धा, जो कि मानवीयपन की प्रतीक है, नहीं रही तो आखिर उसमें रहा ही क्या ? आज उसके पैर जमीन पर नहीं टिक रहे हैं, वह पंगु हो गया है, दो कदम चलने के लिए उसे वाहन चाहिये। इस तरह वह प्रकृति को छोड़कर विकृति में आ गया है। आज आप धर्म-ग्रन्थों के पाठ पढ़ते हैं, पर तोता रटन की तरह। धर्म और सत् कर्म से कोई प्यार नहीं रह गया है।

आपको अपने जीवन को भगवत् गीता और भगवान् महावीर के फरमानों से तोलना है। भगवान् महावीर फरमाते हैं—यदि तुमने अहिंसा को सीख लिया तो सब कुछ सीख लिया। ज्ञानी के ज्ञान का सार है—वह किसी को सताये नहीं, दुःख न दे, कष्ट न पहुचाये। ज्ञानी ज्ञान का दुरुपयोग नहीं करता। मूर्ख के पास का ज्ञान ही वितण्डावाद के काम आता है। सच्चा विज्ञान है—अहिंसा, समता। अणुबम और हाईड्रोजन बम जैसे घातक-तत्त्व विज्ञान की देन नहीं। वे मानवके किस काम आयेंगे ? विनाश के लिये ही तो। विज्ञान विनाश नहीं सिखाता। वह तो संसार को शांति और अमन-चैन का पाठ पढ़ाता है। विनाश का हेतु विज्ञान नहीं अज्ञान है।

आज पूर्वजों के गौरव पर फूलना अच्छा नहीं। हमारे पूर्वज ऐसे हुए, वैसे हुए, यह सब कहने से क्या बनेगा ? आप अपने को देखिये—आप कैसे हैं ! आपका जीवन कितना उन्नत और उच्च है ! आप बाह्य जगत में विहार करने के बजाय अन्तःकरण को देखिये, अन्तःस्थल को टटोलिये और जैन धर्म में जिनको व्रत, वैदिक

मे यम और बौद्ध में शील कहा है, उन अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के तत्त्वों को जीवन में उतार, उसे सफल और सार्थक बनाईये।

२६ : चार आवश्यक बातें

पूना में तीन दिन से निरन्तर संस्कृत के उत्तरोत्तर निवामी, महत्त्वपूर्ण आयोजन चल रहे हैं। परसों 'भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट' मे कार्यक्रम चला। मुझे प्रसन्नता हुई—विद्वानों में कितनी जिज्ञासु-भावना वहाँ थी। कल 'तिलक संस्कृत विद्या-पीठ' में दूसरा आयोजन हुआ। पूना के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों से सभा-मंडल खचा-खच भरा था। कितना उत्साह, सद्भाव और ज्ञान के प्रति लगन मैंने विद्वानों में देखी। गत दिन से बढ़कर वह समारोह था। और आज 'संस्कृत वाग्वर्धिनी सभा' मे हो रहा यह समारोह तो और भी अधिक विस्तार लिये हुए है। एक समय था जब कि :—

'हस्तिना ताड्य मानोऽपिन गच्छेज्जैन मन्दिरम्'

ये उक्तिया जैनेतरों मे प्रचलित थीं। जैनों के स्थान में जाने मात्र से लोग नफरत करते थे। वहाँ आज स्वयं जैन-तत्त्व सुनने की उनकी उत्कंठा है, कितनी उदार भावना यह है। उस अनुदारता और विद्वेष पूर्ण भावना के युग मे जैन इससे सर्वथा पृथक् रहे हों, ऐसी बात भी नहीं थी। जैन-व्याकरण मे किसी जैन विद्वान ने 'नित्य-वैरिणाम्' के विवेचन में 'ब्राह्मण-श्रमणम्' सूत्र द्वारा चूहे-बिल्ली की तरह ब्राह्मण और जैन श्रमण को नित्य वैरी के उदाहरण में रखा अर्थात् बिल्ली और चूहे मे जैसे स्वाभाविक वैर है, वैसे ही ब्राह्मण और जैन-श्रमण मे उन्होंने दिखाया। मुझे जैनेतरों एव जैनों मे प्रचलित उक्त दोनों ही बातों पर बड़ी हँसी आती है। कैसा विडम्बनापूर्ण युग वह था, कितना विद्वेष भाव लोगों मे था ? पर हर्ष का विषय है कि लोगों के मन से ये वृत्तिया निकली जा रही हैं। विभिन्न दर्शनो और चिन्तन धाराओं के विद्वान आपस में निकट आते जा रहे हैं, समन्वय पूर्ण वृत्ति वे बरत रहे हैं, यह राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य का परिचायक है। आज का कितना सरल एवं सौहार्द्रपूर्ण अवसर है—एक ओर जैन-श्रमण बैठे हैं, दूसरी ओर ब्राह्मण। आपस मे कितनी सद्भावना, और सहिष्णु वृत्ति है। यह भारतीय संस्कृति के भावी उत्कर्ष का चिह्न है।

अध्यात्म तत्त्व का गवेषण, परिज्ञान, अनुशीलन, जीवन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण

पहलू है। जिसने आत्मा को नहीं जाना, उसने कुछ भी नहीं जाना। जिसने एक आत्मा को जाना, उसने सबको जान लिया। कहा है—

एको भावः सर्वथा येन दृष्टः

सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः

जिसने एक भाव को, एक तत्त्व को सर्वथा-सम्यक्तया देख लिया, उसने सब भावों को, सब तत्त्वों को सर्वथा देख लिया। जो आत्मा को सम्पूर्णतः जानेगा, उसे अनात्म तत्त्व तो सहज भाव से जानने ही होंगे। अतः एक तत्त्व का परिपूर्ण परिज्ञान समस्त तत्त्व का अभिज्ञान कराता है। यह भारतीय ऋषियों की वाणी रही है—'**आत्मावारे दृष्टव्यं, श्रोतव्यको, मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**।' आत्मा ही दर्शनीय है। माननीय और निदिध्यासनीय है। अस्तु, प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्तरतम में अपने आप विश्लेषण करे, पर्यालोचन करे—मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, कहा जाऊँगा, जीवन का सार क्या है, आदि। इससे आत्म-विकार दलित होंगे, सद्वृत्तियां उपस्थित होंगी।

जैन-दर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। अनेक धर्मात्मक वस्तु का निरूपण अनेक अपेक्षाओं को लेते हुए अनेक प्रकार का हो सकता है। एकान्ततः और अत्यन्तः अर्थात् 'यह यों ही है'—के लिये जैन-दर्शन में अवकाश नहीं। जैसे—आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी। आत्मा का मूल स्वरूप कभी नष्ट होता नहीं, इसलिए वह अनित्य है, पर वह एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था में जाता है। एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाता है, इस प्रकार अवस्थान्तर और शरीरान्तर की अपेक्षा से वह नित्य है। इस प्रकार जैन-दर्शन एकान्त नित्यवादी नहीं है। परिणामि-नित्यवाद वहाँ मान्य है।

पूना,
२८ फरवरी '५५

२७ : व्यापारियों से

सुखों के भुलावे में पड़ ज्यों-ज्यों व्यक्ति तृष्णा और लालसा को बढ़ाता है, वह अपने लिये दुःख जुटाता है। लालसा को पूरा करने के निमित्त व्यक्ति उचित-अनुचित की भेद-रेखा को लांघ निंद्य से निंद्य कार्य करने पर उतारू हो जाता है। वह पशु नहीं, मानव है—यह भी वह भूल जाता है। मानवता से हाथ धो दानवता के पल्ले वह बँध जाता है। उसके जीवन में सिवाय विकारों के कुछ बच नहीं पाता। हाय पैसा,

हाय पैसा के धन में वह विवेक खो बैठता है । असत्य, बेईमानी, धोखेबाजी, शोषण आदि जितनी नीची, आत्म गुणों का हनन करने वाली, बुरी वृत्तियां हैं वे उसे घेर लेती हैं । जीवन केवल कहने भर को जीवन रह जाता है । जीवन के जीवन्त तत्त्व उससे लुप्त हो जाते हैं । इसलिये मैं कहना चाहूँगा—मानव तृष्णा और लालसा के चंगुल मे न फँसे । सन्तोष और अपरिग्रही वृत्ति को जीवन मे स्थान दे । सारे के सारे उक्त दुर्गुण स्वतः निर्मूल हो जायेंगे ।

जब व्यापारियों से कहा जाता है कि व्यापार मे अप्रामाणिकता मत बरतो तो वे झट कहते हैं कि यह कैसे हो सकता है ? सरकार बड़े-बड़े कर जो लगा रही है, नैतिकता या प्रामाणिकता से व्यापार करें, तो हमारा कैसे चले । मैं कहूँगा—कर अर्थ के अधिक संग्रह पर ही तो है । यदि संग्रह वृत्ति को व्यापारी छोड़ दें, धन के पहाड़ खड़ा करना न चाहे, सन्तोष को अपना लें, तो जिन समस्याओं और कठिनाइयों की वे दुहाइयाँ देते है, वे स्वतः दूर हो जायेंगी । कुछ लोग परिस्थिति का बहाना बनाते भी देखे जाते हैं कि क्या करें, सारा वातावरण और परिस्थितिया प्रतिकूल हैं, वे जब अनुकूल होंगी तब प्रामाणिकता अपनायेंगे । इस विषय मे मेरा कहना है—यह उनकी आत्म-दुर्बलता है, कमजोरी है । परिस्थितिया अनुकूल बनने पर वे बदल लेंगे, यह कौन-सी बड़ी बात होगी । विशेषता या आत्मोत्कर्ष तो इसमे है कि प्रतिकूल परिस्थितियो और कठिनाइयों के बावजूद आत्म-बल से उनका सामना करता हुआ व्यक्ति न्याय, नीति, सदाचरण और सद्वृत्तियो के मार्ग पर चले । मैं व्यापारी बन्धुओं से कहना चाहूँगा कि वे गहराई से इस बात पर सोचे, मनन करें, जीवन को इस मार्ग पर लगायें ।

व्यापारी ऐसा कहते भी सुने जाते हैं कि यदि वे व्यापार मे प्रामाणिकता लायें तो उनका काम कैसे चलेगा ? वे भूलते हैं, थोड़ी सी परीक्षा करके देखेंगे, तो पायेंगे कि उनकी सत्यनिष्ठा और प्रामाणिकता की कितनी अच्छी छाप उनके प्रति लोगों के मन पर पड़ी है और लोग उनके प्रति कितने अधिक विश्वासशील हो गये हैं । जीवन-शुद्धि के सही ध्येय की पूर्ति के साथ-साथ प्रासंगिक रूप में उनकी व्यापारिक साख भी घटने के बजाय बढ़ेगी । अस्तु, व्यापारी बंधु कम से कम इन चार बातों को अपने जीवन मे अवश्य स्थान दें—

१- विक्रयार्थ किसी भी वस्तु मे मिलावट न करें ।

२—नकली वस्तु को असली बताकर न बेचें।

३—एक प्रकार की वस्तु दिखाकर दूसरे प्रकार की न दें।

४—माप-तौल में असत्य व्यवहार न करें।

पूना,
२८ फरवरी '५५

२८ : शान्ति का सच्चा साधन

आज का मानव विषम समस्याओं और उलझनों के दलदल में बुरी तरह फँसा है। बाहरी सुख-सुविधाओं के पाने के बावजूद उसके जीवन में शांति नहीं। शांति पाने के लिये उसने कितने बड़े-बड़े साधन जुटाये, यांत्रिक विकास, पल भर में प्रलय मचा देने वाले शस्त्रास्त्र उसने आविष्कृत किये पर क्या उसे इनसे शान्ति मिली? शान्ति मिलना तो दूर प्रत्युत वह अशांति में पड़ा। जिनके मूल में अशांति है, उनसे शांति का फल कैसे निकल सकता है? हिंसा से न कभी शांति हुई है और न हो सकती है। शान्ति का सच्चा साधन अहिंसा है। जीवन में अहिंसक वृत्तियां ज्यों ज्यों पनपेंगी, त्यों-त्यों वह शान्त की ओर अग्रसर होगा।

कुछ लोग कहते हैं अहिंसा कायरता है, भीरुता है। वे भूलते हैं। अहिंसा के सत्यस्वरूप को वे नहीं जानते। कहाँ अहिंसा और कहाँ कायरता? कहाँ प्रकाश और कहाँ अन्धेरा? अहिंसक साधना तो ओजपूर्ण साधना है। बहुत बड़े आत्मबल की वहां अपेक्षा है। अहिंसक संकट और मौत से नहीं डरता। वह हँसता-हँसता आत्म-साधना की बलि-वेदी पर अपने को कुर्बान कर देता है, पर मुँह से उफ तक नहीं निकालता जब कि कायर संकट और मौत का नाम सुनते ही थर-थर काँपने लग जाता है और अपने को छिपाने के लिये न जाने कहाँ से कहाँ दौड़ जाता है। जरा सोचिये—क्या अहिंसा और कायरता एक है? मैं कहूंगा दोनों में पश्चिम और पूर्व जैसी विपरीतगामिता है। अहिंसक आत्मबल का नाम तक नहीं होता। अहिंसक दूसरों को मारता नहीं, पीड़ा नहीं देता, पर स्वयं पीड़ा और मरण से उसे जरा भी हिचकिचाहट नहीं होती। क्योंकि अपने जीवन का सार वह जीने या मरने में नहीं देखता। वह सार देखता है आत्म-साधना में।

जीवन-व्यवहार अहिंसामय बने, सत्यमय बने, न्याय और नीतिमय बने, इसके लिए अणुव्रत-आन्दोलन का कार्यक्रम चल रहा है। लोग उसे निकट से देखें, समझें,

जीवन-चर्या में उतारें। उनका जीवन हल्का और सुखमय बनेगा। आत्मा में एक अभिनव उल्लास जाग उठेगा।

पूना,
२८ फरवरी '५५

२६ : पंचसूत्री कार्यक्रम

जो जैन संसार भर की समस्याओं को सुलझाने की क्षमता रखता है, वह आपस मे उलझे, यह उसके लिये कहाँ तक शोभनीय है ? आज समन्वय का युग है, सामंजस्य पूर्ण वृत्ति की माग अधिकाधिक बढ़ती जा रही है। ऐसे युग में आपस मे उलझना, आपसी संघर्षों और झगड़ों मे अपनी शक्ति का दुरुपयोग करना, कहाँ तक उचित है, कुछ समझ नहीं पड़ता। आज आवश्यकता इस बात की है कि लोग अपनी-अपनी मान्यताओं मे मजबूत रहते हुए भी जिन विचारों मे आपस मे ऐक्य है, उनमे एक रहें। मैं समझता हूं, यदि समन्वय और ऐक्य के दृष्टिकोण से खोज करें तो भेदमूलक तत्त्व कम मिलेंगे और अभेदमूलक ज्यादा। आज भेद या ऐक्यमूलक तत्त्वों को मुख्य मानकर चलने की अपेक्षा है, तभी जैनत्व की प्रभावना होगी। और जैन स्वयं अपने आपको आगे बढ़ाते हुए ससार को भी कुछ दे सकेंगे, क्योंकि उनके पास अहिंसा और अनेकान्त जैसे महान् आदर्श जो हैं।

जोधपुर की घटना है, भूदान-आन्दोलन के प्रमुख कार्यकर्ता श्री जाजू जी मेरे पास आये। वे कहने लगे कि जैनों की एकता के लिए आप प्रयास कीजिये। मेरे दिल मे एक ठेस पहुंची। जैनों का पारस्परिक अनमेल दूसरे विचारकों को भी कितना अप्रिय लग रहा है। प्रत्येक जैन-बन्धु को यह अनुभव करना है कि आपसी अमैत्री-भाव, संघर्ष और असमन्वय ये जैनत्व की कितनी अवहेलना करने वाले हैं। इनको मिटाने के लिये उसे बद्धकक्ष होना होगा। सब सम्प्रदाय मिलकर एक हो जायें—यह होने का नहीं। पर इतना तो अवश्य हो सकता है कि जिन-जिन विचारों में सब सम्प्रदायों मे एकता है, उनमे वे एक हो सकते हैं और उन एकतामूलक समन्वयपूर्ण तत्त्वों को मुख्यता देते हुए अनुवर्तन करें तो वे बहुत अधिक निकट आ सकते हैं, और उनकी एक सामूहिक आवाज बन सकती है। इसके लिये मैंने एक पंच-सूत्री कार्यक्रम सोचा है, जिसको पहले भी मैं समय समय पर प्रगट करता रहा हूं। वह यह है :—

१—मंडनात्मक नीति बरती जाय। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाय। दूसरों पर मौखिक या लिखित आक्षेप नहीं किया जाय।

२—दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखी जाय।

३—दूसरे सम्प्रदाय के साधु-संत के प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाय।

४—सम्प्रदाय परिवर्तन के लिये दबाव न डाला जाय। स्वेच्छा से कोई व्यक्ति सम्प्रदाय-परिवर्तन करे तो 'सामाजिक बहिष्कार' आदि के रूप में अवांछनीय व्यवहार न किया जाय।

५—जैन-धर्म के सर्व सम्प्रदाय-मान्य सिद्धान्तों का सगठित प्रचार किया जाय।

यदि सब जैन-बन्धु इस ओर जागरूक होते हुए एकता के इन मूलभूत तथ्यों को जीवन मे प्रश्रय देंगे, तो मुझे विश्वास है, वे आपस मे एक दूसरे के निकट आयेंगे। उनमें आपसी समन्वय, ऐक्य तथा मैत्री-भाव की वृद्धि होगी।

पूना,
१ मार्च '५५

३० छात्राओं का चरित्र निर्माण

'सेवासदन सोसायटी' के कार्यकर्ताओं की इच्छा थी कि मैं यहाँ आऊँ। तदनुसार आज मैं यहाँ आया। सोसायटी की ओर से चलनेवाली विभिन्न शैक्षणिक संस्थाओं को देखा, उनकी गतिविधि देखी। वनस्थली के बाद आजतक महिला शिक्षण की इतनी बड़ी संस्था देखने का अवसर नहीं मिला, जिसमें सुव्यवस्थित सर्वतोमुखी शिक्षण कार्य चलता हो। मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि यहाँ छात्राओं के चरित्र-निर्माण पर बहुत जोर दिया जाता है।

चारित्र ही तो जीवन की सच्ची निधि है, सच्चा वैभव है। यदि चारित्र गया, तो जीवन मे अस्थिपंजर के अलावा बचा क्या ? पशु भी संसार में जीता है, खाता है, पीता है, मानव इतने मात्र को अपना जीवन-भेद मान ले तो फिर मानव और पशु में अन्तर क्या रहा ? तभी तो महाकवि भर्तृहरि ने उनलोगों के लिये जिनके जीवन मे धर्म और चारित्र्य नहीं है कहा है कि—

ते मर्त्य लोके भुवि भार भूता,
मनुष्य रूपेण मृगाश्चरन्ति।

वे इस संसार में सचमुच पृथ्वी पर भार रूप हैं। मानव के रूप में वे पशु हैं।

मैं पूना आया, जितना देख पाया—यहाँ के सांस्कृतिक केन्द्र, विद्या मन्दिर और शोधगृह देखे। मुझे लगा भारत की मौलिक संस्कृति आज भी यहाँ जागृत है। जैसा कि मैं प्रायः कहा करता हूँ—संस्कृति को हम भारतीय या अभारतीय की भेद-रेखाओं में क्यों बाटें। संस्कृति तो दो ही प्रकार की हो सकती है—सत् या असत् की। पर चूंकि भारतीय ऋषियों ने सत् अथवा अध्यात्म की संस्कृति के निर्माण में अपना जीवन दिया। उसे विकसित बनाया इसलिये उस अध्यात्ममयी संस्कृति को हम भारतीय भी कह दिया करते हैं, इस अध्यात्म प्रवण संस्कृति की मैंने जागरूकता यहाँ देखी। अस्तु, अब मैं बहिनों से दो शब्द कहना चाहूँगा—सचमुच नारी के जीवन का बहुत बड़ा महत्त्व है। उनका जीवन ऊँचा हो तो सारे परिवार पर, घर पर उसकी एक छाप पड़ती है और सारा वातावरण वह बदल देती है। इसलिये विद्याध्ययन काल से ही उनके जीवन का निर्माण सत् तत्त्वों के आधार पर हो तो आगे चलकर उनका जीवन बहुत ऊँचा, शालीन और उज्ज्वल बन सकता है। आज बालिकाएँ हैं, वही आगे चलकर शिक्षिकाएँ और माताएँ बननेवाली हैं। भावी संतान उन्हींसे संस्कार पायेगी। इसलिये विद्यार्थिनियों से मैं कहना चाहूँगा कि उन्हें अपने जीवन में अभी से सत्संस्कारों को भरना है, जिसके लिये सत्संगति और सत् साहित्य के अनुशीलन की बहुत बड़ी आवश्यकता है।

हमारे देश की यह परम्परा रही है कि यहाँ पर बाह्यरूप, सौन्दर्य या सजावट की महत्ता नहीं मानी गई। महत्ता मानी गई जीवन के अन्तर-सौन्दर्य की, अन्तर-शुद्धि की, चारित्र्य-विकास की। इसलिये मैं बहिनों से कहना चाहूँगा कि आज के बाहरी दिखावे और फैशन-परस्ती के युग में जब कि व्यक्ति अन्तर चैतन्य को भूलता जा रहा है, बहिनें इस ओर जागरूक रहें, बाहरी सुसज्जा और फैशनपरस्ती जैसी दिखावटी बातों से वे सदा बचें। इससे वे अपने जीवन में सच्चा विकास पायें।

पूना,
१ मार्च '५५

३१ : विद्यार्थी वर्ग का नैतिक जीवन

मनुष्य को विद्यार्थी होना चाहिये। लोक-धारणा ऐसी है कि व्यक्ति पहले विद्यार्थी बनता है और बाद में शिक्षक। पर मैं समझता हूँ कि व्यक्ति पहले

शिक्षक बनता है और फिर विद्यार्थी। जब विद्यार्थी विद्यार्थी रहता है शिक्षक उससे पढ़ता है इस नाते विद्यार्थी शिक्षक है। जब वह शिक्षक होता है वह विद्यार्थियों से पढ़ता है इस नाते वह सच्चा विद्यार्थी तब होता है। इस तरह के व्यावहारिक शिक्षण से ही ज्ञानार्जन किया जा सकता है वरना सिर्फ पुस्तकों का ज्ञान तो पुस्तकों तक ही सीमित रहता है।

आज लोगों के विद्यार्जन का उद्देश्य गलत है। लोग इसलिये पढ़ते हैं कि उन्हे तनख्वाह अधिक मिले, जीवन मे भौतिक सुख-सुविधायें मिलें। शिक्षा का मूल लक्ष्य आजीविका चलाना न होकर जीवन-निर्माण होना चाहिये। वृक्ष का काम है— फल देना, फूल-पत्ते टहनियाँ तो होगी ही ; इसी तरह जीवन-निर्माण के साथ-साथ आजीविका तो चलेगी ही। स्वयं शिक्षक का जीवन बनेगा तो वह विद्यार्थियो का जीवन भी बना सकेगा। एक दीपक से जिस प्रकार सैंकड़ो दीपक जलाये जा सकते हैं इसी प्रकार एक का बना जीवन सैंकड़ों के जीवन का निर्माण कर सकता है।

देश की भावी सम्पत्ति जो बच्चे हैं ; अध्यापकों के हाथ में है। अध्यापक उनका सदुपयोग करेंगे तो वे देश का निर्माण कर सकेंगे। देश मे दो वर्ग ऐसे हैं जो सहजतया नीति का प्रसार कर सकते हैं और वे हैं—अध्यापक और पत्रकार। उन्हे चाहिये वे देश में नीति और ईमानदारी का वातावरण बनायें। इसी तरह शिक्षक भी अपने जीवन को पवित्र रखते हुये बच्चों के जीवन का निर्माण करें। उनका जीवन निर्मल और निष्कपट रहेगा तो उसकी छाप बालकों के कोमल मस्तिष्क पर भी पड़ेगी। बालक पुस्तकों और अध्यापकों की वाणी से नहीं पढ़ता वह तो अध्यापकों के आचार से शिक्षा ग्रहण करता है। अतः शिक्षक का जैसा आचार रहेगा बालक का जीवन भी वैसा ही बनेगा। अणुव्रत-आन्दोलन जो कि नैतिकता की भूमिका पर प्रतिष्ठापित है—अध्यापकों को चाहये वे उसका अनुशीलन करें। यदि वे अपना जीवन तदनुरूप बना लेंगे तो मैं समझता हूँ वे जीवन का कुछ न कुछ लाभ ले लेंगे। वे यह न समझें कि पेट भरना ही जीवन की सफलता है। जीवन की सार्थकता तो है—आत्म-परिमार्जन, आत्मोज्ज्वल्य। अणुव्रत आत्म-परिमार्जन की प्रक्रिया है, धर्म साधना का एक अंग है। हालांकि आज धर्म नाम से लोगों को घृणा सी हो गई है पर मैं समझता हूँ यह धर्म का दोष नहीं, धर्म से कोई भी घृणा नहीं कर सकता और बिना धर्म के व्यक्ति का काम एक मिनट के लिये भी नहीं चल सकता। लोगों को घृणा है धर्म के नाम

पर चलनेवाले ढोंग और पाखण्डों से। धर्म के नाम पर होनेवाली ठगाइयों और धोखा-धड़ियों से। उन्हें घृणा है धर्म के नामपर होनेवाले शोषण और अन्यायों से, धर्म के नाम पर चलनेवाली अनैतिक प्रवृत्तियों से। धर्म का सही स्वरूप जो कि सत्य अहिंसामय आचरण है जिसमें सात्त्विक और निर्लोभ जीवन का महत्त्व है, ऐसे धर्म से कौन घृणा करेगा? मैं समझता हूँ शिक्षक वर्ग धर्म को मद्दे नजर रखते हुए अणुव्रत-आन्दोलन के अनुरूप अपना जीवन बनायेंगे ताकि वे अपने आपकी आत्म उन्नति करते हुये विद्यार्थी वर्ग का नैतिक जीवन बनाने के प्रेरक बनेंगे।

३२ : महिलाओं के कर्तव्य

स्त्री और पुरुष समाज रूपी रथ के दो पाहये हैं। रथ का एक पाहया कमजोर रहेगा तो उसे सुव्यवस्थित ढंग से चलाया नहीं जा सकता। यह और बात है कि पुरुषो और स्त्रियों का कार्य क्षेत्र बँटा हुआ है। पुरुष दफ्तरों व दूकानो आदि मे काम करते हैं, पर घर की महारानियाँ तो स्त्रियाँ ही हैं। वास्तव में घर स्त्री का ही होता है। बिना स्त्री के कैसा घर! पुरुष के बिना घर का काम चल सकता है, लेकिन जिस घर मे स्त्री न हो उस घर का काम चलना मुश्किल है। बहिनों में एक कमी देखने में आती है, उनमें आत्म-श्रद्धा की कमी है। वे सोचती हैं, हम तो अबला हैं, हम क्या कर सकती हैं। अपने आपको महान् कहना दोष है। इसी तरह अपने आपको हीन समझना भी अपराध है। भारतीय नारी हमेशा से जागृत रही है, वह अपने को हीन और कमजोर क्यों समझे?

बहिनों में आज समानाधिकार की भावना जागृत हो रही है। वे पुरुषों से समानाधिकार की मांग करती हैं। यह मुझे ठीक नहीं जँचता। बहिनें किसी के साथ अपनी तुलना क्यों करें और पुरुष भी कैसे आगे बढ़े हुए हैं, जिनके साथ बहिनें तुलना करना चाहती हैं। मैं तो समझता हूँ कितनी ही बातों में बहिनें पुरुषों मे आगे हैं। वे अपने अधिकार की माग कर सकती हैं, बजाय समानाधिकार की माग के। उन्हें तो चाहिए अच्छी बातों में होड़ करें। जिस घर मे महिलाएँ सुशिक्षित और विवेकवती होंगी वह घर कभी बिगड़ नहीं सकता। महात्मा गांधी विदेश जाने को तैयार हुए परन्तु उनकी माता ने इजाजत देने से इन्कार कर दिया। आखिर वे उन्हें एक जैन-साधु के पास ले गईं और पर स्त्री-गमन, शराब, आमिष-भक्षण आदि के प्रत्याख्यान करने पर ही उन्हें जाने दिया। उनके समूचे जीवन पर

उन प्रतिज्ञाओं की पूरी छाप रही। सन्तान को सुसंस्कारित बनाने की बहुत बड़ी जबाबदेही माता पर ही होती है। कहा भी जाता है, जैसा घड़ा होगा वैसी ठीकरी होगी, जैसी माता होगी वैसी डीकरी होगी। अतः उन्हे अपने आचार को सुरक्षित रखना चाहिए।

जब मैं बहिनों के बीच बोलता हूँ, तब उनके गुणो के प्रति मेरा दिल भर जाता है। सरलता, अच्छी बातों के प्रति श्रद्धा, तितिक्षा, सहनशीलता आदि महिलाओं के सहज गुण हैं। इतना सब होते हुए भी उनमें एक अखरने वाली चीज है और वह है, आपसी लड़ाई-झगड़े। सास-बहू झगड़ेगी, जेठानी-देवरानी में नहीं बनेगी। यदि बहिनें इस गृह-कलह को मिटा दें तो कोई कारण नहीं घर स्वर्ग समान न बन जाये। शिक्षित महिलाओं को इस ओर ध्यान रखना चाहिए।

स्त्रियों को फैशन-परस्ती में नहीं फँसना चाहिए। फैशन ने उनका गहन पतन किया है। फैशन समय और अर्थ दोनो की बरबादी है। यदि बहिनें इस बाह्य श्रृंगार के बजाय अपने आन्तरिक रूप का निरीक्षण करेंगी, तो उनका जीवन सुन्दर और सुखी बनेगा। एक बात जो मुझे बहिनो से विशेष रूप से कहनी है, वह यह कि उन्हें पुरुषों से स्पष्ट कह देना चाहिए कि हमें पापपूर्ण प्रवृत्तियो से पैदा किये गये पैसे की कोई आवश्यकता नहीं है। पत्नी सिर्फ पत्नी ही नहीं है वह पुरुष की सहधर्मिणी भी है। उसके द्वारा प्रेम पूर्वक कही गई यह बात पुरुषों के दिल पर पूरा असर करेगी। लोग अर्थ के लिये अनैतिकताओं और शोषणपूर्ण तरीकों को अख्तियार करते हैं, मैं उनसे पूछना चाहूँगा कि वे इस तरह अर्थ संग्रह करके क्या करेंगे? खाने के लिये रोटी और पीने का पानी ही तो चाहिए। सोने चांदी के नीचे दबना तो नहीं है। यदि बहिनें इस ओर प्रवृत्त हुई तो उनकी अगली पीढ़ी ईमानदार और नीति युक्त होगी, उनका जीवन सुधर जायेगा। अणुव्रत-आन्दोलन और क्या है? ऐसे ही नियमों का संकलन उसमें है, जिनके सहारे चलने से जीवन सीधा सादा, शुद्ध और सात्त्विक बनता है। अन्त में मैं बहिनो से कहूँगा कि वे अपने जीवन को सादगी, सच्चाई और ईमानदारी का प्रतीक बनायें। यदि वे गृह-कलह और फैशन से बचेंगी तो उनका जीवन उन्नत और हलका बनेगा और साथ ही साथ देश के भविष्य का नव-निर्माण भी होगा।

नारायनगाँव
९ मार्च '५५

३३ : विद्यार्थी का जीवन

आप विद्यार्थी हैं, विद्यार्थी का अर्थ है ज्ञानार्थी। विद्यार्थी सच्चे ज्ञानार्थी बनेंगे तभी उनकी सफलता है। पुराने जमाने मे ज्ञानार्जन गुरुकुल प्रणाली से होता था। वहाँ संयमी अध्यापक की देख-रेख में वे शिक्षा पाते थे। फलतः उनका जीवन भी अधिकाधिक संयमित और सात्त्विक बनता था। भगवान् महावीर ने फरमाया है—विद्यार्थी को योगी होना चाहिए। योगी का मतलब यह नहीं कि वह जटाधारी, कनफटा या सन्यासी बन जाये, अपितु उसका तात्पर्य है कि विद्यार्थी के विचार योगवन्त हों। योगी जिस प्रकार विलास और बाह्याडम्बर को छोड़कर सादगीमय रहता है, उसी प्रकार विद्यार्थी का जीवन भी सादगी का प्रतीक होना चाहिए। योगी जिस तरह अपने आप पर नियंत्रण रखता है विद्यार्थी को भी चाहिए कि वह उसी प्रकार आत्म नियन्ता बने। उसकी हर प्रवृत्ति मे योग की झलक हो। उसका खान-पान, रहन-सहन आदि प्रत्येक कार्य शान्त, गंभीर और संयमित होने चाहिए।

विद्यार्थी जीवन की तीन विरोधी बातें हैं—शृंगार, अनिष्ट सम्पर्क और प्रणीत रस का भोजन। इनसे वासना और विकारों को उत्तेजना मिलती है। वृक्ष को जिस प्रकार अच्छा जल न मिलने पर वह फलता फूलता नहीं, उसी प्रकार जीवन को उपर्युक्त विरोधी तत्त्व से अलिप्त रखा जाये तो उसमे विकार नहीं बढ़ता। विद्यार्थी को इन चीजो से बचने के साथ-साथ आँख, कान, जबान आदि पर भी संयम रखना चाहिए। उसका जीवन ब्रह्मचारी का जीवन होना चाहिए। ब्रह्म मे लीन रहने से जीवन में ओज और तेज रहता है। विद्यार्थियों को यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि उनका काम सिर्फ डिग्रिया हासिल करना ही नहीं है, अपितु जीवन का निर्माण उनका उद्देश्य है। वे इसको भूल बैठे हैं, इसीका फल है—वे परीक्षा मे अनुत्तीर्ण होने पर आत्महत्या तक कर बैठते हैं। यह कितना बड़ा अज्ञान है। विद्यार्थी जीवन-निर्माण के लक्ष्य को भूलकर अपने जीवन को इस प्रकार न मिटायें।

विद्यार्थी विकृति से बचते हुए प्रकृति में आयें। वे अपने जीवन को भारभूत न बनायें। अध्यापकों पर इसकी बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। वे विद्यार्थियों के जीवन निर्माता है। यदि उनका स्वय का जीवन बना न होगा, तो वे विद्यार्थियों के

जीवन का क्या निर्माण करेंगे ! उन्हें चाहिए कि वे अपनी जवाबदेही को पूर्णरूपेण निभायें।

नारायण गाँव,
१० मार्च '५५

३४ : आचारमय जीवन

संयम पूर्वक जाना ही जीना है। मरना मृत्यु नहीं। मृत्यु है भ्रष्टाचार में जीवन को खपाना। जीना ही जीवन नहीं है, जीवन है आचारमय जीवन। यदि जीवन में आचार है तो वह जीवन वास्तव में जीवन है और यदि वह आचार शून्य है तो उसका जीना भी मरने से कम नहीं है। अणुव्रत आपको जीवन विवेक सिखाते हैं। वे नये नहीं, उनका प्रयोग नया है।

आज देश आजाद है पर आजादी का अर्थ यह नहीं कि चाहे जैसा उचित-अनुचित कार्य करने को आप आजाद हैं। आजादी का तात्पर्य है मर्यादा पूर्वक जीवन। यदि जीवन में मर्यादा नहीं है तो पुस्तकों में पढ़ी धर्म शिक्षाएँ आपके क्या काम आयेगी ! आज राष्ट्र के बच्चे-बच्चे पर यह जिम्मेदारी है कि वे अपने जीवन को मर्यादित बनायें, इसीमें राष्ट्र की भलाई है। ऐसे अवसर पर अणुव्रत आपका मार्ग-प्रदर्शन करने के लिये तैयार हैं।

नारायण गाँव,
१० मार्च '५५

३५ : सफल मनुष्य जीवन

मानव जीवन को पाकर यदि उसे सफल बनाने का नहीं सोचा गया तो वह निरर्थक चला जायगा। भर्तृहरि के शब्दों में, वे मनुष्य जिनमें शील, चारित्र, ज्ञान विद्या आदि गुण नहीं है मनुष्य रूप में पशुवत् हैं। मनुष्य जीवन का प्रारम्भिक अर्थात् बचपन सफेद कपड़े की तरह है। सफेद कपड़े पर जिस प्रकार चाहे जैसा रंग चढ़ाया जा सकता है, उसी तरह बचपन में जीवन को चाहे जैसे संस्कारों से संस्कारित किया जा सकता है।

भारत में पैदा होने वाले प्रत्येक बच्चे का जीवन अहिंसामय होना चाहिए ? आप सब दुःख नहीं, सुख चाहते हैं—मरना नहीं जीना चाहते हैं। कष्ट नहीं, आनन्द

चाहते हैं, फिर दूसरा भी तो आप जैसा ही चाहेगा। तुम्हें चाहिए तुम जैसा नहीं चाहते दूसरों के लिये भी वैसा मत करो। अहिंसा का मतलब है, किसी के प्रति बुरा चिन्तन भी मत करो, मन को साफ रखो, किसी का तिरस्कार मत करो, किसी को घृणित मत समझो, अहिंसा की तरह ही सत्य का अनुसरण करो। झूठ तुम्हारा स्वभाव नहीं विभाव है। जहाँ सत्य सहज ही कहा जा सकता है, वहाँ झूठ बोलने के लिये कुटिलता करनी पड़ती है। इसी तरह चोरी, खान-पान की अशुद्धि, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू आदि से बचकर सात्त्विक जीवन का निर्माण करो।

अध्यापकों के पास देश की बहुत बड़ी सम्पत्ति है। उनका जीवन जितना उच्च और उन्नत होगा, छात्रों का जीवन भी वैसा ही बना सकेंगे। आखिर कपड़ा तो वैसा बनेगा जैसा सूत होगा। अध्यापकों का काम उन्हें सिर्फ अक्षर-ज्ञान देना ही नहीं है, उनका काम है विद्यार्थियों के भविष्य को शुद्ध और उज्ज्वल बनाना। अणुव्रत-आन्दोलन जीवन विशुद्धि का एक आन्दोलन है। आप लोग उसका अनुशीलन कर अपने जीवन को तदनुकूल बनायें तो जीवन सादगी और सदाचारमय बन सकेगा। विद्यार्थियों के जीवन में भी उनके द्वारा आप इन तत्त्वों का संचार कर सकेंगे।

नारायण गाँव,
११ मार्च '५५

३६ : जीवन-निर्माण का महत्त्व

आज के युग में शारीरिक विकास से भी अधिक जीवन-निर्माण का महत्त्व है। आपको चाहिए—अपने जीवन के निर्माण में समय और शक्ति का सदुपयोग करें। जीवन-निर्माण का साधन धर्म है, धर्म से जीवन विकसित होता है। आपको चाहिए कट्टरता और साम्प्रदायिकता में न फँसकर धर्म के सही तत्त्व को जीवन में स्थान दीजिये। मनुष्य की वृत्ति रहनी चाहिए—सच्ची देव ही मेरी है। वह नहीं सोचे कि मेरी देव ही सच्ची है। उसे तो विद्यार्थी बन जहाँ भी सत्य तत्त्व मिले लेना चाहिए।

मानवता को याद रख कर जीवन पथ पर आगे बढ़ने वाला जीवन का सच्चे अर्थों में विकास कर सकता है। उसे चाहिए कि वह मानवता की प्रतीक अहिंसा का अनुसरण करे। अहिंसा कायर नहीं बनाती वह तो वीरों का

भूषण है, वह मारने का आदेश नहीं देती पर मरने से डरना भी नहीं सिखाती। आज अहिंसा का प्रयोग बहुत विकास पा रहा है। उसका प्रयोग सिर्फ दैनिक और सामाजिक जीवन मे ही नहीं राजनीतिक क्षेत्र मे भी हो रहा है। आज इस बात पर जोर दिया जा रहा है कि आततायी को भी मारा न जाये, उसे फासी देने के बजाय उसके हृदय को बदला जाय, उसके विचारों को सुधारा जाय। हिंसा तो रोग के इलाजवत है वह व्यक्ति का साध्य नहीं।

आप लोगों का जीवन अहिंसा मैत्री, और सहिष्णुता बाहुल्य लिये होना चाहिए। अणुव्रत-आन्दोलन मे ये तत्त्व आपको सहजतया मिलेंगे। आप उनका मनन करें, उनसे अपने जीवन को तौले और उनके सहारे अपने जीवन का निर्माण करें।

नारायण गांव,
११ मार्च '५५

३७ : धर्म से जीवन-शुद्धि

हम यहाँ आये, लोगों ने हमारा स्वागत किया, हम जा रहे है, अत. आपने आभार प्रदर्शित किया। पर स्वागत तो उसका होता है जो कुछ एहसान करने के लिये आता है, और आभार उसके प्रति प्रकट किया जाता है जो किसी के लिये कुछ एहसान की बात करता है। हम यहाँ आये, अपनी साधना के लिये और यहाँ काम किया वह हमारी निजी साधना थी। हमने किसी पर कोई एहसान नही किया जो कुछ किया, आभार प्रकट किया, यह उनकी सन्तो के प्रति अन्तःकरण की श्रद्धा का प्रतीक है। महाराष्ट्र प्रदेश के लोगों मे सन्तो के प्रति हार्दिक श्रद्धा है। हम पूना आये, वहाँ के शिक्षित और सास्कृतिक समाज ने सत्कार पूर्वक सदुपदेश सुने। वहाँ से छोटे-छोटे गावों में होते हुए नारायण गाव आये। नागरजनो से भी अधिक देहाती जनता मे श्रद्धा पाई। आज जबकि ससार धर्म को अफीम कहकर पुकारता है, मैं देखता हूँ--महाराष्ट्र की जनता उसे जहर नहीं अमृत समझ रही है और उसका पान करने के लिये वह आतुर है। एक समय था, हिन्दुस्तान में धर्म का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान था। धार्मिक शिक्षा पाने के लिये विदेशो से लोग यहाँ आते थे। पर भारतीय लोगों की श्रद्धा धर्म-कर्म से हटने लगी। वे जीवन मे अनीति अपनाने लगे। फल क्या हुआ? नदियाँ पहले भी बहती थी आज भी बहती हैं, फिर

भी वे अनाज और कपड़े के लिये तड़प रहे हैं। अनाज को बढ़ाने के लिये उन्होंने अन्याय किये, हत्यायें की, चिड़ियों को मारा, फाके को मारा, हरिण, चूहों और म्यूरों को मारा। फिर भी खेती बढ़ी नहीं, बढ़ने के बजाय कुछ घटी ही। आज ट्रैक्टरों से खेती होती है, फिर भी मनुष्य का पेट भर नहीं रहा है, जब कि वह भी समय था जब साधारण हल से खेती करने पर भी मनुष्य खा लेता, पशु-पक्षी खा लेते, फिर भी कितना ही अनाज बच रहता था। मानव की नीति के पीछे वातावरण की गति है। मानव की नीति ठीक है तो सब कुछ ठीक है। नीति में फर्क है तो सब कुछ परिवर्तित हो जाता है। अस्तु भारतीयों की नीति में फर्क आया—येनकेन प्रकारेण पैसा पाना ही उनकी नीति रह गई—चाहे इसके लिये उनके पड़ोसी को दुःख पाना पड़े, शोषण और अन्याय किया जाय। फल यह हुआ कि आज उनकी यह गति हुई। पर महाराष्ट्र की जनता मे जो भावना मैं देखता हूँ मुझे बड़ा आनन्द होता है। उनकी ऐसी भावना देखकर यह विश्वास हो गया है कि संसार मे आज भी धर्म के प्रति श्रद्धा मिटी नहीं है, मूर्च्छित मात्र कही जा सकती है। आज उसे होश मे लाने की आवश्यकता है।

मनुष्य स्वार्थों की चक्की में पिसता जा रहा है। धर्म प्रधान भारत में लोग धर्म प्रचार मे आगे बढना चाहते हैं पर एक दूसरे को मिटा कर। मैं उनसे कहना चाहूँगा कि धर्म के लिये लड़ने-झगड़ने और वातावरण को बिगाड़ने की कोई अपेक्षा नहीं है। लोगो ने समझा धर्म को डडे और तलवार के बल पर रख लेंगे पर धर्म डण्डे और तलवार के बल पर नहीं रहेगा और रहेगा तो वह पाप होगा। धर्म तो हृदय मे रहेगा, जोर-जबरदस्ती मे नहीं। हम अपने विचार सुनायें। अच्छे लगें तो उन्हें अपनाओ। धर्म को किसी पर बलात् थोपने की कोई अपेक्षा नहीं है। मैं चाहूँगा सब लोग एक छत्र के नीचे आयें। वह छत्र होगा सत्य-अहिंसा का, मानवता का, और उसके नीचे आने का मानव-मानव को अधिकार होगा। उसमें समुदाय और पंथ का भेद नहीं रहेगा, ब्राह्मण, बनिये, निर्धन-धनिक, जैन-जैनेतर का कोई भेद नहीं रहेगा। अपने सामने बिना भेद के सुनने वालों को बैठे देखता हूँ, तो मुझे बडी प्रसन्नता होती है। कल ही मैंने एक हरिजन बन्धु से पूछा—"तुमने उपदेश सुना था।" उसने कहा—"नहीं, मैंने सोचा न मालूम मुझे अन्दर जाने देंगे या नहीं।" मैंने कहा—नहीं, तुम्हें सुनना चाहिये था। धर्मोपदेश सुनने का

सबको अधिकार है। भला आकाश से पानी बरसे और प्यासा तरसे यह कभी हो सकता है क्या ? सूरज की धूप सब ले सकते हैं, तब सन्तों की वाणी का लाभ कौन नहीं ले सकता ? मैं उस समय का इन्तजार कर रहा हूँ जब बिना किसी जाति भेद के मानव-मानव धर्म पथ पर प्रवृत्त होंगे। धर्म जीवन की शुद्धि है। जो उसे धारेगा, वह अपना जीवन सुधारेगा।

सन्तों का आगमन जितना हर्षप्रद होता है, गमन भी उतना ही उल्लासमय होना चाहिए। आप स्वार्थी न बनें। आगे भी उपदेश सुनने को उत्सुक आपके ही भाई हैं। आपने जो चार दिन का लाभ लिया—सुबह, शाम, दोपहर, रात सब समय सम्मिलित होकर उपदेश सुना जो धर्म-भावना आपमें जाग्रत हुई : मैं समझता हूँ उसे हमारे साथ विदा नहीं कर देंगे, उसे हृदय मे रखेंगे, जीवन में स्थान देंगे। जिस उत्साह और आनन्द के साथ आपने धर्म का लाभ लिया, उन उपदेशों को आप अक्षुण्ण बनाये रखेंगे, ऐसी मैं आशा रखता हूँ।

नारायणगाँव,
११ मार्च '५५

३८ : आचार सम्पन्न जीवन

दुःख को मनुष्य ने अपने हाथों निमंत्रित किया है। जब व्यक्ति अच्छा रास्ता छोड़ उजड़ चलेगा, उसके काटे चुभेंगे, तकलीफें उठानी पड़ेगी। लोगों ने आचार को छोड़कर, चारित्र विशुद्धि को भूलकर सिर्फ क्रिया काडों को प्रमुखता दे दी है। फलतः लोग जब मंदिरों में जाते हैं वे धर्म को याद कर लेते हैं। लेकिन जब वे बाजार मे आते हैं, यह सोचते हैं यहाँ सचाई और ईमानदारी का कोई काम नहीं, उनकी आवश्यकता तो सिर्फ धर्म स्थान में ही है। फलतः आत्म विजेता बननेवाले जैनों में कहाँ रहा सचाई और ईमानदारी, वैष्णव कहलाने वालों में कहाँ रहा प्रभु के प्रति सचा प्रेम ? यदि जीवन में सत्य, ईमानदारी और प्रभु के प्रति सच्चा प्रेम नहीं है तो बाह्य क्रियाकाडों से क्या होगा ? यदि जीवन मे ये तत्त्व आये तो वह सुखी और उन्नत बनेगा। आपको चाहिए अणुव्रत-आन्दोलन, जो आचार विशुद्धि मूलक आन्दोलन है, द्वारा जीवन को उन्नत और आचार सम्पन्न बनायें।

पीपल,
१२ मार्च '५५

३६ : पूँजीवाद बनाम साम्यवाद

मैं चाहता हूँ, संसार की दो परस्पर विरोधी विचारधाराएँ जो आस्तिक और नास्तिक, पूँजीवाद और साम्यवाद के नाम से चल रही हैं, उन दोनों मे सगम हो, समन्वय हो, तो मानव सुख की साँस ले सकेगा। वाद के प्रसार के लिये भी आज क्या-क्या किया जा रहा है। पहले भी संघर्ष होते थे, पर वे तो जर, जोरू और जमीन के लिये होते थे, जब कि आज विचारों के प्रसार के लिये संघर्ष हो रहे हैं। पूँजीवादी कहते हैं—संसार को पूँजीवाद से संरक्षण मिल सकता है। उधर साम्यवादी कहते हैं—संसार का सच्चा शत्रु है तो पूँजीवाद है। आज ये दोनों संसार के सम्मुख मुंह बाये खड़े हैं, जिससे किसी देश, किसी जाति या किसी राष्ट्र विशेष के नष्ट होने की ही आशका नहीं है, वरन् मानव जाति का ध्वंस तक हो सकता है। लोग कहते हैं—उद्जन बमों और अणुबमों से मनुष्य मर जायेंगे; पशु-पक्षी मर जायेंगे, भूमि नष्ट हो जायेगी. इस विध्वंस से भी अधिक चिन्ता इस बात की है कि मनुष्य, भूमि आदि जो कुछ बचेंगे निकट भविष्य मे उनका सुधार न हो सकेगा। वे लोग जिनके दिमाग पृथ्वी और आकाश में उथल-पुथल मचा रहे हैं, जो आसमान में प्लेटफार्म बनाने की सोचते हैं, जो चन्द्रलोक और मगललोक की यात्राओं की कल्पनाएँ करते हैं, क्या वे नहीं सोच सकते कि मनुष्य किस प्रकार शाति की ओर जा सकता है, आत्म-कल्याण कर सकता है।

आज भिखारियों का जो नग्न रूप दीख रहा है वह देश के लिये अभिशाप की बात है, कलंक है। उनके बढ़ावे में तथाकथित पूँजीपतियों का भी बहुत बड़ा हाथ है। वे पाप पूर्ण तरीकों से पैसा पैदा करते हैं, भला भिखारी न हों तो पुण्य कैसे कमाया जाय ! पाप को छिपाने के लिये भी तो कुछ आड़ चाहिए ! यह ढोंग है, राई की ओट में पहाड़ को छिपाने का प्रयास है। दुनियाँ आपके दान की भूखी नहीं है, आप शोषण छोड़िये। आपकी संग्रह पूर्ण प्रवृत्ति ही निर्धनता की जन्म-दात्री है। पर आज न निर्धन सुखी है और व धनवान ही। गरीब इसलिये दुःखी हैं कि उनके पास खाने को रोटी नहीं, पहनने को कपड़ा नहीं, जीवन की सुख सुविधायें नहीं। धनवान् इसलिये दुःखी हैं कि इस तरह कमाये गये पैसे का सरक्षण कैसे करें ! मृत्यु कर, इन्कम टैक्स आदि नित्य नये कर लगते जा रहे हैं। अस्तु, मुझे पूँजीवाद और साम्यवाद के समन्वय का जो रास्ता बताना है वह है—अहिंसा और

अपरिग्रह की भावना का प्रसार। ये वे तत्त्व हैं जो इन दोनों विरोधी विचारधाराओं में समन्वय करा सकते हैं और इन्हींके सहारे संसार में अमन-चैन और शांति का साम्राज्य स्थापित किया जा सकता है।

आज मनुष्य ईमानदारी, आचार और नीति खो चुका, यह एक खटकने वाली बात है। पर इससे भी अधिक खटकनेवाली बात यह है कि वह श्रद्धा खो चुका, सत्यनिष्ठा खो चुका। एक व्यापारी आज कहता है --ईमानदारीपूर्वक व्यापार चल ही नहीं सकता। वह कपट करता है पर उसे विशेषता नहीं, आवश्यक समझता है। जो व्यक्ति बुरी चीज को बुरी समझने के बजाय अच्छी समझने लगेगा वह उसे कैसे छोड़ सकेगा ? जो तम्बाकू को बुरी समझेगा वह एक दिन उसे अवश्य छोड़ देगा पर जो उसे आज की सभ्यता की, और स्वास्थ्यप्रद चीज समझेगा वह उसे भविष्य में छोड़ नहीं सकेगा। यदि उसमें सत्य-निष्ठा नहीं आई तो उसके लिये बहुत बड़ा खतरा है। ईमानदारी, चारित्र और नीति से भी अधिक कीमत श्रद्धा की है। जब लक्ष्मण को शक्ति लगी, राम ने कहा था - मुझे माता का मोह नहीं है, विमाता के प्रति द्वेष नहीं है, पिता चल बसे इसकी चिन्ता नहीं, लक्ष्मण गिर गया इसका दुःख नहीं, सीता रावण के बगीचे में बैठी है इसका भी कोई विचार नहीं, राज-पाट चला गया इसका भी खेद नहीं, खेद इस बात का है कि मैं विभीषण को लंका का भूप कह चुका, मेरी जबान चली जायेगी। मेरा जीना भी मृत्युवत हो जायगा। इसका नाम है अगाध श्रद्धा। आज आप रामराज्य के स्वप्न देख रहे हैं, पर कहाँ है आपमें वैसी श्रद्धा जैसी राम में थी। आप रामराज्य की कल्पना कर सकते हैं, पर वर्तमान में जैसी प्रवृत्तियाँ आपकी चलती हैं, उनसे वह कल्पना साकार हो जायेगी, ऐसा लगता नहीं।

अणुव्रत-आन्दोलन व्यक्ति को अहिंसा-निष्ठ बनाता है। उसका नारा है— 'संयम ही जीवन है।' विलासिता मृत्यु है। अणुव्रत-आन्दोलन असाम्प्रदायिक और असंकीर्ण आन्दोलन है। इसमें आपको जैन, बौद्ध, वैदिक आदि सभी धर्मों की झलक मिलेगी। अणुव्रत-आन्दोलन व्यक्ति-व्यक्ति में सचाई और ईमानदारी का समावेश करने का प्रयास है। यदि सत्य-निष्ठा पुनः प्रतिष्ठापित हुई तो आज के संघर्षमय वातावरण से संसार विमुक्त हो सकेगा।

संगमनेर,
१५ मार्च '५५

४० : महिलाओं से

श्रद्धा, सहिष्णुता, सहृदयता और चारित्र-जागृति महिला समाज के सहज गुण हैं। यह कहना गलत न होगा कि वे अवश्य ही इस क्षेत्र में पुरुषों से दो कदम आगे बढ़ी हुई हैं। आज जब कि पग-पग पर पुरुष जाति अन्याय और शोषण करते सकुचाती तक नहीं; महिलावर्ग आज भी अपनी संयम और चारित्र की सीमा में है और अपने पूर्वकालिक गौरव को यथासम्भव सुरक्षित व अक्षुण्ण रखती आ रही है। उनके इसी गौरव को स्मरण रखते हुए मैं उनसे यह कहना चाहूँगा कि वे अपने चारित्र-निर्माण के साथ-साथ अपने बच्चों और भाई-बहिनों को भी इस ओर प्रगतिशील बनायें और यह भी सही है कि इस क्षेत्र में बनिस्वत पुरुष जाति महिला जाति कुछ अधिक महत्त्व-पूर्ण कार्य कर सकती है। चारित्र की उत्कृष्टता, मातृ-हृदय का स्नेह और बुराई से बचाने का सहज आकर्षण बाल-बच्चों को अवश्य ही चरित्रनिष्ठ बना सकता है। आवश्यकता है कि महिलायें अपने पूर्वकालिक गौरव को कायम रखते हुये पुरुष जाति का भी इस दिशा में मार्ग-दर्शन करें।

यह माना कि आज की महिलायें शिक्षा के क्षेत्र में भी प्रगति कर रही हैं, पर इसके साथ-साथ पुरुष जाति के साथ समानाधिकार, अप्राकृतिक सौन्दर्य और आकर्षण को बढ़ाने के जो प्रयत्न किये जा रहे हैं, निश्चित है कि वे महिला जाति के विकास में बाधक बन रहे हैं। हर क्षेत्र में समानाधिकार की बात अभीष्ट नहीं होती। फैशनवाद और अप्राकृतिक सौन्दर्य सम्बन्धी जो कार्य महिला समाज में प्रचलित हैं, वे न सिर्फ उनके जीवन को ही बोझिल बना रहे हैं बल्कि पुरुष समाज को भी ज्यादा अनैतिक व चरित्रहीन बनाते जा रहे हैं। उन्हें अपने सद्‌गुणों की वृद्धि करते हुए फैशनवाद से बचना चाहिये और पुरुष जाति को इसके लिये प्रेरित करना चाहिये कि वे भी शोषण और दुराचार छोड़ दें। मैं इस क्षेत्र में आशावान हूँ कि महिलायें अवश्य ही अपनी समस्त आत्मशक्ति को बटोर कर इस ओर प्रयत्नशील होंगी।

संगमनेर,

१६ मार्च '५५

४१ : संयम की आवश्यकता

संसार में दुःख अधिक है सुख कम। सुख स्व वशता—आत्म वशता में है। परवशता दुःख की स्थिति है। संसार मे पग-पग पर परवशता है, फिर सुख की आशा कैसी ! जो जिसके पास नहीं उसे उससे पाया भी कैसे जाये ! मनुष्य की संसार में वैसी ही स्थिति है जैसी पिंजड़े में तोते की। मनुष्य का स्वभाव है कि वह स्वच्छन्द रहना चाहता है। स्वतन्त्रता चाहता है। इसके लिये संयम की आवश्यकता होती है। संयम के अभाव में उसकी स्वच्छन्दता, स्वतन्त्रता और स्ववशता छुट जाती है। इस-लिये आवश्यकता है कि मनुष्य अपनी वृत्तियों का परिमार्जन कर संयम को जीवन में स्थान दे। वह जीवन जीवन नहीं जो संयम विहीन हो ; वह सुख सुख नहीं जो सयम से अनुप्राणित न हो। अतः जीवन को सुख सम्पन्न करने के लिये संयम की बहुत बड़ी आवश्यकता है, जिसकी साधना करना प्रत्येक व्यक्ति का आवश्यक और प्रमुख कर्तव्य है।

राहता,
१८ मार्च '५५

४२ : जीवन का प्रवाह

जीवन एक प्रवाह है। नदी का प्रवाह जिस प्रकार बहता जाता है, यह जीवन भी बहता रहता है। जहाँ बाँध आता है, प्रवाह रुकता है। इसी तरह यह मनुष्य-जीवन, जीवन का एक रुका प्रवाह है। इससे पूर्व भी यह जीवन पशु-पक्षियों आदि विभिन्न योनियो मे रुका है। मनुष्य जीवन सब जिन्दगियों से ऊँचा और उज्ज्वल होता है। हमारे ऋषि-महर्षियों ने इसकी बड़ी गुण-गाथा गाई है। उन्होंने यहाँ तक कहा है कि मनुष्य जीवन मिल गया तो नव निधान मिल गया। इसका मतलब यही है कि मनुष्य जीवन परमात्म-पद तक पहुँचने का सोपान है। उसमे भी विद्यार्थी जीवन बड़ा अच्छा समय है। जहाँ बड़े होने पर जीवन में विकृतिया और विकार भर जाने की सम्भावना रहती है, वहाँ बाल जीवन किसी भी प्रकार की कालिमा लिये नहीं होता। उन्हें सन्तोपदेश का सुअवसर भी इसीलिये दिया जाता है कि उनका जीवन विशुद्ध और जीता जागता रहे।

लज्जा, दया, संयम और ब्रह्मचर्य वे गुण हैं जिनसे विद्यार्थियो का जीवन विकसित होता है, पल्लवित और पुष्पित होता है। आज विद्यार्थियों मे जो उच्छृङ्खलता,

अविनम्रता और उद्दण्डता बढ़ती जा रही है, यह उनके लिये शोभा की बात नहीं। माना उनमें संगठन है, वे अपने हाथों से करें, यह उनके लिये शर्म की बात है। हो सकता है उनके असन्तोष के कारण अधिकारी हों, पर दोनों ओर से शान्तिपूर्ण व्यवहार होना चाहिये। जब दो विरोधी से विरोधी विचारधारायें भी अहिंसा के द्वारा शान्तिपूर्ण समझौता कर सकती हैं, तो भारतीय विद्यार्थी जिनकी रग-रग में अहिंसा के प्रति निष्ठा होनी चाहिये, हिंसापूर्ण तरीकों को क्यों अपनायें ?

अभिभावकों व अध्यापकों पर विद्यार्थियों का जीवन बनाने की बहुत बड़ी जवाबदारी है। उनका जैसा जीवन होगा, विद्यार्थियों का जीवन भी वैसा ही बनेगा। उनके कारनामों का प्रतिबिम्ब विद्यार्थियों के कोमल मस्तिष्क पर सहज ही असर कर जाता है। अतः उन्हें चाहिये वे पहले जीवन को सुधारें, अपने जीवन को चरित्रवान, नीतियुक्त और सदाचार व सादगीमय बनायें।

पण्डित वह नहीं जो औरों को पुस्तकें पढ़ा सके, आगम के गूढ़ तत्त्वों को जान ले। अपितु, पण्डित वह है जिसके कार्य मे आशा, काम, तृष्णा और विकार की भावना न हो, जो ज्ञान रूपी अग्नि में अपने दुष्कर्मों को जला दे। विद्यार्थियो को ऐसा पण्डित बनना है। विद्यार्थियों को चाहिये कि वे नशीली वस्तुओं का परित्याग करें,अपने गुरुजनो के प्रति अशिष्ट व्यवहार न करें, कम से कम विद्यार्थी-जीवन तक ब्रह्मचारी रहे, अनुचित तरीकों से उत्तीर्ण होने का प्रयास न करें। ये बुराइयाँ आपके जीवन-विकास में काटो के समान हैं, आप उनसे अवश्य बचें। अन्त मे मैं यही कहूँगा कि आप जीवन-शुद्धि के लिये प्रयत्नशील रहें। अणुव्रत-आन्दोलन जो कि त्याग की भूमिका पर खड़ा है, जीवन-शुद्धि की प्रक्रिया है, आप उस पर चलकर अपने जीवन का नव-निर्माण करें।

राहता,
२३ मार्च '५५

४३ : धर्म की प्रयोगशाला

धर्म एक प्रयोगशाला है। प्रयोगशाला मे विविध प्रयोग चलते हैं, शोधन किये जाते है। इस प्रयोगशाला का नाम धर्म है, जहाँ जीवन का शोधन किया जाता हो, आत्मा का अन्वेषण किया जाता हो। अन्तरतम को देखने और परखने के लिये बाह्य सौन्दर्यमूलक तत्त्वों की अपेक्षा नहीं, उसे देखने के लिये तो आत्मा को आईना बनाइये,

आत्मा से आत्मा को टटोलिये। वह आपको बतायेगी कि आज आपने कितनी सच्चाई और ठगाई बरती है, कितना सत् और असत् आचरण किया है। आईना आपको ऊपर की स्थिति बता सकता है, अन्तर की नहीं। बहिनें बाह्य प्रसाधनों में समय को बरबाद न कर अन्तर को सजायें। वे विकृति मे न जायें, प्रकृति में आयें। कुलागनाओं की शोभा फैशन में नहीं ; उनका सौन्दर्य है—संयम, शील, सादगी और सदाचार।

महिलाओं का जीवन अपना महत्त्व रखता है। महिलाएँ माताएँ होती हैं। राम, कृष्ण, महावीर और बुद्ध कहाँ से आये, जिनका स्मरण आज भी लोग करते हैं, वे माताओं की देन हैं। बहिनें, समानाधिकार की माग क्यों करती हैं, वे पुरुषों से कितनी आगे हैं। बहिनों को चाहिये वे आत्म-गुणों मे आगे बढ़ें। उनका चारित्र ऊँचा होगा तो वे अपने आप ऊँची हो जायेंगी। यह सीता की महानता का प्रतीक है कि राम से भी पहले उसका नाम आता है। आपसी लड़ाई-झगड़े, कलह और कदाग्रह जीवन में अशान्ति पैदा करनेवाली चीजें हैं। बाहनों को चाहिये कि वे अपने जीवन मे सच्चाई, सादगी, शील, चारित्र और मैत्री जैसे सद्गुणों को उतारें जो जीवन-जागृति के तत्त्व हैं। बहिनें, अपने जीवन को तदनुरूप बनायेंगी तो वे अपने साथ-साथ अपने परिवार का भी आध्यात्मिक स्तर उठा सकेंगी।

आपलोग कहीं भी जाकर पाप करिये—पहाड़ों मे, गुफाओं मे, घने जंगलों मे, परमात्मा आपको हर जगह देखता है। अतः उसका भय रखकर पाप मत कीजिये। परमात्मा और पाप से भय रखनेवाला कायर और कमजोर नहीं बनता, वह तो वीर और सदाचारी बनता है। छिप-छिपकर कुत्सित कार्यों को करना और भी बुरा है, व्यक्ति उन्हे छोड़ने के बजाय और अधिक उनमें ग्रस्त हो जाता है। बहुत से लोग पाप करते हैं और ऊपर से उसकी प्रशंसा भी कर देते हैं। पाप की प्रशंसा करना अन्यान्य लोगों को पापी बनाने का प्रयास है, असत्य तत्त्व का प्रसार करना है। विद्यार्थी यदि अभी से झूठ बोलेंगे तो उनका भविष्य कैसे सुधरेगा ? देश का भविष्य कैसे बनेगा ? इसी तरह विद्यार्थियों को परनिन्दा से बचना चाहिये। निन्दा बुरे की की जाती है। आप अपने आपको देखिये, अपने आपसे अधिक बुरा और कौन होगा। अतः आत्मनिरीक्षण करते हुए बुराइयों से बचें।

भारतीय संस्कृति का मूल विनय है। विनय बिना विद्या नहीं आती। अतः आप विनीत बनिये, तभी जीवन उन्नत बनेगा। इस अवसर पर मैं अध्यापकों और

अध्यापिकाओं से कहना चाहूंगा कि वे विद्यार्थियों को सिर्फ पुस्तकों से ही नहीं, अपने जीवन से शिक्षा दें। उनका जीवन जैसा अच्छा और आचारवान होगा, विद्यार्थियों का जीवन भी वैसा ही सुसंस्कारित बन सकेगा। अतः आप लोग अपने जीवन को बनाते हुए विद्यार्थियों के जीवन का निर्माण करें। यही आपके अपने जीवन, देश व राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य का प्रतीक होगा।

गहता,
२३ मार्च '५५

४४ : अणुव्रत का मूल

व्यक्ति आत्मानुशासित बने, आत्म-निर्भर बने। अणुव्रत-आन्दोलन इसी भावना पर टिका हुआ है। लोग कहते हैं—आज विकास का युग है, विश्व ने बड़ा विकास किया है, पर मैं तो समझता हूं उसने अपना बहुत ह्रास किया है। लोगों ने अपनी प्राकृतिक शक्ति को खोया है। वे पंगु बन गये, बिना वाहन चल नहीं सकते, हाथो से काम नहीं कर सकते, उन्हें आटा, जल आदि सब मशीनों से मिलता है। मनुष्य ने इनसे भी ज्यादा जो खोया है, वह है नैतिकता, मानवता, इन्सानियत और चारित्र। वह इस ओर सोचता तक नहीं यह आश्चर्य की बात है। देश में नीतिमत्ता की स्थापना के निमित्त नाना कार्यक्रम चलते हैं। अणुव्रत-आन्दोलन भी एक ऐसा ही कार्यक्रम है।

आप अणुव्रत-आन्दोलन के सदस्य बनें या न बनें, पर अगर आपको सद्गृहस्थ बनना है, सच्चा नागरिक बनना है तो आपको अणुव्रत-आन्दोलन के अनुरूप जीवन बनाना पड़ेगा। अणुव्रत-आन्दोलन को लेकर देश के गण्यमान्य लोगों से लेकर मजदूरों तक से वार्तालाप हुआ। उन्होंने उसकी सराहना की। लेकिन ज्यों ही मैं उनसे पूछता हूं—'आप इनके अनुसार चल सकते हैं क्या?' वे जटिल परिस्थितियों की दुहाइया देते हैं। मैं उनसे पूछना चाहूँगा—परिस्थितियां पैदा करने वाले कौन हैं। मनुष्य को चाहिये वह उनका डटकर मुकाबला करें और अहिंसात्मक तरीकों से उनको नेस्तनाबूद कर दें। इसके लिए आपको दूसरों की ओर न देखकर अपने आपकी ओर देखना होगा। आप बाजार मे दूध पतला देखकर चिन्ता करते हैं, तो उस समय यह भी सोचिये कि आप स्वयं बाजार मे बैठकर घी और बेजीटेबल घी मिलावट कर बेचते हैं।

अणुव्रती बनने का मतलब है—कम से कम निरपराध को तो संकल्पपूर्वक न मारें, अणुव्रती बनने का मतलब है—वह अपने जैसे आदमी को अस्पृश्य समझकर तिरस्कार न करे, वह मजदूरों से अति श्रम न ले, पशुओं पर अति भार न लादे, उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति मानवता से सज्जित होनी चाहिये। उसे शराब, मास, धूम्रपान प्रभृति मादक चीजों का परित्याग करना चाहिये। वर्षों से पलती आ रही बुरी वृत्तियों को तिलाजलि देकर आपको अपनी व देश की सच्ची सेवा करनी है। अन्त में मैं यही कहूँगा कि अणुव्रती की तीन श्रेणिया हैं—प्रवेशक, अणुव्रती और विशिष्ट अणुव्रती। आप उनके नियमों के सहारे आगे बढ़ते हुए जीवन को शुद्ध और सात्विक बनायें।

राहता,
२३ मार्च '५५

४५ : अहिंसा

अहिंसा शांति का सर्वोत्तम साधन है। पर अहिंसा के विचार फैलने में दिक्कत होती है, वे सहज ही नहीं फैल सकते, वहाँ हिंसा विचार फौरन फैल जाते हैं। किसी भी वस्तु का निर्माण करने के लिए काफी समय चाहिये, वहाँ उसका ध्वंस मिनटों में किया जा सकता है। हम अहिंसा को निर्माण और हिंसा को विध्वंस कह सकते हैं। अन्यान्य राष्ट्रों ने जहाँ हिंसा को प्रश्रय दिया वहाँ भारतीय जनों ने समस्या को अहिंसा से सुलझाने का प्रयास किया। यद्यपि भारत में भी संग्राम हुए, पर वे तब हुए जब कोई भी सम्भव उपाय काम न दे सके।

अहिंसक के सामने जीने और मरने का सवाल नहीं रहता। वह अपने सत्पथ पर कुर्बान होना जानता है। वह जीने में आनन्द और मरने में दुख का अनुभव नहीं करता। एक सच्चा अहिंसक मर कर भी जिन्दा है, पर एक हिंसक जीवित रहकर भी मरा हुआ है। मरने के बाद मानव का मूर्त रूप सामने नहीं रहता। यदि वह रहता तो महात्मा गांधी आज आपको बताते—मैं आज भी जिन्दा हूँ। मेरा भौतिक शरीर मिट गया पर मेरी आत्मा, मेरी निष्ठा और मेरे विचार आज भी जीवित हैं, जागृत हैं, और जन-जन के लिए जीवन-निर्माण के प्रेरक हैं। अस्तु, अहिंसक वह है जो जीवन और मृत्यु दोनों को समभाव से साथ लिये रहता है। आज लोग अहिंसा के सहारे भौतिक अभिसिद्धियाँ और धन-दौलत चाहते हैं, पर मैं कहूँगा अहिंसा से आपको आत्मानंद

मिलेगा, सन्तोष और संयम रूपी धन मिलेगा। हो सकता है गौण रूप से सांसारिक सुख और सुविधायें भी मिल जायें, पर अहिंसा का उपयोग आत्मा को मुक्त करने के उद्देश्य से किया जाना चाहिए।

अहिंसा का आदर्श रूप है—सर्वथा सर्वदा मनो, वाक्, कर्मणा—कृत, कारित, अनुमोदित किसी भी प्रकार की हिंसा न करना। इस आदर्श तक सब पहुँच सकें, यह सम्भव नहीं लगता। और वह आदर्श भी नहीं होता जिस तक जन-साधारण पहुँच पाये या जिस तक कोई न पहुँच पाये। आदर्श वह होता है जिस तक महान् व्यक्ति ही पहुँच पाये। अतः जनसाधारण को चाहिये कि उनके जीवन मे अहिंसा की प्रमुखता रहे। अहिंसा का प्रसार करने का कारण है—संसार की हिंसक शक्तियाँ अहिंसा पर हावी न हो जायें, अपितु, अहिंसा का पलड़ा भारी रहे। जन-जीवन में अहिंसा का प्राबल्य रहे और हिंसा दुर्बल होती जाये। आप लोगों को चाहिये अहिंसामय वातावरण को बनाने के लिए प्रयत्नशील रहें।

राहता,
२४ मार्च '५५

४६ : एलोरा की गुफायें

एलोरा की गुफायें भारत का ही नहीं, विश्व का एक कलापूर्ण क्षेत्र है। यहाँ आने से पूर्व हमने इसके प्राकृतिक दृश्यों और रमणीक स्थलों के बारे में सुना था। प्राचीन समय के शिल्पकारों ने इन्हें किस प्रकार बनाया, यह आश्चर्य की बात है। उस समय की उनकी कलापूर्णता आज के वैज्ञानिकों पर एक विजय है। उस समय जबकि यंत्र नहीं थे; मशीनें नहीं थीं, इतना विशाल और बाकायदा काम का होना आज के यंत्रवाद पर जीत है। गुफाओं मे जैन, वैदिक और बौद्ध संस्कृतियों की त्रिवेणी बही है। ऐसा लगता है, उस समय के आपसी कदाग्रहपूर्ण वातावरण मे भी यह एक समन्वयात्मक प्रयास किया गया था। हमें ऐसी कोई भी मूर्ति दृष्टिगोचर नहीं हुई जो खण्डित न हो। यह समन्वय की प्रतीक इन गुफाओं के प्रति असहिष्णुता की पराकाष्टा है और घृणित मनोभावना का एक नग्न रूप है। व्यक्ति की यह सहज कमजोरी होती है कि वह अपने शत्रु तक न पहुँचकर उसके गाय, बैल या अन्य चीजों को नष्ट करने का प्रयास करता है। एलोरा की गुफाओं के प्रति भी ऐसी ही कुत्सित चेष्टा की गई। मुस्लिम परम्परा के बाद अंग्रेज सरकार ने इनके

महत्त्व को आँका और सुरक्षित रखा और अब ये भारत सरकार की महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति हैं।

कैलास मन्दिर और जैन-गुफाओ आदि की प्रतिमायें देखने से मालूम होता है उस समय के मनुष्यों की शारीरिक स्थिति सशक्त थी। उन्होंने सिर्फ शारीरिक स्वस्थता को ही महत्व नहीं दिया अपितु अपना जीवन अन्तरतम की शोध में लगाया। स्थापत्य काल से भी अधिक महत्त्व आत्मशोधन का है। हमारा चरम लक्ष्य है—परमात्मपद की प्राप्ति और इसके लिये आज जीवन-शोधन की आवश्यकता है।

एलोरा,
३० मार्च '५५

४७ : नागरिकता की कसौटी

भारतवर्ष उदार देश है। उसने समुद्र की नाईं हरेक को आश्रय दिया है। यहाँ वास्तव मे स्वातन्त्र्य का वातावरण रहा है। किसी के विचारों को रौंदा और कुचला नहीं गया, किसी पर विचार थोपे और लादे नहीं गये। पर आज नीति, चारित्र, उच्च आचार और विचार के रूप मे भारत ने अपनी अमूल्य निधि खोई है। एक समय था—जब चारित्र और नीति की शिक्षा के निमित्त विदेशों से लोग भारत आने की सोचते थे। भारत इस माने मे विश्व का गुरु था पर आज वह शिष्य बनता जा रहा है। भारतीयों को चारित्र की शिक्षा देने के लिये बाहर से लोग आते हैं; इस बात का खेद नहीं। यह भारत की उदारता है—उसने अपने आगन्तुकों का तिरस्कार नहीं किया, सम्मान किया है। लेकिन यह हम भारतीयों के लिये शर्म की बात है, चरित्रहीनता का प्रतीक है। ए भारतीयो! यदि आपकी नस-नस में भारतीयता का खून बहता है तो आप उनके सच्चे सपूत बनिये, जीवन को शुद्ध और निष्कपट बनाइये। आपके जीवन का निर्माण बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओ से, बढ़िया मोटरों से, चमचमाती पोशाकों से और विदेशी अन्धानुकरण से नहीं होगा। इसके लिये आपको बाहर देखने की आवश्यकता नहीं है। आपके देश में इतनी सम्पत्ति है कि वह आपके लिये काफी रहेगी।

आज लोग कहते हैं, हमारा पतन हो गया, हमें उठना है। पर सवाल एक ही है—पहले कौन करे? आप अपने आप से शुरूआत करिये। पर दोषदर्शी न बनकर स्वयं की बुराइयों की ओर देखिये। अपने विचारों, अपने नियमों से अपना नियंत्रण

कीजिये। बाहर से लादा गया कण्ट्रोल आपको नियन्त्रित रखे, यह आपके लिए श्रेष्ठ नहीं। इस अवसर पर मैं धार्मिकों, सन्तों, महन्तों और कथावाचकों से कहूँगा कि आप पर जन-जीवन को सच्चे रास्ते पर लाने की बहुत बड़ी जिम्मेवारी है। आप स्वयं यदि पूजी के दलदल मे फँस जाते हैं तो जनता के जीवन के लिए आप क्या कर सकेंगे ? आपको चाहिये कि जीवन मे कुछ करें और जनता को सन्मार्ग पर लायें। यदि जनता का जीवन बुरी प्रवृत्तियों मे खपता है तो यह आपके लिए अच्छा नहीं है। आप यदि सच्चे जैन या वैष्णव हैं तो तदनुरूप जीवन बनाइये। तभी धर्म जीवित रह सकेगा। आज धर्म को जीवित रखने के लिए बाह्य तत्त्वों का प्रदर्शन किया जाता है। बड़े-बड़े नारो को लगाने से और जुलूस निकालने से धर्म नहीं पनपेगा।

अणुव्रत-आन्दोलन धर्म का मूर्त रूप है, अपने आपका आन्दोलन है, व्यक्ति की अमित आकांक्षाओं पर अंकुश लगाने का प्रयास है। पूर्ण ब्रह्मचारी बनने की बात आपको खलती है तो कम से कम व्यभिचारी तो मत बनिये। आप भिखारी नहीं बन सकते पर शोषणपूर्वक धनकुबेर बनने का प्रयास तो मत करिये। इस तरह अणुव्रत-आन्दोलन सच्चे नागरिकता की कसौटी है। आपने मेरा स्वागत किया पर मैं आलंकारिक शब्दों, मानपत्रों और पुष्पमालाओं के स्वागत को सच्चा स्वागत नहीं मानता। सन्तों का सच्चा स्वागत तो यह हैं कि आप सच्चे मानव बनने के रास्ते पर आयें।

औरंगाबाद,
१ अप्रैल '५५

४८ : सच्ची सेवा

'सेवक' शब्द जितना सुन्दर है उसका कार्य भी उतना ही सुन्दर हो तो 'सेवक' नाम की सफलता है। 'सेवक' शब्द मे जितना रस और तत्त्व भरा है मालिक मे उतना नहीं। पर सेवक की सेवा वास्तव मे सेवा होनी चाहिये। सेवा से मतलब है--अपने चारित्र से दूसरों के जीवन को जाग्रत करना। अपने जीवन को त्यागमय बनाना, दुष्प्रवृत्तियों से बचाना, सद्प्रवृत्तियों मे प्रवृत्त करना। पर यह जरा कठिन कार्य है। ध्वंस सहज ही किया जा सकता है, निर्माण मे कठिनाई आती है। गलती बताना सहज है, उसे दुरुस्त करना मुश्किल है। गड्ढे मे गिरना सहज है, पर गिरे हुए

को निकालना, पतित को पावन बनाना कष्ट साध्य है। अस्तु: सच्ची सेवा का अर्थ है—निर्माण। मकान और इमारतों का निर्माण नहीं, पुस्तकों और ग्रंथों का निर्माण नहीं, निर्माण हो जीवन का। एक का निर्मित जीवन हजारों के जीवन-निर्माण का निमित्त बन सकता है। इसका नाम है—सच्ची सेवा।

आपकी अवस्था कच्चे घड़े जैसी है। कच्चे घड़े पर चाहे जैसा लिखा जा सकता है फिर उसके नाश होने तक मिटता नहीं। इसी तरह बाल्यावस्था में डाले गये संस्कार जीवन भर कायम रहते है। आपको चाहिये इस निर्माण-बेला में अपने जीवन को सुसंस्कारित करें। जीवन-निर्माण के लिए धर्माचरण, धर्म श्रवण और निदिध्यासन आवश्यक है। धर्म से मेरा मतलब किसी सम्प्रदाय विशेष से नही है। उसका मतलब है—शुद्ध धर्म से, मानव धर्म से। आपके संस्कारों में अभी से कट्टरता नहीं आनी चाहिए। अभी तो उनमे अहिंसा, शुद्धि और सात्त्विक आचार आने चाहिए। आप कट्टरपन्थी नहीं समन्वयवादी बनिये। भेद को न देखकर अभेद-दृष्टि से देखिये। विचारभेद हो सकते हैं पर उनको लेकर लड़िये-झगड़िये मत। विरोधी से विरोधी शक्तियाँ भी आपस में बैठकर विचार-विमर्श करती हैं, समन्वय करने का प्रयत्न करती हैं। तब धर्म के नाम पर लड़ना हास्यास्पद लगता है। आप समभाव का आचरण करिये और विभाव से बचिये। अहिंसा आत्मा का स्वभाव है और हिंसा उसका विकार। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह मानवता का स्वभाव है वहाँ इनके विरोधा आचरण विकार हैं, विभाव है। आपको स्वधर्म—आत्मधर्म पर कुर्बान होना पड़े तो भी विभाव में मत जाइये, विकारग्रस्त मत बनिये। अपने आपको विकारों में खो देना नरक में जाना है। आप जिस प्रकार संगठन की शिक्षा ग्रहण करते हैं उसी प्रकार चरित्र-निर्माण की कला भी सीखिये। जहाँ भी चरित्र-निर्माण के अनुरूप तत्त्व मिलें उन्हे ग्रहण कीजिये।

अणुव्रत-आन्दोलन जीवन निर्माणात्मक आन्दोलन है। इस पर किसी धर्म विशेष की मुहर नहीं, चारित्र की छाप है। आप इसका अनुशीलन कीजिये। इससे आपके जीवन में सद्गुणों का समावेश होगा। अन्त मे मैं यही कहूँगा कि स्वयंसेवक वह होगा जो अपने जीवन-निर्माण के साथ-साथ अन्यो के जीवन के निर्माण का भी प्रयत्न करेगा।

औरंगाबाद,
२ अप्रैल '५५

४६ : जैन-धर्म के आद्य प्रवर्तक

यह गौरव की बात है कि जैन-धर्म के ग्रन्थों का अनुवाद भारत में ही नहीं, विदेशों में भी होता है। पाश्चात्य लोग उसे गौरव भरी दृष्टि से देखते हैं। हमें इस बात का गर्व है कि जैन-दर्शन आज भी जीता जागता दर्शन है। भारतीयों को चाहिये कि वे जैन-दर्शन के साथ-साथ अन्यान्य दर्शनों का भी अध्ययन करें। पड़ोसी के तत्त्व को बिना पूरी तरह पहचाने व्यक्ति अपने घर के तत्त्व को नहीं पहचान पायेगा। इसलिए अपेक्षा इस बात की है कि लोग अन्यान्य दर्शनों का भी मनन करें। जैन-दर्शन अनादि दर्शन है। उसके तत्त्व हमेशा से चले आ रहे हैं। हो सकता है पूर्व समय मे उसका नाम यह न रहा हो। आज 'जैन' शब्द से जो पहचाना जाता है इससे पूर्व वह निर्ग्रन्थ कहलाता था। इससे भी पूर्व और कुछ कहलाता होगा। नामान्तर हो सकता है, तत्त्वान्तर नहीं। समय-समय पर विमल विभूतियाँ इस सृष्टि पर अवतरित होती रही हैं। भगवान् महावीर आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व ऐसी ही विभूति के रूप में संसार के समक्ष आये। भगवान् महावीर ने अहिंसा की ज्योति जलाई और उसके प्रकाश में उस समय धर्म के नाम पर चलने वाला अन्याय—यज्ञ मे होने वाली पशुओं की ही नहीं मनुष्यों तक की बलिया, स्त्रियों और शूद्रों को धर्म करने से वंचित रखने के अनुचित प्रयास स्पष्ट दीखने लगे। भगवान् ने कहा—जातिवाद अतात्त्विक है, तात्त्विक है—आत्मवाद, गुणवाद। भगवान् से पूर्व भी ऐसी ही २३ विभूतिया और संसार के वक्षस्थल पर आईं जिन्होंने जैन-तत्त्व को जगमगाया। भगवन् तो २४ वीं विभूति थे। इतिहासकार भगवान् महावीर को ही जैन-धर्म के प्रवर्तक मानते हैं यह उनकी गलती है। हो सकता है उन्हें पूरी जानकारी प्राप्त न हो। वेदों में भी उनका कुछ उल्लेख मिलता है इससे लगता है जैन-धर्म वेदों से भी पुराना है। हमे पुराने और नये के पचड़े में नहीं पड़ना है। पुरानी होने से कोई चीज अच्छी नहीं हो जाती और न नई होने से बुरी ही। यदि एक बुरी चीज हजारों वर्षों से अपनाते आ रहे हैं तो—वह बुरी ही है और अगर एक अच्छी चीज अब भी स्वीकार करते हैं तो वह अच्छी ही रहेगी। मैं तो समझता हूँ न कोई चीज नई है और न पुरानी। जब से सत्य चला है झूठ भी तभी से चला है। यह निर्विवाद सत्य है।

भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद जैन तत्त्वज्ञों मे मतभेद होते गये। यह हमेशा होता रहा है कि महापुरुषो के बाद उनके विचारों को लोग विभिन्न अर्थों मे ले लेते

हैं। गीता को ले लीजिये। उसकी इतनी टीकाएँ हुई हैं कि उनको आपस में मिलाने से आकाश-पाताल का अन्तर मिलेगा। जैन—तत्त्वज्ञों में भी इसी तरह भेद-परभेद होते गये, सम्प्रदाय-उपसम्प्रदाय बनते गये। जैन सम्प्रदाय में होते हुए भी मौलिक तत्त्व एक हैं। उनके देव एक, उनके तत्त्व एक, उनका साध्य एक, नमस्कार मंत्र एक है। जैन धर्म में व्यक्तिवाद को महत्त्व नहीं, गुण का महत्त्व है, वीतरागिता का महत्त्व है। उसमें पर-विजय का नहीं, आत्म-विजय का महत्त्व है।

जैन तत्त्व का उपदेश है—पुरुषार्थी बनो। किसी के आगे याचना मत करो। औरों से तो क्या ! परमात्मा से भी याचना करना जैन-तत्त्व का प्रतीक नहीं। परमात्मा की उपासना कर के सन्तान, वैभव और शारीरिक शक्ति याचना करना भगवान् के साथ सौदा है। यह जैन संस्कृति का प्रतीक नहीं। लोग कहेंगे फिर परमात्मा की उपासना कौन करेगा, क्यों करेगा ? एक पतङ्गा नहीं जानता कि दीपक में क्या आकर्षण है। वह उसे वरदान देगा क्या ? फिर भी वह उसके पास जाता है और जल-भुनकर मिट जाता है। इसी तरह यदि सच्चा प्रेम होगा तो व्यक्ति भगवद् उपासना करेगा। लेने-देने की भावना से यदि वह स्मरण करता है तो मैं समझता हूँ वह अपनी क्रिया को निष्क्रिय बनाने का प्रयास करता है। उसका काम है—करते जाना। फल की चाह वह न रखे। जैन-तत्त्व की विशुद्ध मान्यता में तो आत्म-दर्शन का महत्त्व है। यदि एक जैन स्मृति करता, ध्यान करता, प्रार्थना करता मिलेगा तो उसे यही कहते पाओगे कि हे परमात्मा ! मैं आपकी साक्षी से यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि अपनी आत्मा उन्नत और पवित्र बनाऊँगा। मैं अन्याय नहीं करूँगा। अस्तु, पुरुषार्थी बन कर सच्चे पद को प्राप्त करो। तुम्हारा पुरुषार्थ तुम्हारे लिये हितकर होगा। तुम्हारी तपस्या, साधना, उपासना का फल तुम्हें अवश्य मिलेगा। उसे देना किसी की मरजी या मेहरबानी पर निर्भर नहीं है। तुम्हारा काम है—सद्क्रिया करते जाना। अपने साधना-पथ पर बढ़ते जाना। जीवन मे ज्ञान, श्रद्धा, आचरण, चारित्र और तपस्या को स्थान दो। दूसरे शब्दों मे जीवन त्याग और तपस्यामय बनाओ। तीसरे शब्दों में महाव्रत और अणुव्रत के महत्त्व को समझो। उनके अनुसार चलो। आपका जीवन वेशभूषा और शृंगार से नहीं बनेगा उसे बनाने के लिये आत्म-गुणों को जागृत करना होगा और आपको वैसा करना है।

औरंगाबाद,
२ अप्रैल '५५

५० : कागज के फूल

आज की दुनिया इतनी छोटी-सी हो गई है कि उसमें कहीं भी घटित होनेवाली घटना का असर मानव-मानव के मानस-पट पर आता रहता है। दूर से दूर उछलनेवाली युद्ध की चिनगारियों का असर हरएक पर पड़ता है। आज अणुबम के युग में मानव संत्रस्त है; भयभीत है। उसे शान्ति की राह मिले इसके लिये अणु-युग मे अणुव्रत का भी अपना महत्त्व है। अणुव्रत-आन्दोलन मे धर्म, सम्प्रदाय, वर्ग और वर्ण का भेद नहीं। ये भेद तो लोगों ने बना रखे हैं वरना मनुष्य जाति तो एक है। उनमें आकार-प्रकार से कोई भेद नहीं। उच्चता और नीचता की कसौटी जाति और वर्ण नहीं, उसकी कसौटी है—चारित्र अन्तर्वृत्तियाँ। हम यह नहीं मान सकते कि एक जाति में सभी ऊँचे व्यक्ति हैं और एक में सभी हीन। एक जाति में ऊँचे भी मिल सकते हैं और नीच भी। पर इससे समूची जाति ऊँच या नीच नहीं बन जाती। अतः अणुव्रत-आन्दोलन इन अतात्त्विक तत्त्वों से परे है। भला चारित्र उत्थान, नीति और जीवन शुद्धि के तत्त्वों से किसी को कैसे वंचित रखा जा सकता है। चारित्र और नीति की बात कहीं से आये वह आपके लिये आदेय है, उपादेय है। इसमे बाधक ये जातीयता के जड़ बन्धन अब टिकनेवाले नहीं हैं। वे लड़खड़ा उठे हैं। अतः अणुव्रत आन्दोलन को इनसे परे रखा गया है। यह तो मानवता का राजपथ है। इस पर चलने का, इसके अनुरूप जीवन बनाने का मानव-मानव को अधिकार है।

अणव्रत आन्दोलन राजनीति, अर्थनीति और सामाजनीति से प्रत्यक्षतः परे है पर परोक्षतया वह इन सब तत्त्वों को छूता है। इनकी गुत्थियों को सुलझाता है। आज का मानव आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों की दुहाइयाँ देकर जीवन-सुधार के मार्ग से परे रहना चाहता है। मैं पूछना चाहूँगा—परिस्थितियाँ सुधारने से उसका क्या मतलब है? स्त्री मर गई, सम्पत्ति नष्ट हो गई, मकान नहीं रहा अब सन्यासी बनने के अनुकूल परिस्थिति है। क्या इसी का नाम परिस्थिति का सुधारना है! प्रत्येक के पास एक बड़ी-सी इमारत रहे, कार रहे, जीवन की सुख-सामग्री रहे और फिर वह अपने जीवन को सुधारने का प्रयास करे। पर याद रखिये धर्म की याद सुख में नहीं आती यदि वह सुख में की जाय तो दुःख की परिस्थिति ही क्यों आये! आप परिस्थितियों के दास न बनकर चारित्र ऊँचा बनाइये, जीवन उठाइये और मानवता के लायक बनिये।

आप राष्ट्र और देश का उत्थान चाहते हैं, जीवन को सुधारना चाहते हैं तो तदनुरूप चलिये। कागज के फूलों से सुगन्धि नहीं आयगी। आप सुधार के लिये वाग्विडम्बना मत कीजिये। जैसा कहते हैं वैसा बनिये। धर्म-स्थान और धर्म-शास्त्रों की धार्मिकता को अपने जीवन में उतारिये। इसीमें जीवन की सफलता है।

औरंगाबाद,
१ अप्रैल '५५

५१ : महिलाओं का आत्मबल

चारित्रिक बल मे बहिनें पुरुषों से आगे हैं। पुरुषों को चारित्र बल की शिक्षा लेनी है तो इस माने में बहिनें उनकी शिक्षिका होंगी। बाहनों में श्रद्धा, प्रेम, सहिष्णुता, सेवा भाव आदि सहज गुण हैं। पर उनकी एक कमी इन सब गुणों को दबा देती है और वह है—जीवन-जागृति की कमी। उनका आत्मबल जैसा जाग्रत होना चाहिये वैसा नहीं है। बहिनों की यह कमजोरी यदि मिटती है तो मैं समझता हूँ वे सच्ची क्रान्ति कर सकेंगी। कृत्रिम शृंगार के साधनों का प्राबल्य उनके आत्म-गुणों के विकास में बाधक है। बहिनों को इन बाह्य फैशन प्रसाधनों में समय बरबाद न कर आन्तरिक गुणों को जाग्रत करने का प्रयास करना चाहिये।

आज अनीति का बोल-बाला है। पुरुष इसके लिये स्त्रियों पर दोष मढ़ते हैं कि इनकी बेहद माँगों की पूर्ति के लिये हमें ऐसा करना पड़ता है। इसी तरह बहिनें भी पुरुषों पर दोष मढ़ती हैं। ऐसी हालत मे सुधार करनेवाला कहाँ से आयेगा ? वह आकाश से नहीं टपकेगा। मैं तो समझता हूँ बहिनें इस तरफ बहुत कुछ कर सकती हैं। बाहनो ! यदि आपके लिये पुरुषों को रिश्वत लेनी पड़ती है; ब्लैक करनी पड़ती है, अनीति अख्तियार करनी पड़ती है तो आपको उन्हें स्पष्ट कह देना चाहिये कि हमारे लिये ऐसी पापपूर्ण प्रवृत्तियों से उपार्जित पैसा ग्राह्य नहीं है। बहिनों ने जैसा आत्मबल आजादी के संग्राम में दिखाया है आजादी के वातावरण मे उन्हें और अधिक आत्मबल का परिचय देना चाहिये। पुरुषों को भी इससे बड़ा बल मिलेगा, उनकी भी हिम्मत बढ़ेगी।

बहिनें विशुद्ध और विराट प्रेम को पनपायें, असत्य आचार और विचार से बचें, शील-सुरंगी-चूनड़ी (ब्रह्मचर्य) से अपने जीवन को निखारें, लालसा वृत्ति पर अंकुश लगायें। यदि उन्होंने ऐसा करने के बजाय जीवन को विलासिता और पाश्चात्य

अन्धानुकरण में बिताया तो यह भारत की विशुद्ध संस्कृति पर बहुत बड़ा कुठाराघात होगा। पुरुष मान बैठे हैं कि रोटी, पानी और वस्त्र की तरह महिलायें भी उनकी भोग्य-सामग्री ही हैं। उन्हें आत्मबल के साथ कह देना चाहिए कि भोग्य-सामग्री नहीं अपितु जीवन-संगिनी हैं, उनके जीवन को बनाने मे सहायक बनने वाली हैं। यदि बहिनों ने इस तरह अपने चारित्र-बल को अक्षुण्ण रखकर आत्मबल को जाग्रत किया तो मैं समझता हूँ उनका जीवन तो सुधरेगा ही साथ ही उनकी आगामी पीढ़ी भी इन गुणों मे बढ़ी-चढ़ी होगी।

औरंगाबाद,
४ अप्रैल '५५

५२ : जैन-आगमों का अनुवाद

आज चैत्र शुक्ला त्रयोदशी का दिन है। भगवान् महावीर ने आज के दिन जन्म ग्रहण किया था। इसलिए भगवान् महावीर की स्मृति को ताजा करने के लिए लोग नाना तरह से उनका महोत्सव मनाते हैं। कोई गाजे-बाजे, कोई व्याख्यान और कोई किसी अन्य प्रकार से उनकी जयन्ती मनाते हैं। यद्यपि हमारी परम्परा मे जन्म दिन को कोई खास महत्त्व नहीं दिया जाता तो भी आज हमे उनकी स्मृति को सचेतन करना है। पर वह कुछ ऐसे रूप से हो जो जीवन में और इतिहास में स्थायी असर डाल जाये। उनकी स्मृति को हमे अपनी जीवन-दिशा, आचार और विचार को उन्नत बनाने का साधन बनाना होगा। तभी हम उनकी वास्तविक स्मृति कर सकेंगे। अन्यथा ऊपरी दिखावे का कोई महत्त्व नहीं।

वैसे हमारे संघ मे आचार और विचार ये दोनों पक्ष काफी मजबूत रहे हैं। पर मेरी असंतोषी वृत्ति को इनसे संतोष नहीं। आचारपक्ष—महाव्रतों और अणुव्रतों—का हमारा कार्यक्रम चल ही रहा है। हमारे पूर्वजों ने भी इसके लिये बहुत कुछ किया है इसमे कोई सन्देह नहीं। पर मेरी आकाक्षायें और अधिक हैं। श्रावकों में अणुव्रत का मार्ग खुल जाने से एक नई चेतना आई। महाव्रतों के मार्ग पर संघ अग्रसर है ही। इसमें समम-समय पर मैं अपने सुझाव देता ही रहता हूँ। विचार पक्ष में अर्थात् ज्ञान पक्ष मे सिद्धान्तों का वाचन हमेशा चलता ही रहता है पर ४-५ वर्षों से इस सम्बन्ध में मेरे मन मे कई योजनायें आ रही हैं। आज तक उन्हें शुरू और पूर्ण होने का अवसर नहीं मिला। इसके बहुत से कारण

हैं। पर आज इस शुभ अवसर पर इन्हें प्रकाशित करने मे मुझे बड़ी खुशी हो रही है।

पहली योजना है आगम साहित्य का हिन्दी में अनुवाद। आगमों की भाषा प्राकृत भले ही हो पर आज उसके अध्ययन में बड़ी दिक्कतें पड़ती हैं। समयानुसार उसका रूपान्तर—अनुवाद भी किये गये जो टीका, टब्बों आदि के रूप मे हमारे सामने हैं पर आज उनका रूप ऐसा हो गया है कि उन टब्बों को पढ़ने में बड़ी दिक्कत महसूस होती है। उसका कारण भी है। उनकी भाषा भी कुछ ऐसी है जो पुरानी और समझने मे कुछ कठिन है। अतः अब यह आवश्यकता महसूस होती है। कि उनका अनुवाद आज की जन-भाषा और राष्ट्र-भाषा हिन्दी में किया जाय जिससे साधु और श्रावक दोनों को हा आगमों का वास्तविक रस मिल सके। इसी विचार को लेकर हम आज आगमों के हिन्दी अनुवाद का गुरुतर भार अपने कंधों पर ले रहे हैं। हम अपने साधुओं के सामर्थ्य पर इस काम को हाथ में ले रहे हैं।

आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि हमारे आगमों का मूल्य जितना हम नहीं समझ सके उतना महत्त्व विदेशियों ने आँका है। कई आगमों के अंग्रेजी भाषा के अनुवाद इसके प्रमाण हैं। अतः लगता है जैन-ग्रंथों में उनकी अभिरुचि कितनी प्रबल है। जैन-साधओं का तो आगम जीवन है ही पर श्रावकों के लिए भी अपने साहित्य का अध्ययन अत्यावश्यक है। उन्हें अपने घर में तो पहले पहल उजाला करना ही चाहिये। केवल बाहरी उड़ानों मे क्या रखा है? इस अनुवाद-कार्य को जल्दी करने की प्रेरणा हमारे लिए आने वाले तेरापन्थ के द्विशताब्दी महोत्सव के कारण और भी बलवती हो जाती है जिसे अब केवल ५ वर्ष शेष रह गये हैं। मेरा ऐसा संकल्प है कि यदि दूसरी बाधायें नहीं आई तो हम आने वाले द्विशताब्दी महोत्सव के अवसर पर इसे पूर्ण कर लेंगे। इसके लिए सारे साधुओ की दृढ़निष्ठा की आवश्यकता है। इसके लिए हमारे सामने कुछ बाधायें भी हैं। एक तो हम अभी यात्रा कर रहे हैं इससे हमें समय थोड़ा मिल पाता है। दूसरे प्रवास में एक दिन कहीं और दूसरे दिन कहीं की स्थिति मे आवश्यक ग्रंथों की सुविधा नहीं मिल पाती। तीसरे इनके अनुवाद की कापियो के बढ़ जाने पर हमें अपने कन्धों पर उन्हें उठाने के भारी कष्ट का सामना करना पड़ेगा। इस प्रकार अनेक बाधाओं के बावजद हमे अपने आत्मबल को बटोरकर जल्दी से जल्दी इस कार्य में जुट पड़ना है। इसके लिए मैं सारे साधओं का पुनः आह्वान करता हूँ कि वे इस महान् कार्य में तत्परता से जुट जायें। वैसे कोई गृहस्थ भी यदि

अपनी सेवायें देगा तो हम उसे इन्कार नहीं करेंगे। पूर्ण हो जाने पर हम अनुवादों को अपने हस्तलिखित ग्रंथों में सुरक्षित कर लेंगे जिससे सूत्रों के पठन-पाठन में हमे सुविधा रहे।

दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है तेरापन्थ का इतिहास। इससे भी हमे द्विशताब्दी महोत्सव तक पूर्ण करना है। यह हमारा एक बड़ा महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक इतिहास होगा।

औरंगाबाद,
५ *अप्रैल* '५५

५३ : शिविर-जीवन

शिविर-जीवन की अवधि छोटी है पर पाने वाला इस अल्प समय मे भी काफी प्रेरणा पा सकता है। अणुव्रती का जीवन आदर्श होना चाहिये, स्वावलम्बी होना चाहिये, दूसरों को उनके जीवन से कुछ नैतिक प्रेरणा मिलनी चाहिये—ऐसी कल्पना कई बार आती है और मैं समझता हूं कि शिविर ही वह जीवन है जो उनको इस तरह का जीवन बनाने की विशेष रूप से प्रेरणा दे सकता है क्योंकि सह-जीवन से ही व्यक्ति को दूसरों से प्रेरणा मिलती है, अनुभव बढ़ते हैं और विचार-जागृति होती है। अणुव्रती बन्धुओं का ध्येय है—शोषणहीन अहिंसक समाज का निर्माण। यह कार्य वे तभी कर सकेंगे जब उनका जीवन परावलम्बी नहीं होगा, दूसरो से श्रम कराने और करने वालों को नीचा समझने की भावना उनमें न रहेगी। उन्हें भोग-लिप्सा को छोड़कर जीवन को सात्त्विक और सादा बनाना चाहिये। मुझे आशा है कि शिविर-जीवन उन्हें सादगी पूर्ण और सात्त्विक जीवन बिताने के लिये प्रेरणा देगा। अणुव्रती बन्धु अपने जीवन को आदर्श बनाने तक ही अपनी जिम्मेवारी को न समझें। उन्हे अपने जीवन से देश के लाखों-करोड़ों नागरिकों को प्रेरणा देनी है। उन्हे आत्मानुशासन मे रहना है और अपने जीवन को ऊँचा उठाना है।

सन्तोषवाड़ी,
१० *अप्रैल* '५५

५४ : अहिंसा की उपयोगिता

अहिंसा की आवश्यकता सदा से रही है पर आज उसकी अधिक आवश्यकता महसूस की जाती है। ऐसा स्वाभाविक भी है--भोजन भी स्वादिष्ट तभी लगता है जब भूख तीव्र होती है। पेट भरा हुआ हो तो स्वादिष्ट भोजन भी रुचता नहीं। हिंसा के विनाशकारी कारनामों को देखकर मनुष्य उनसे घबरा गया है। विश्व के एक कोने से आता हुआ युद्ध का स्वर विश्व के दूसरे कोने के वासियों को भयभीत कर देता है। कारण क्या है? यही कि मनुष्य युद्ध के भयंकर परिणामों को भुगत चुका है। उसने युद्ध को शान्ति का साधन समझा था पर आखिर युद्ध का परिणाम जो स्वाभाविक रूप से हुआ करता है वही हुआ। खैर, मनुष्य युद्ध के खतरों से चेता है और वह एक स्वर से चाहता है कि युद्ध न हो, हिंसा के काले कारनामे इस धरातल पर अब न हों। उसे अब अहिंसा की भूख है। उसने शांति और सुख के लिये अहिंसा का स्मरण किया है। वह वहाँ उसे अवश्य मिलेगी इसमें शक नहीं।

अहिंसा की उपयोगिता का अर्थ है—मानव-जीवन में शान्ति पैदा करना। हिंसक व्यक्ति का मन शान्त नहीं वरन्, सदैव उद्विग्न रहता है। उसने एक व्यक्ति को मारा। मरने वाले के परिवार के लोग उसके शत्रु बन जाते हैं, उसकी जाति के और उसके राष्ट्र के लोग उसके शत्रु बन जाते हैं; और मौका पाकर उसे मार भी सकते हैं। आखिर क्या यह सम्भव है कि वह अपने दिल को शान्त रख सके? शिकारी को देखिये—वह शिकार करता है। खुश होता है पर उस खुशी में उसकी अन्तरात्मा सहायता नहीं देती। वह तो रोती है और उस बुरे कृत्य के लिये उसे पुनः पुनः फटकारती है। अन्तिम निष्कर्ष यही है कि अहिंसा शान्ति का परम साधन है। वह जीवन के लिये न सिर्फ उपयोगी ही है बल्कि अनिवार्य भी है।

अहिंसा से जीवन में सद्भावना और सहृदयता का विकास होता है। परिवार के, समाज के और राष्ट्र के सदस्यों की कटुता का भी उससे अन्त होता है। मान लीजिये कि आपके परिवार में एक व्यक्ति क्रोधी है। उसे क्रोध आता है। आप स्वयं शान्त रहते हैं। उसका क्रोध अपने आप मिट जाता है। इस तरह समाज और राष्ट्र के पारस्परिक झगड़ों और संघर्षों को भी हम अहिंसा और मैत्री के सहारे

आसानी से सुलझा सकते हैं। अहिंसा की जहाँ पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है वहाँ सिंह और बकरी का जाति-वैर मिट जाता है और दोनों आपस में मित्र बन जाते हैं। यह अहिंसा की शक्ति का उत्कर्ष रूप है। मैं समझता हूँ कि अहिंसा न सिर्फ व्यक्ति के जीवन के लिये ही उपयोगी है बल्कि परिवार, समाज और राष्ट्र के लिये भी उसकी उतनी ही उपयोगिता है। उसकी उपयोगिता को समझ आप उससे जीवन में प्रेरणा पायेंगे—ऐसी मेरी धारणा है।

सन्तोषवाड़ी,
११ अप्रैल '५५

५५ : सर्वोदय और अणुव्रत

'सर्वोदय' और 'अणुव्रत' दोनों शब्द प्राचीन हैं। 'सर्वोदय' शब्द को जैन आचार्यों ने भी काम में लाया है। आचार्य समन्तभद्र ने अपनी वीतराग स्तुति में भगवान् को सम्बोधन करते हुए कहा है :—

सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव

हे प्रभो! सब आपत्तियों का या सबकी आपत्तियों का अन्त करने वाला आपका यह सर्वोदय तीर्थ है। तीर्थधाम में आया हुआ जानकर जैसे व्यक्ति अपने को सुरक्षित मानता है। उसी तरह यह आपका तीर्थ है। इससे मालूम पड़ता है कि 'सर्वोदय' शब्द प्राचीन है। इसी तरह 'अणुव्रत' शब्द का उल्लेख भी जैन-शास्त्रों में जगह-जगह पर आया है।

दोनों शब्द पुराने हैं पर प्रयोग इस रूप में दोनों का ही नया है। पहले ये सर्वोदय और अणुव्रत शब्द केवल एक विशेषण के रूप में प्रयुक्त होते थे आज वे एक विशेष्य के रूप में प्रयोग में आते हैं। पहले अणुव्रत-धर्म केवल श्रावकों से सम्बन्धित था अब वह मानव मात्र के लिए त्याग का पथ बन गया है। शब्द वे ही हैं पर प्रयोग में नवीनता है।

सर्वोदय की भावना है—सबका उदय। **'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः'** सब सुखी हों, सब निरामय (स्वस्थ) हों—कितनी विशाल और व्यापक भावना है यह। किसी व्यक्ति का, किसी परिवार का, किसी समाज या राष्ट्र का नहीं, सबका बिना किसी भेद-भाव के उदय हो। सब उदय के लिए लालायित हों फिर उदय की परिधि को सीमित क्यों किया जाय। सर्वोदय शब्द में भी व्यापकता है। वह उदय उदय

नहीं जिसमें अपना उदय और दूसरों का तिरोभाव हो। वह उदय भी उदय नहीं जिसमें अपना उदय भूलकर दूसरों के ही उदय की कल्पना हो। एक संस्कृत कवि ने सूर्य को सम्बोधित करते हुए कहा है :

तिमिर लहरी गुर्वीमुर्वी करोतु विकस्वरां।
हरतु नितरां निद्रां मुद्रां क्षणात् गुणिनो गणात्॥
तदपि तरणे! तेजःपुञ्जो न मे तव रोचते।
किमपि ति रचन ज्योतिश्चक्रं स्वजाति विजृम्भितम्॥

ऐ सूर्य! तेरा यह तेजपुञ्ज-प्रकाश किसी को रुचिकर लगता होगा पर मुझे तो यह अच्छा नहीं लगता। चाहे तू कितना ही काम करता है, गहरी निशा के अंधेरे को मिटाकर भूतल को प्रकाशित करता है; रात में गहरी निद्रा में सोये हुओं को तू जाग्रत करता है। तू उपकारी है पर तो भी तू मुझे अच्छा नहीं लगता। चन्द्रमा को ही नहीं लाखों टिमटिमाते तारों और दीपकों को तू उदय होते ही अस्त कर देता है। अपनी तेज किरणों को पसारकर तू अपनी जाति को नष्ट कर देता है। इसलिए हे सूर्य! तू मुझे अच्छा नहीं लगता।

जब तक सब की आपदाओं का अन्त नहीं तब तक सर्वोदय नहीं। सर्वोदय के सेवकों का कहना है—सर्वोदय यानी अन्त्योदय—गिरे हुओं का भी उदय।

उनकी दृष्टि में सर्वोदय में बाधक तत्त्व ये हैं :

१—जातिवाद।

२—श्रम को नीचा समझने की भावना।

३—हिंसा, परिग्रह और परावलम्बन।

१—**जातिवाद**—जातिवाद सर्वोदय में इसलिए बाधक है कि उससे उच्चता और नीचता की भावना बनती है। भले ही वह परम्परा कभी अच्छी और हितकर मानी जाती रही होगी पर नीचता और उच्चता की भावना बनने में जातिवाद का बहुत बड़ा हाथ रहा है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। जिस तरह पूँजीवाद का अन्त करना चाहते हैं पर पूँजी का नहीं, उसी तरह जातिवाद के विरोधी जातिवाद का अन्त करना चाहते हैं न कि जातियों का हा। तब पूँजी और जातियां सिर्फ आवश्यकता की वस्तु मात्र रह जायेंगी। ऐसा उनका कहना है और यह ठीक भी लगता है।

२—**श्रम को नीचा समझने की भावना**—श्रम को नीचा समझने की भावना भी सर्वोदय में बाधक है। बड़े-बड़े पूँजीपति उठकर पानी भी पीना नहीं चाहते कारण कि श्रम को नीचा समझा जाने लगा है। अपना कार्य अपने हाथ से करना भी हीनता का सूचक हो गया। पूँजीपति श्रमिकों से काम लेकर उन्हें नीचा भी समझने लगे। इससे स्पर्धा की भावना को बल मिला। हरएक कार्य मे ईश्वर कर्तृत्ववाद की मान्यता की तरह यहाँ पर भी कर्मवाद का अवतरण होने लगा। पूँजीपतियों से झट सुनने को मिल सकता है कि धनवान् और गरीब होना सब कर्म के अधीन है। यद्यपि कर्मवाद भी एक हद तक मान्य है, पर कर्म करने वाले आप स्वयं है। कर्म आपको नहीं बनाता आप कर्म को पैदा करते हैं। आप गठरी को सिर पर रखेंगे, तब गठरी आपके सिर पर आयेगी, अपने आप नहीं। आपको पता होना चाहिये कि नीचे कुल में जनमा हुआ भी लाखों का मालिक बन सकता है। हरिकेशि मुनि चाण्डाल के घर जन्मे थे, पर वे करोड़ो के पूज्य बने। उच्च-नीच की विवक्षा जाति के आधार पर नहीं, गुणवाद से होनी चाहिये। जबतक श्रम को आदर नहीं मिलेगा, श्रम को नीचा माना जायेगा तब तक सर्वोदय नहीं हो सकता।

३—**हिंसा, परिग्रह और परावलम्बन**—हिंसा, परिग्रह और परावलम्बन भी सर्वोदय में बाधक हैं। एक दूसरे को मारने की भावना में सर्वोदय नहीं है, परिग्रह से भी विषमता बढती है और परावलम्बन में दूसरों के श्रम पर जीवित रहना पड़ता है इसलिये ये तीनों भी सर्वोदय के बाधक तत्त्व है।

उपर्युक्त दुर्गुण सर्वोदय में बाधक हैं इसलिए इनको मिटाने की चेष्टा की जानी चाहिए। अणुव्रत आन्दोलन मनुष्य के दुर्गुणों को मिटाने का प्रयत्न है।

सन्तोषबाड़ी,
१२ अप्रैल '५५

५६ : व्यापार और सचाई

व्यापारी बन्धु व्यापार में अन्याय, शोषण और अप्रामाणिकता बरतते हैं इस बात का इतना आश्चर्य नहीं है क्योंकि सचाई और प्रामाणिकता से व्यापार चल ही नहीं सकता, ऐसी धारणा बन चुकी है। दु:ख और आश्चर्य तो इस बात पर होता है कि दृष्टिदोष की वर्तमानता में बुराई को मिटाने का अवसर ही नहीं मिलता। दृष्टिकोण

सही हो तो बुराई के छूटने मे देर नहीं लगती; सिर्फ आन्तरिक प्रेरणा की आवश्यकता होती है। व्यापारी काला बाजार करते हैं, राजकर्मचारी रिश्वत लेते हैं। दोनों एक दूसरे पर दोष मढ़कर अपने को सही ठहराने का प्रयास करते हैं। होता जाता कुछ भी नहीं, बुराई की जड़ और अधिक गहरी होती जाती है। आखिर बुराई से बचने के लिये आत्म-दर्शन की आवश्यकता होती है। बुराई करने वाले को बुराई मे अपना अनिष्ट दीख जाय तभी वह बुराई से बच सकता है। कानून के निष्फल प्रयत्न तो सदैव होते ही हैं। बुराई उससे मिटती नहीं, छिपकर बुराई करने की एक बुराई और घर कर जाती है। उदाहरणस्वरूप शराबबन्दी कानून को लीजिये। देश के कई भागों में शराबबन्दी कानून है पर शराब पीने वाले लुक-छिप कर भी शराब पीते हैं। शराब पीने की बुराई अभी वे समझ नहीं पाये हैं या समझ कर भी उसे छोड़ नहीं पा रहे हैं। इसी तरह व्यापारी वर्ग की बुराई है—उन्होने श्रद्धा ही ऐसी बना ली है कि अनैतिक बुराइयों के बिना व्यापार चल नहीं सकता। मैं समझता हूँ कि उन्होने सचाई से व्यापार चलाने की कभी कोशिश ही नहीं की। मेरे पास कई ऐसे अणुव्रतियो के अनुभव आये है जिनकी सचाई के कारण उनके व्यापार मे उनकी साख जमी है और उनको अधिक लाभ हुआ है। व्यापारी बन्धु क्यों नहीं एक बार सचाई का प्रयोग कर देखते हैं। यह जरूर है कि उसके लिये सचाई और ईमानदारी के प्रति दृढ़ निष्ठा की आवश्यकता है। वह अगर उनमें आ गई तो वे अवश्य ही कार्य मे सफल हो सकेंगे। व्यापारी बन्धुओं को मैं एक बार फिर प्रेरणा देना चाहूँगा कि वे अपने व्यापार में सचाई, ईमानदारी और प्रामाणिकता को स्थान दें।

व्रतों की साधना नदी की अविरल धारा की तरह होनी चाहिये। वह क्या व्रत-साधना जो थोड़ी दूर चलकर ही सूखने वाली नदी की तरह सूख जाये या रुक जाये। व्रतों का धारावाहिक विकास ही जीवन मे कुछ चेतना लाता है और तभी उसमे निखार आती है। अणुव्रतियों को व्रतपालन दर्रे के रूप मे ही नहीं करना चाहिये। उन्हें व्रतों के पीछे रही हुई भावना को सफल बनाना है। भाइयों से तो आशा है ही पर बहिनों से मैं इस विषय में अधिक आशावान हूँ। उनमें कार्य करने की लगन और श्रद्धा की व्यापकता होती है। भाव-प्रकाशन की संकोचशीलता को छोड़ उन्हे अपने आत्मबल के साथ विचारों को सामने रखना चाहिये। भाइयों को कार्य शक्ति के साथ लगन और श्रद्धा मे विकास करना चाहिये।

मेरी समझ में अणुव्रत-आन्दोलन का प्राथमिक प्रचार काफी हो चुका है। प्रचार को प्रमुखता देने की अब आवश्यकता नहीं है, आचार को प्रमुखता देने की आवश्यकता है। फूल में सुगन्ध होगी तो भँवरा अपने आप दौड़ा आयेगा। अणुव्रत के अनुरूप आदर्श अगर अणुव्रतियों में है तो जनता अपने आप उनकी ओर आकर्षित होगी। मेरी भावना को साकार करने का काम अणुव्रतियों का है। अगर एक आदर्श अणुव्रती बनेगा तो एक परिवार आदर्श बनेगा, एक आदर्श परिवार बनेगा तो एक गांव आदर्श बनेगा। मैं ऐसे आदर्श अणुव्रती ही नहीं, वरन् ग्राम-ग्राम में यह आदर्शमय देखना चाहता हूँ।

शिविर के भाई बाहनों ने जो अनुभव प्राप्त किये हैं उनके प्रवाह को वे चालू रखेंगे। अगर वह चलता रहा तो वे अवश्य ही एक आदर्श अणुव्रती बनकर दूसरों के प्रेरणा-स्रोत बन सकेंगे।

सन्तोषवाड़ी,
१२ अप्रैल '५५

५७ : भारतीय नारी के आदर्श

आज से कुछ पहले स्त्रियों को अनादर की दृष्टि से देखा जाता था। वे क्या कर सकती है—ऐसी भावना भी बनी हुई थी, पर आज वह भावना धीरे-धीरे खतम होती जा रही है। महिला-समाज ने भी अपने अस्तित्व को समझा है। वे अपने एक घेरे से जो सिर्फ घर ही था, बाहर निकल रही है और कुछ विकास करना चाहती हैं। विकास का मतलब यह नहीं कि वे अब पुरुषों के साथ घूम सकती हैं, उनसे खुलकर बातें कर सकती हैं या उनकी बराबरी के अन्य कार्य कर सकती हैं। पश्चिमी सभ्यता में पली हुई नारियों की तरह पुरुषों के साथ हर जगह घूमना ही भारतीय नारी का आदर्श नहीं है। भारतीय नारी की शोभा अपने शील और सदाचार में ही है। अगर उसे भंग कर वह दो कदम भी आगे बढ़ती है तो वह विकास की जगह उलटे जीवन के लिये आहतकर है। भावावेश और भौतिक आकर्षणों में न फँस उसे अपने भावी जीवन की दिशा को सोचना है तथा भारतीय नारी के जाज्वल्यमान आदर्श को सदा के लिये कायम रखना है। उन्हें

सत्साहित्य-अध्ययन व प्रतिदिन आत्म-निरीक्षण करते रहना चाहिये। आडम्बर और सौन्दर्य-प्रसाधन में समय को न गँवाकर अपने जीवन को आदर्श और पवित्र बनाना चाहिए।

संतोषबाड़ी,
१५ अप्रैल '५५

५८ : अध्यापक

आजकल के अध्यापक बुद्धिवादी होते हैं। मैं जानता हूँ कि उनमे आध्यात्मिकता और और धार्मिकता के प्रति श्रद्धा कम है। वह होनी चाहिए यह दूर की बात है पर उनके जीवन मे नीति और सदाचार-निष्ठा होनी चाहिए, इससे तो कोई इन्कार नहीं कर सकता। 'नैतिकता' और 'धार्मिकता' शब्द की भावना मे विशेष अन्तर नहीं है। नीति-विहीनता मे मानव अपनी मानवता को खो बैठता है। पशुता का उदय होता है, उससे व्यक्ति का विवेक दब जाता है और तब उसमे भलाई को पकड़ने का सामर्थ्य नहीं रहता। नीति-विहीनता से जिस तरह व्यक्ति अपने जीवन को नष्ट कर देता है उसी तरह उसके कारण दूसरों के जीवन के साथ भी खिलवाड़ हुए बिना नही रहता। एक व्यक्ति एक पदार्थ मे दूसरे गन्दे पदार्थ की मिलावट करता है, किसी से अधिक ब्याज लेकर शोषण करता है, क्रूरता बरतता है, उससे न मालूम कितने नागरिकों के स्वास्थ्य बिगड़ते हैं, कितनों के बसे हुए घर उजड़ जाते हैं। नैतिकता से हीन बनकर समाज टिक सकेगा, और जी सकेगा, इसमे मुझे सन्देह है। भारत नीति प्रधान देश रहा है पर यहाँ के नागरिकों को भी नीति की शिक्षा देने के लिये विदेशों से विशेषज्ञ आते हैं और उन्हे नीति तथा सदाचार की शिक्षा देते हैं। क्या भारतीय नागरिकों में नीति की इतनी कमी आ गई है ? नहीं। आज भी यहाँ के नागरिकों मे नीति के प्रति श्रद्धा तो अवश्य है पर आवश्यकता है उसे बल देने की, पारिपार्श्विक वातावरण को उसके अनुकूल बनाने की।

कुछ शिक्षकों की यह आवाज है कि उन्हें कम वेतन और अधिक खर्च के कारण अनैतिकता से सम्पर्क स्थापन करना पड़ता है। वास्तव में ऐसा करने की उनकी आन्तरिक भावना नहीं रहती। मैं समझता हूँ कि यह कारण भी व्यक्ति को अनैतिक बनाने में सहयोगी बनता है, पर एकान्ततः यह सही ही है ऐसा मैं नहीं मानता। अध्यापकों को भी अपने जीवन मे समाये हुए विलास और फैशन को कम कर जीवन

को सादगी पूर्ण बनाना चाहिये। ऐसा करने से उनकी बहुत कुछ समस्या हल हो सकती है और वे अपने जीवन को अनैतिकता के आचरण से बचा सकते हैं।

राष्ट्र की बहुत बड़ी निधि शिक्षकों के हाथ में सौंपी गई है। वे उन विद्यार्थियों को चरित्र-निष्ठ बनायें, उन्हे जीवन की सही दिशा की ओर अग्रसर करें और अपने जीवन से उनको वैसे ही सक्रिय शिक्षा दें।

संतोषबाड़ी,
१५ अप्रैल '५५

५६ : जैन धर्म में सर्वोदय की भावना

भारतवर्ष अध्यात्म-प्रधान देश रहा है। इसमें मुख्य रूप से जैन, बौद्ध और वैदिक तीन धर्मों की त्रिवेणी बही है। आत्म-कल्याण सबका प्रमुख उद्देश्य रहा है। पूजा-पाठ भी मोक्ष के लिये किये जाते हैं, अष्टांगिक मार्ग की साधना भी मोक्ष के लिये की जाती है, संयम-मार्ग भी मोक्ष के लिये अंगीकार किया जाता है। आखिर लक्ष्य सबका एक है, साधना की पगडडियों में भिन्नता हो सकती है। किसी की साधना स्वल्प होती है और किसी की चरम हो सकती है। जहाँ वैदिक ईश्वरवादी हैं वहाँ जैन और बौद्ध पुरुषार्थवादी हैं, ऐसा प्रायः माना जाता है। परमात्मा के अस्तित्व मे आत्मवादी को आशंका नहीं हो सकती। जहाँ वैदिक प्रत्येक क्रिया को ईश्वर द्वारा कृत मानते हैं वहाँ जैन और बौद्ध प्रत्येक क्रिया को आत्मकृत मानते हैं। उनकी दृष्टि में आत्मा ही परमात्मा है और वे एक नहीं अनेक हैं। पुरुषार्थवादियो का कहना है कि परमात्मा सर्वव्यापी नहीं पर सर्वज्ञ है। ईश्वर किसी का बुरा-भला नहीं करता, आत्मा के सत्कार्य ही भलाई और बुरे काम ही बुराई के हेतु हैं। आत्मा का विकसित रूप ही परमात्मा है। जैन-धर्म अपरिमित परमात्मवाद के सिद्धान्त को मानता है।

जैन-धर्म किसी जाति विशेष से बँधा हुआ होता तो वह सर्वोदय तो क्या अल्पोदय भी नहीं होता। धर्म की भावना सदा सर्वोदय की भावना रही है। वहाँ एक का उदय और एक का पतन जैसी भावना है ही नहीं। उसमे सबके उदय की भावना है। उसके आचरण के लिये जितना एक महाजन अधिकारी है उतना ही एक हरिजन भी, बशर्ते उसकी आत्मा उसे वैसा करने के लिये प्रेरणा दे। अगर वह चाहे तो किसी की ताकत नहीं कि वह उसे धर्म करने से रोक सके। जैन-धर्म में तो यहाँ

तक व्यापकता है कि एक हरिजन भी मुनि और वीतराग बन सकता है। पुराने समय में कई हरिजन जैन मुनियों ने अपनी तपस्या और साधना के द्वारा भूमण्डल को चमका दिया। उन्होंने जातिवाद के गर्व में डूबे हुए व्यक्तियों को यह दिखला दिया कि जातिवाद अतात्त्विक है, थोथा घमंड है। हरिकेशी मुनि का उदाहरण हमारे सामने है जो एक चाण्डाल के घर जन्मे थे। भगवान् महावीर की अहिंसा की परिपूर्ण व्याख्या और उपासना में जातिवाद का कोई स्थान नहीं।

जालना,
१६ अप्रैल '५५

६० : बाह्य स्वच्छता

लोग बाह्य स्वच्छता के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं पर अन्दर के कालुष्य और वृत्तियों के विकार की ओर खयाल तक नहीं करते। आत्मा की शुद्धि किये बिना सिर्फ बाह्य स्वच्छता से ही क्या होगा, कुछ समझ में नहीं आता। अन्तर का विकार पदार्थाश्रित होता है। पदार्थ मे जब अपनत्व की भावना बनती है तब वह विकार पैदा करती है। अपनत्व से ही ममता का प्रादुर्भाव होता है इसलिये उस भावना को मिटाने की आवश्यकता है। वह मिटेगी तभी जब आन्तरिक शुद्धि होगी और आत्मा का वास्तविक स्वरूप निखरेगा।

मोकरधन,
२१ अप्रैल '५५

६१ : त्याग का पथ

व्यक्ति त्याग के पथ पर जितना भी आगे बढ़ेगा उतना ही आत्मा का विकास होगा। त्याग के वास्तविक सुख के लिये आत्मा साक्षी देती है पर भोग में सुख मानकर भी उस सुख में आत्मा का सहकार नहीं होता। आत्मानन्द के लिये त्याग का अवलम्बन आवश्यक है। उसके अभाव में तृप्ति भी अतृप्ति को बढ़ावा देनेवाली है। त्याग के अनिर्वचनीय सुख का रूप आज भी साधु संघ दिखा रहा है। दिन भर के लम्बे विहार और साधु जीवन की कठिनाइयों के बाद भी उन्हें क्लेश और अशान्ति नहीं। वे आत्मानन्द की खोज में लगे हुए हैं, बाह्य सुख-सुविधायें उनके

लिये उतनी अपेक्षित भी नहीं हैं। सभी भाई-बहिन त्याग के वास्तविक आनन्द को समझ उसकी ओर आगे बढ़ेंगे तभी आत्मा का कल्याण हो सकेगा और सच्चे तथा शाश्वत सुख की अनुभूति हो सकेगी।

मोकरधन,
२१ अप्रैल '५५

६२ : अजन्ता की गुफायें

आज अजन्ता की गुफाओं के ऐतिहासिक और सुरम्य स्थल पर हमारा आगमन हुआ है। लगभग एक महीने पूर्व हम एलोरा की गुफाओं पर गये थे पर समयाभाव के कारण हम वहाँ पर स्वाध्याय की पूर्ति नहीं कर पाये थे। सिर्फ रात्रि को थोड़ा समय ही हमें इसके लिये मिला। आज हमने वहाँ की उस कमी की पूर्ति की। एलोरा की गुफाओं मे जहाँ जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों संस्कृतियों की त्रिवेणी बही है वहाँ अजन्ता की गुफाओं मे सिर्फ बौद्ध संस्कृति का ही स्रोत मिलता है। यह सही है कि बौद्ध संस्कृति भी श्रमण संस्कृति है और इस नाते बौद्ध और जैन दोनों मे गहरा सम्बन्ध है। भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध दोनों ने अहिंसा का उपदेश किया और ऐसा प्रतीत होता है कि वे दोनों समकालीन थे। भगवान् महावीर ने जहाँ कठोर चर्या का उपदेश किया वहाँ महात्मा बुद्ध ने मध्यम मार्ग का उपदेश दिया। भगवान् महावीर ने जहाँ सर्वोदय का मार्ग बताया वहाँ महात्मा बुद्ध ने 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' मार्ग का निर्देशन किया। भगवान् महावीर ने रोगो के (दुःखो के) मूल को मिटाने का उपदेश किया वहाँ महात्मा बुद्ध ने रोग-दमन का उपाय बतलाया।

जहाँ बौद्ध धर्म भारत में व्यापक नहीं हो पाया पर विदेशों मे बहुत फैला वहाँ जैन धर्म भारत में टिका रहा, बाहर नहीं फैला और न उसे फैलाने का पूरा प्रयास ही किया गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्रमण संस्कृति ससार को एक बहुत बड़ी देन दे सकती है। हमे अभेद को देखते हुये समन्वय मार्ग को अपना कर चलना चाहिये। ये सास्कृतिक केन्द्र हमे इसी बात की प्रेरणा देते हैं। आज के इस सांस्कृतिक केन्द्र में उपस्थित सर्व साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका समुदाय से मैं कहना चाहूँगा कि वे आत्मा को इस तरह के सांस्कृतिक केन्द्र बनायें जिससे कि आन्तरिक सुन्दरता प्रकाश में आये।

साधु-साध्वियों को चाहिये कि वे अपने पैरों के नीचे संयम मार्ग को रखकर निरुत्तर आगे बढ़ें। आज का यह वातावरण बड़ा शान्त व मनोरम है। एकान्त व मौन साधना करने वालों के लिये यह उपयुक्त स्थान है। पूर्वाचार्यों ने मुझे ही सर्व प्रथम यहाँ आने का मौका दिया इसका मुझे गौरव है। सब साधु-साध्वियों और श्रावक-श्राविकाओं का प्रमुख कर्तव्य है कि वे आत्म-संस्कृति को जन-जन में फैलायें और अपने जीवन को अधिकाधिक संयमोन्मुख बनायें।

अजन्ता,
२१ अप्रैल' ५५

६३ : आपद्धर्म कैसा ?

आज के जन-जीवन पर यदि दृष्टिपात किया जाए तो पता चलेगा कि आज सब अपने को अशान्ति में पाते हैं। वे उससे बेचैन हैं, खिन्न हैं पर मार्ग वही पकड़ रखा है, जो अशान्ति को पैदा करने वाला है। रास्ता लिया जाए अशान्ति का और मंजिल तय करनी चाहें शान्ति की, यह कैसे सम्भव हो सकता है ! मानव को सोचना है कि जिन भौतिक संपदाओं में वह मशगूल बना फिरता है, क्षणभर के लिए सुखमय दीखनेवाले ये पदार्थ अन्ततोगत्वा दुःख के ही हेतु हैं। सच्ची शान्ति और सुख के लिए मनुष्य को आत्मचिन्तन, आत्म-परिष्कार और विकार-विजय का पथ ग्रहण करना होगा। आत्म-चिन्तन का प्रतिफल सद्वृत्तियों में निकलेगा। सद्वृत्तियों से सम्पन्न जीवन ही सुखी एवं सफल जीवन है।

मैं बहुधा कहा करता हूँ, व्यक्ति सबसे पहले अपने आपकी चिन्ता करे, अपने जीवन को ऊँचा उठाने का प्रयास करे। जिसने अपने को नहीं सुधारा, वह दूसरों को क्या सुधार सकता है, और उसके कथन का दूसरों पर क्या असर हो सकता है ! सबसे पहले वह अपने जीवन को परखे, उसमें समाये हुए विकारों को अपने में से निकाल फेंके, उनकी जगह सद्गुणों का संचय करे।

अध्यात्म-धर्म कभी बदलता नहीं। काल, स्थल व परिस्थिति उसमें अन्तर नहीं ला सकती। सत्य युग विशेष या स्थान विशेष में पालनीय है और दूसरे में नहीं, क्या इसकी कभी कल्पना भी की जा सकती है ? आपद्धर्म के नाम से धर्म में अधर्म-तत्त्व शामिल किये गये। यह दौर्बल्य की निशानी है। धर्म के सत्य स्वरूप का

वह परिगोपन है, धर्म के विशुद्ध रूप में आपद्धर्म के लिए कोई स्थान भी नहीं। वह धर्मानुशीलन ही कैसा जो आपत्तियों के बीच विचलित हो उठे।

जलगाँव,
११ मई '५५

६४ : अणुव्रती जीवन

अणुव्रत-आन्दोलन जन-धर्म का जनधर्मात्मक रूप है अर्थात् जैन दर्शन के तात्त्विक सिद्धान्तों की जनसाधारण के दैनिक जीवन में व्यवहारिता लाने का एक उपयुक्त उपक्रम है।

अहिंसा, सत्य आदि का सम्यक्तया परिपालन किया जा सके, यही इसका लक्ष्य है। व्रतों का विशेष वर्गीकरण करने का आशय यह है कि केवल 'अहिंसा' आदि व्यापक अर्थमूलक शब्दों के रखने से स्यात् कोई व्यक्ति शब्दों की आड़ में अपने को बचाते हुए जाने-अनजाने बुराई को भी प्रश्रय दे सकता है। प्रत्येक व्रत का विभिन्न नियमो के रूप मे वर्गीकरण करने का अभिप्राय है व्यक्ति अपनी जीवन चर्या मे—जीवन-व्यवहार में आसानी से सद्वृत्तियों का समावेश करने में सफल हो सके।

हिंसा से हिंसा के टकराने से उसका प्रतिफल हिंसा के रूप में निकलता है। अणुबम से अणबम टकराने का अर्थ होगा जलती आग मे घासलेट का डालना। अणुबम से अणुव्रत की टक्कर अग्नि पर जल-सिंचन का कार्य करेगी। आज के हिंसा एवं अशाति भरे वातावरण मे अणुव्रत शान्ति की एक अव्यर्थ महौषधि है। लोगों को चाहिए कि व्रती जीवन को अपनाकर जीवन मे सच्चे सुख और शाति का संग्रहण करें।

जलगाँव
१२ मई '५५

६५ : अनासक्त भावना

राम ने सीता को न ज्ञापित करते हुए बनवास भेजा। जब रथिक सीता को बियावान जङ्गल में छोड़ रामकी आज्ञा मान कर जाने को उद्यत हुआ तो इस वज्रोपम विपत्ति को धैर्य से झेलकर सीता ने राम के प्रति जो सन्देश कहलवाया, वह कितना सारगर्भित था, जरा सोचो तो सही। सीता ने कहा—"राम से कहें : 'सीता को छोड़ा तो कोई

बात नहीं पर कभी धर्म को न छोड़ दें। राम सच्चे धर्म पर सदा अविचल और अडिग रहें, किसी भी परिस्थिति या मजबूरी में धर्म को न छोड़ें। यही जीवन मे सच्चा मित्र और हितेच्छु है। इसका वे प्राणपण से पालन करें'।" कितने ऊँचे तथा महान् उद्गार थे वे।

दूसरा प्रसंग लीजिये जहाँ आज एक कौड़ी के लिये एक भाई दूसरे भाई का गला काटने को तैयार हो जाता है, वहाँ रामायण में संघर्ष का कारण यह माना जाता है कि राम कहता है मैं राज्य नहीं लूँगा, भरत कहता है मैं नहीं लूँगा, अर्थात् लेने के प्रश्न को नहीं, बल्कि न लेने के प्रश्न को लेकर वे एक दूसरे को दबाते हैं। कितनी अनासक्त और लोभ रहित भावना थी उनकी! आज के अर्थवादी युग मे यह एक अद्भुत प्रेरणा देने वाला जीवन प्रसंग है।

इस प्रकार और भी ऐसे अनेकानेक आख्यान हैं, जिनको यदि गुणग्राहिता की दृष्टि से देखा जाए तो जीवन-शुद्धि की गाढ़ी प्रेरणा मिल सकती है। इसी दृष्टि से लोग प्राचीन वाङ्मय का अनुशीलन करें।

जलगाँव,
१२ मई '५५

६६ : मानव-शुद्धि का आन्दोलन

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आज मानव दिन पर दिन अनीति, अनाचार, विषमता और पारस्परिक द्रोहात्मक मनोवृत्ति मे पड़ अपने आपको नीचे गिराता जा रहा है। ऐसी विषमता मे केवल बातें करने से कुछ नहीं बनेगा, क्रान्ति एवं जोशपूर्ण कदम इसके लिए उठाना होगा, जिसका आधार होगा—अहिंसा, समता, मैत्री, और सद्भावना। व्यक्ति के जीवन का धरातल जब तक इन सद्गुणों से परिशुद्ध नहीं बनेगा, तब तक उसमे सुधार आने की गुंजाइश नहीं। अतः आज मानव-मूल को सुधारना है। अणुव्रत-आन्दोलन मानव-शुद्धि का आन्दोलन है। मानवता प्रेमी मंडल के कार्यकर्ता मानव मे सच्चे मानवपन को लाने के लिए जो आत्मशुद्धि मूलक वृत्ति रखते हैं, उससे मानव को ऊँचा उठने की प्रेरणा मिलेगी। मानव-समाज से मैं कहना चाहूँगा कि वह अपने आपको टटोलकर देखे कि वह केवल कहने भर का तो मानव आज नहीं रह गया है? मानवोचित सद्गुण उसमें कहाँ तक हैं? क्योंकि केवल मानवीय हाड़ माँस के पुतले का नाम तो मानव नहीं है। सच्चे मानव

का अर्थ है—मानवीय गुणों को धारण करनेवाला सत्कर्म निष्ठ व्यक्ति। ये बातें मानव में नहीं हैं तो कविवर भर्तृहरि के शब्दों मे वह—

साक्षात् पशुः पुच्छ विषाणहीनः

—साक्षात् पशु है। मानव पशु न बने, दानव न बने, वह सही माने में मानव बने, इसके लिए उसे प्राणपण से चेष्टा करनी है। अणुव्रत-आन्दोलन के नियमों के गठन में इस बात का खास तौर से ध्यान रखा गया है कि मानव-जीवन के मूलभूत सद्गुणों को लेते हुए उनकी रचना हो। किसी भी संस्था, संगठन, वर्ग व कौम का व्यक्ति इनमे आ सकता है। आप लोग इस आन्दोलन को अधिक निकटता से देखेंगे, समझेंगे, ऐसी आशा है।

जलगाँव,
१४ मई '५५

६७ : परिग्रह का परित्याग

आज जहाँ पैसे के लिए एक भाई दूसरे भाई का गला काटते नहीं सकुचाता, तिल मात्र स्वार्थ के लिए एक दूसरे का बड़े से बड़ा नुकसान करते हुए नहीं हिचकिचाता वहाँ आज इन दो मुमुक्षुओं ने जीवन भर के लिए परिग्रह का परित्याग किया है। मनुष्य तो क्या कीट-पतंगे तक को न सताने की महती प्रतिज्ञा इन्होने की है। आज से इनका जीवन अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का प्रतीक रहेगा। ये प्राणपण से इनका पतिपालन करेंगे, क्या यह मानव समाज के लिए आदर्श नहीं है! जलगाँव के इस सुभाष चौक मे संपन्न हुआ आज का यह तितिक्षामय आध्यात्मिक कार्यक्रम वास्तव मे इस नगर के इतिहास का एक अनुपम पृष्ठ है। आज के इस प्रसंग पर मैं समग्र उपस्थित बन्धुओं एवं बहिनों से कहना चाहूँगा कि वे यथाशक्ति त्याग-प्रत्याख्यान कर जीवन को हल्का बनायें। क्रोध, पारस्परिक वैमनस्य जैसी कलुषित वृत्तियों को वे जीवन से निकाल फेंके। अभ्यास के रूप में एक बार कम-से-कम पन्द्रह दिनों के लिए तो वे यह साधना अवश्य करें। व्यापारियों से मैं कहूँगा कि वे अपने व्यापारिक जीवन से अनैतिकता दूर करें। कम तौल-माप, असली में नकली की मिलावट आदि प्रवृत्तियों से वे अपने को बचायें। एक साथ जीवन भर के लिए इन बुरी आदतों को छोड़ने की क्षमता उनमें न हो तो अभ्यास के निमित्त एक समय विशेष के लिये इनका परित्याग करें।

आप लोग जानते हैं, हमारे जीवन का लक्ष्य है अध्यात्म-साधना ; इसमें स्वयं आगे बढ़ना तथा औरों को इस तरफ प्रेरित करना। आप यह भी जानते हैं कि शिविर के पीछे एक विशेषण लगा हुआ है आध्यात्मिक, अर्थात् वह शिविर जो अध्यात्म-भावना का बालकों में प्रसार करना चाहता है। यह विशेषण ही एक ऐसा कारण है, जिससे हम तथा हमारे साधु शिविर के छात्र-छात्राओं को अपना इतना समय देते रहे हैं। हमारा आकर्षण और लगाव अध्यात्म के अतिरिक्त और कहाँ हो सकता है? आप जो अपने सामाजिक और सांसारिक कार्य करते हैं, उनसे हमारा कैसा लगाव? अस्तु, जीवन में अध्यात्म वृत्ति का विकास हो, इसके लिए मनुष्य को सदा जागरूक रहना होगा कि वह दूसरो के प्रति अपने मन में कभी वैषम्य और द्रोहमूलक भाव तो नहीं रखता है। उसे महसूस करना चाहिए कि संसार में सब जीव उसीके समान हैं। जैसे उसे विपरीत वर्तन से कष्ट होता है, उसी तरह औरों को भी होता है। फिर उन्हें कष्ट क्यों दिया जाए? उसके सामने आदर्श होना चाहिये—

अय निजः परोवेत्ति, गणना लघुचेतसाम्।
उदार चरितानां तु, वसुधैव कुटुम्बकम्॥

'वसुधैव कुटुम्बकम' के आदर्श को लेकर चलनेवाला व्यक्ति हिंसा, शोषण और पर-दमन से बहुत कुछ बच सकेगा।

धर्मनिष्ठ व्यक्तियों को यह चिन्ता करने की अपेक्षा नहीं कि उनकी संख्या कितनी है। उनके लिए सबसे अधिक चिन्ता करने और सोचने का विषय यह है कि वे अपने जीवन को टटोलते रहे कि उनका आचरण उच्च बन रहा है या नहीं। वे कहीं अध.पतन की ओर तो नहीं जा रहे हैं। कल्पना कीजिये एक स्थान पर एक धर्म विशेष के अनुयायी बहुत बड़ी संख्या में हैं। यदि उनका जीवन धर्म से गिरा हुआ है तो उस बड़ी संख्या से क्या लाभ? सब से ज्यादा जरूरी और उपयोगी बात तो यह है कि व्यक्ति का जीवन ऊँचा उठे, इसीमे धर्म-प्रचार की, धर्म-साधना की उपयोगिता है, सफलता है। आध्यातिमक शिक्षण-शिविर जैसे उपक्रमों में इस ओर ध्यान रहा ही है। आगे विशेष रहे—यह मेरी भावना है।

मानव-मानव के जीवन में अध्यात्म-वृत्ति जगे। संयत आचरण के प्रति उनके मन में सक्रिय निष्ठा पैदा हो। वे जीवन के सच्चे धर्म को समझते हुए उसे अपने व्यवहार में सजाएँ—यही मेरी भावना है।

जलगाँव,
१५ मई '५५

६८ : आत्म-मन्थन

प्रत्येक श्रावक आत्म-मन्थन करे कि वह कोई ऐसा काम तो नहीं करता जिससे धर्म की अभिवृद्धि होनी तो दूर, उल्टे निन्दा हो रही हो। यदि निन्दा या बदनामी सच्चे आधार को लेकर होती है तो सचमुच वह दुःख की बात है। ऐसे मिथ्या आधारपूर्ण अनुचित कार्य श्रावक क्यों करें जो उनके श्रावकत्व को नीचा दिखाने वाले हों। यह अनुयायियों की बदनामी तो है ही लेकिन यह उन तक ही सीमित नहीं होती। जिसको वे आराध्य मानते हैं, उनकी भी इसमें बदनामी हो सकती है। प्रत्येक श्रद्धालु यह हृदयंगम करे कि यह कीमती मनुष्य-जीवन उसे तुच्छ स्वार्थों में पड़कर नहीं बिताना है। ऐसे कार्य उसे करने हैं, जिनसे आत्मा ऊँचा उठे। अपने धर्म की, धर्माराध्यों की प्रशस्ति हो, एक छाप पड़े। इसलिए आप लोग ईमानदारी, सच्चाई और नेकनीयती को जीवन में अधिकाधिक प्रश्रय दें। अपने धर्म का विस्तार करें। जैन-धर्म जो अत्यन्त व्यापक और उदार धर्म है, जिसके सिद्धान्त विश्वसनीय है, उसके प्रति लोगों की यह भावना कि यह तो बनियों का धर्म है, ओसवालों का धर्म है, उन्हें कैसे सह्य होती है? जन-जन में धर्म-तत्त्वों को फैलाते हुए दूसरे लोगों की यह नासमझी उन्हें निकाल देनी है। इसके अतिरिक्त एक आवश्यक बात मैं आपसे यह कहना चाहूंगा कि अणुव्रत-आन्दोलन में आप अधिकाधिक संख्या में शामिल हों—इसमें आपका जीवन सुधरेगा, जीवन में एक हल्केपन की अनुभूति होगी।

विश्व-शान्ति के लिए संसार के समस्त राष्ट्रों को अहिंसा, अपरिग्रह और समता के सिद्धान्तों को अपनाना होगा। बड़े-बड़े हिंस्र साधनों को आविष्कृत करने के बावजूद भी आज वे सुख की सांस नहीं ले सकते है। एक नये विश्व-युद्ध का खतरा उनके सामने है, जिसके स्मरण मात्र से आँखों के समक्ष एक रौरवीय दृश्य उपस्थित हो जाता है। यह सब क्यों? इसलिये कि हिंसा से हिंसा और वैर से वैर कभी मिटता नहीं सुना गया है। हिंसा का प्रतिकार अहिंसा है। अहिंसा की तरह अपरिग्रह की ओर भी सब राष्ट्रों को देखना होगा। जिस प्रकार व्यक्तिनिष्ठ परिग्रह दूषणीय है उसी तरह राष्ट्र के लिए भी उसकी एक सीमा अपेक्षित है। असीम परिग्रह की लालसा जैसे व्यक्ति के लिए अशान्ति का हेतु है, वैसे ही वह राष्ट्र के लिए भी अशान्ति पैदा करनेवाली है। क्योंकि असीमित अमुक लालसाएँ राष्ट्र को युद्ध के लिए

प्रेरित करेंगी। अतः परिग्रह की एक सीमा करना राष्ट्र के लिए भी बहुत अंश तक श्रेयस्कर है। विषमता की भावना भी क्या व्यक्ति और क्या समाज तथा क्या राष्ट्र किसी में भी नहीं होनी चाहिए। वर्ण, जाति और वर्ग के आधार पर ऊँच, नीच मानना वैर और शत्रुत्व का बीज बोना है। संसार के सब लोग समान हैं, समान मानवता के अधिकारी हैं, फिर विषमता कैसी ?

जलगाँव,
१५ मई '५५

६९ : संस्कृत भाषा

भारतीय संस्कृति, वाङ्मय और जीवन संस्कृत-भाषा से सघन रूप से सम्बन्धित हैं। भारतीय जन-मानस और चिन्तन को समझना हो तो यह आवश्यक है कि संस्कृत का अनुशीलन किया जाए। प्राचीन ऋषि-महर्षियों ने इसमें जिन अमूल्य तत्त्व-रत्नों का ग्रन्थन किया है, सचमुच मानव के लिए वे एक बहुत बड़ी देन हैं। मानव उनसे बड़ी प्रेरणा पा सकता है। यदि तत्त्वतः देखा जाए तो भाषा का कोई उतना बड़ा महत्त्व नहीं। महत्त्व तो भाषा में निबद्ध ज्ञानराशि का है, जो मानवीय विचार-धारा में एक अभिनव चेतना और स्फूर्ति दे। संस्कृत का यह महान् गुण है। यही कारण है कि संस्कृत का भारत में सदा सम्मान रहा है। आज भारत स्वतन्त्र है, इसलिए संस्कृत-विकास की स्वभावतः व्यापक अपेक्षा हो जाती है। मैं संस्कृत के विद्वानों से, प्रेमियों से कहना चाहूँगा कि वे केवल भाषानुशीलन तक ही अपने को सीमित न रखते हुए संस्कृत में गुँथी हुई आत्मशुद्धिमयी जीवन्त प्रेरणा से अपने आपको आप्यायित करें।

जलगाँव,
१७ मई '५५

७० : धर्म : जीवन-शुद्धि का पथ

आज का बुद्धिजीवी मानव धर्म का नाम सुनते ही नाक-भौं सिकोड़ने लगता है। ऐसा क्यों ? क्या धर्म कोई ऐसी वस्तु है, जो मानव के लिए दुःख और संकट पैदा करती है ? बात ऐसी नहीं है। धर्म तो वह विशाल तथा निर्द्वन्द्व राज-मार्ग है, जो अपने पर चलने वाले को शान्ति और सुख की स्पृहणीय मंजिल तक पहुँचाता है। पर

स्वार्थान्ध लोग इसे क्यों देखते ? उन्हे तो अपना स्वार्थ पूरा करने से मतलब था,अतः धर्म को भी उन्होंने उस दायरे में बाँध डाला। उसे संकीर्ण बनाया, जातिवाद और वर्गवाद के बंधनों से उसे ऐसा जकड़ा कि उसका उन्मुक्त रूप कोई देख न ले। इसी संकीर्णता ने धर्म के प्रति बौद्धिक मानव में घृणा के भाव पैदा किये और उससे उसे दूर किया। मैं कहूँगा धर्म को इस प्रकार बाड़े बन्दी में बाँधने वालों ने इसके प्रति कितनी गैर वफादारी और अन्याय किया ! मैं आप लोगों को जिस धर्म की बात बताना चाहता हूँ, वह संकीर्ण या सम्प्रदायगत धर्म नहीं है। इसकी विशाल अट्टालिका विश्व-मैत्री की भित्ति पर अवस्थित है। सत्य और अहिंसा के सुदृढ़ खम्भे उसके नीचे लगे हैं। वर्ग, जाति, लिंग, रंग, धनी, निर्धन आदि के भेद से अतीत वह एकमात्र जीवन-शुद्धि का पथ है जो व्यक्ति-व्यक्ति को असत्य, छल, धोखा, बेईमानी, अनीति और शोषण से परे देखना चाहता है। क्या कोई भी सम्प्रदाय इसका विरोध करेगा ? मैं समझता हूँ, आज का बुद्धिवादी वर्ग भी ऐसे धर्म से कतराएगा नहीं।

मानव जो चैतन्य को छोड़ धन का, जड का, अचेतन का दास बना है, क्या उसकी मानवीयता स्वयं उसकी भर्त्सना नहीं करती ? चेतन जड़ के कदमों मे लोटे, इससे बड़ी लज्जा की बात उसके लिए और क्या हो सकती है ? इसी अवाछनीय दासता ने मानव को निःसत्त्व बनाया। निःसत्त्व व्यक्ति मे कैसा साहस, कैसी क्षमता, कैसा उत्साह ? वह धर्म के नाम पर स्वार्थ-पोषण मे लग जाय तो क्या अनहोनी है ? मानव अंतर्मुख बन भीतर की ओर मुड़कर देखे कि वह अपनी अन्तःशक्ति का कितना दिवाला निकाल चुका है। यदि वह आत्म-विश्वास के साथ ऐसा करेगा तो कभी संभव नहीं कि वह अपनी हीन वृत्ति से मुँह न मोड़ ले, और मैं जोर देकर कहूँगा कि इससे मुँह मोड़े बिना कोई चारा भी नहीं है। जैसी बदतर स्थिति मे आज मानव पहुँच गया है वह इसीका तो परिणाम है। कहने को वह धनपति है मिल मालिक है, सत्ताधीश है, पर उसकी अन्तरात्मा में अशान्ति के गोले जल रहे हैं, जिनको मिटाने का एक ही साधन है, बहिर्मुख एवं धनोन्मुख जीवन को अन्तर्मुख बनाना, आत्मा का मार्जन करना। फलतः उसमें अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह की ओर उन्मुखता आयेगी। अणुव्रत-आन्दोलन और कुछ नहीं यही करना चाहता है।

पालधी,
१८ मई '५५

७१ : अन्तर्मुखी परिशुद्धि

जैसे शरीर को स्वच्छ करने के लिए साबुन की आवश्यकता होती है, उसी तरह आत्मा की परिशुद्धि के लिए संयम, शुद्ध चर्या तथा सत्यानुशीलन की आवश्यकता है। ये आत्मा को उज्वल बनाने के अमोघ साधन हैं। पर खेद है कि मानव आज जितना बहिर्मुखी स्वच्छता के लिए प्रयत्नशील है, उतना अन्तर्मुखी परिशुद्धि अथवा आत्म-परिमार्जन की ओर उसका ध्यान नहीं है। यह उसकी बहुत बड़ी भूल है, जो उसके दिन पर दिन बढ़ते हुए अशान्त जीवन का मुख्य हेतु है।

अशुद्ध, तामसिक खान-पान विकारोत्तेजक होता है। जीवन उससे उत्तरोत्तर गिरावट की ओर जाता है। पतन के गहरे गर्त्त में पड़ा इस तरह का पापिष्ट जीवन क्या वास्तव में जीवन है? मैं चाहूंगा कि लोग इन तामसिक वृत्तियों से बचने का प्रयास करें।

चावल खेडा,
१८ मई '५५

७२ : वैभव-सम्पदा की भूल-भुलैया

जिस वैभव-संपदा, धन-दौलत और भरे-पूरे समृद्ध परिवार को देख मनुष्य फूला नहीं समाता वह सदा उसके साथ रहेगा यह कभी संभव नहीं। इन वस्तुओं की तो बात ही क्या स्वयं अपना शरीर भी सदा के लिये साथ देने वाला नहीं है। वह भी एक दिन छोड़ना होगा। ऐसा जानते हुए भी मनुष्य मोह-माया एवं लोभ-लालसा में इतना फँसा रहता है मानो वह अमरता का पट्टा लिये बैठा हो। इस भूल-भुलैया से दूर हो मानव को चाहिए कि वह इस दुर्लभ जीवन में कुछ ऐसे काम कर गुजरे, जिससे वस्तुतः उसका मानव-जीवन पाना सार्थक हो। वे कार्य हैं—सचाई, समता, सन्तोष, मैत्री एवं अहिंसक वृत्ति को अपनाना, अशुद्ध तामसिक पदार्थों का परित्याग करना आदि-आदि। मैं समझता हूँ कि लोग इस तथ्य को हृदयंगम करते हुए अपने को जीवन-सुधार में लगायेंगे।

गूजर पिपला,
१९ मई '५५

७३ : हिंसा वर्जनीय

किसी भी जीव को उत्पीड़ित करना हिंसा है, दोष है, अतः वर्जनीय है। यद्यपि सामाजिक लोगों के लिए यह संभव नहीं कि परोत्पीड़न से सर्वथा अपने को बचा सकें पर उन्हें अति निर्दय तो नहीं बनना चाहिए। अक्सर देखने में आता है, बैल आदि पशुओं को गाँव वासी कितनी निर्दयता से काम में लाते हैं। वे नहीं सोचते कि इनके भी जान है, ये भी थकते होंगे। मेरा कहना है कि निर्दयता और क्रूर हिंसक वृत्ति से व्यक्ति अपने को बचाने की कोशिश करे।

गार खेडा,
२० मई '५५

७४ : आह्वान

कठिनाइयों और बाधाओं को देखकर अपना धैर्य छोड़ सत्पथ से विचलित हो जाना मनुष्य की कायरता की निशानी है। सत्य, शौच, शील और सद् आचरण के प्रति आज अपने को सर्वतोभावेन झोंक देने की अपेक्षा है। ऐसा होने से ही आज की अनीतिग्रस्त संकटापन्न स्थिति सुधर सकती है। आज प्रत्येक मानव को सदाचार और सद्वृत्तियों को पनपाने में अपने को जोत देने की जरूरत है।

धरण गाँव,
२० मई '५५

७५ : घर को स्वर्ग बनायें

यदि बहिनें चाहें तो तदनुकूल प्रयत्नों से अपने घर को स्वर्ग बना सकती हैं। घर के दूषित और बहुत कुछ कलहपूर्ण वातावरण को सात्त्विक और मैत्री पूर्ण बनाना उन्हीं पर निर्भर है। भावी पीढ़ी की वही तो निर्मात्री हैं। उनका जीवन उनके बच्चों के लिए एक मूर्त्त आदर्श है, जैसा कार्य वे (बच्चे) अपनी माँ से देखेंगे स्वयं उस ओर उनका झुकाव होगा। इसलिए बहिनों को अपना जीवन अत्यन्त सरल, भद्र, शालीन और सौजन्यमय बनाना है, जो परिवार के लिये एक नवीन आदर्श रहे।

धरण गाँव,
२० मई '५५

७६ : शिक्षा

जीवन की आवश्यकता केवल अन्न-वस्त्र ही नहीं है। जीवन को चलाने के लिए ज्ञान की शिक्षा की भी आवश्यकता है। शिक्षा से मेरा आशय सिर्फ अक्षर-ज्ञान से नहीं है। शिक्षा की परिभाषा है, जीवन को जाग्रत करने का मार्ग अर्थात् जीवन-विकास के पथ को सही रूप मे समझते हुए उसके प्रति एकनिष्ट बनना। शिक्षा प्राप्ति का यही सही स्वरूप है, ऐसा मैं मानता हूँ।

जीवन-विकास के मार्ग पर सफलता से चला जा सके, इसके लिये यह आवश्यक है कि जीवन नियन्त्रित बने, उस पर आध्यात्मिक नियन्त्रण रखा जाय। ऐसे नियन्त्रण का मतलब पारतन्त्र्य नहीं है। यह नियन्त्रण अथवा नियमानुवर्तन तो सच्ची स्वतन्त्रता का प्रतीक है। इससे जीवन उच्छृंखलता और अव्यवस्था को छोड़ सुशृंखलित बनता है। आध्यात्मिक नियन्त्रण से मेरा तात्पर्य है--आत्म-निर्माण मूलक उन सद् नियमों का अनुवर्तन जो जीवन मे अहिंसा, समता, सहिष्णुता: निर्लोभता और मैत्री भाव की वृद्धि करनेवाले हैं।

शिक्षा की सफलता और सुरूपता के लिए मैं तीन बातो को आवश्यक मानता हूँ—शिक्षा अध्यात्मवाद का आधार लेती हुई हो, शिक्षकों का चरित्र निर्मल हो ताकि वे शिक्षार्थियों के समक्ष स्वयं एक मूर्त्त आदर्श हो। शिक्षार्थी सदाचार एवं संयम के प्रति निष्ठावान हों अर्थाद् बहिर्मुख न होकर वे अन्तर्मुखी वृत्तिवाले हों।

धरण गाँव,
२१ मई '५५

७७ : त्याग और संयम का महत्त्व

भारतीय जीवन में पूँजी का कभी महत्त्व नहीं रहा। यदि उसका महत्त्व होता तो बड़े-बड़े सम्राट् और धनपति राजपाट, धन-दौलत सब कुछ छोड़कर त्याग का रास्ता क्यों लेते ! यहाँ महत्त्व त्याग और संयम का रहा। पर आज भारत के लोग इसे भूलते जा रहे हैं। अर्थवाद और स्वार्थवाद में वे बुरी तरह फँसे हैं। स्वार्थ ने जिसकी आँखों पर पर्दा डाल दिया, उसे कुछ भी भली बात सूझ पड़ेगी, यह होने का नहीं। इसलिए मैंने स्वतन्त्रता दिवस पर कहा था--भारतीयो ! स्वार्थ छोड़ो। मैं आप लोगों को पुनः याद दिलाता हूँ, स्वार्थ व्यक्ति को आत्मा से पराङ्मुख बनाता है। आत्म-

पराङ्मुखता जीवित मृत्यु है। व्यक्ति आत्मोन्मुख बने। भौतिकवाद में न भूले, इसके लिए हमारा प्रयास है। ऐसा होने का अर्थ है—व्यक्ति का न्यायपरायण, धर्मपरायण और नीतिनिष्ठ बनना। जिसका परिणाम शान्ति के सिवाय और हो क्या सकता है ? अणुव्रत-आन्दोलन यही दिशा-निर्देश करता है।

एरण्डोल,
२२ मई '५५

७८ : नारी के सहज गुण

बहिनें अपने को हीन न समझें। वे अपना आत्मबल जगाएँ तथा जीवन-निर्माण के मार्ग पर साहस से आगे बढ़ें। मैं यह कहूँ तो अतिरंजन नहीं होगा कि चारित्र, शालीनता और सेवा में नारी पुरुष से सदा आगे रही है। वह श्रद्धा की मूर्तिमान् प्रतीक रही है। इसका अर्थ आप यह न लें कि अविवेक पूर्ण श्रद्धा में आपको पड़े रहना है। श्रद्धा विवेक और समझ के साथ हो। अस्तु, नारी अपने इन सहज गुणों को लेती हुई आज के अनीति भरे लोक-जीवन में नैतिकता और चरित्रशीलता की क्राति करे। स्वयं अपने जीवन को वैसा बनाये, बाहरी दिखावट और बनावट में न भूलकर जीवन के चारित्र-पक्ष को जगाए। यदि नारी ने ऐसा किया तो मुझे यह असम्भव नहीं लगता कि पारिवारिक जीवन में एक नई परम्परा पनपेगी, जो शोषण और अनीति से दूर सत्य, समता और नीति पर टिकी होगी।

एरण्डोल,
२२ मई '५५

७९ : अच्छा संस्कार

बचपन संस्कार जमने का सबसे अधिक उपयुक्त समय है। बचपन में जमे संस्कार जीवन भर के लिए अमिट होते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि बचपन में सत् संस्कार जीवन में डाले जायं। व्यक्ति के जीवन में कुछ संस्कार पैतृक या जन्मजात भी होते हैं। यदि ऐसे बुरे संस्कार हैं तो उनके मार्जन के लिए भी बचपन ही सबसे अच्छा अवसर है। बचपन में यदि उनके प्रति लापरवाही बरती गई तो फिर जीवन में स्यात् ऐसा मौका आना कम संभव है, जब कि उनके संस्कारों से व्यक्ति छुटकारा पा सके। संस्कारों की शुद्धि के लिए बचपन से ही कोशिश की जानी अपेक्षित है।

बालको ! तुम यह सोचकर कभी निरुत्साह मत होना कि तुम गुनहगार कही जाने वाली कौमों में से हो, तुम क्या उन्नति कर सकते हो ? हर इन्सान को अपनी जिन्दगी ऊँची उठाने का हक है। इसलिए शुद्ध मन और विचार रखते हुए अभी से अपने अच्छे संस्कार संग्रह करने की कोशिश करो। तुममें अहिंसा, मैत्री, अचौर्य और सच्चाई की भावना हो—इसके लिए सदा चेष्टा करो। तुम्हारा जीवन स्वतः ऊँचा उठेगा।

एरण्डोल,
२३ मई '५५

८० : ऊँचेपन की निशानी

व्यक्ति का ऊँचापन या नीचापन जाति या कौम पर टिका हुआ नहीं है, यह तो उसके आचरण पर आधारित है। सदाचरण ऊँचेपन की निशानी है और दुराचरण नीचेपन की। आप लोग जीवन को सदाचार के ढाँचे में ढालें। जिस तरह बाहर की सफाई आप करते हैं, उसी तरह आन्तरिक सफाई भी करें। आन्तरिक सफाई ही वास्तविक सफाई है। शराब, मांस, जुआ—ये ऐसे दुर्व्यसन हैं, जो जिन्दगी की हरी-भरी फुलवारी जलाकर खाक बना डालते हैं। आप इन्हें छोड़िये।

एरण्डोल,
२३ मई '५५

८१ : मोक्ष का मार्ग

शाश्वत सिद्धान्त समय अथवा परिस्थितिवश बदल नहीं जाते। बदल जायँ तो शाश्वत कैसे ? परिस्थिति विशेष के कारण असत्य सत्य हो जाय, यह कभी होने का नहीं। ठेठ आध्यात्मिक या मोक्ष मार्गीय दृष्टि के अनुसार सत्य सत्य है, असत्य असत्य है। सत्य मोक्ष का—अध्यात्म का मार्ग है, असत्य नहीं। यह सूक्ष्म तात्त्विक दृष्टिकोण है पर व्यावहारिक पहलू इससे दूसरी दिशा की ओर जाता है। वहाँ राज-नीति, समाज-व्यवस्था, शासन-परिचालन आदि को दृष्टि में रखते हुए असत्य का भी उन-उन क्षेत्रों के लोग सेवन करते हैं। अपने क्षेत्रों की दृष्टि से उसे वे आवश्यक भी मानते हैं, क्योंकि वैसा किये बिना अपने-अपने क्षेत्र में उन्हें कठिनाई लगती है। पर जहाँ शुद्ध तत्त्व-चिन्तन की दृष्टि से देखते हैं, वहाँ तो वस्तु दर्शन या असलियत को

ही आगे रखना होता है। अतः निश्चित और व्यावहारिक दोनों अपेक्षाओं से यहाँ सोचना होता है।

एरण्डोल,

२३ मई '५५

८२ : विश्व-शान्ति

विश्व-शान्ति के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न देश, समाज और जाति के लोग विचार-समन्वय की ओर आगे बढे। पहले जहाँ जर, जोरू और जमीन के लिए अधिकाश लड़ाइयाँ होती थीं, आज अपने विचार या वाद को दूसरे राष्ट्र पर थोपने के लिए ही ऐसा होता है। यह वृत्ति बदलनी होगी। सहिष्णुता और समता का अवलम्बन करना होगा, अहिंसा और अपरिग्रह के माध्यम से योजनाएँ बनानी होंगी, तभी संसार में शान्ति हो सकेगी।

एरण्डोल,

२३ मई '५५

८३ : वीतरागता के तत्त्व

जैन-तत्त्व किसी व्यक्ति के नहीं, ये तो वीतरागता के तत्त्व हैं। ये उनके तत्त्व हैं, जो वीतरागता की ओर जाना चाहते हैं। वृक्षों की छाया क्या किसी व्यक्ति विशेष के लिए ही होती है ? क्या हवा और धूप पर किसी की बपौती है ? ये तो सबके हैं ; प्राणी मात्र के है। उसी प्रकार तत्त्व-दर्शन, धर्मानुशीलन किसी दायरे मे बँध नहीं सकते हैं। भगवान् महावीर ने यही तो उपदेश किया, पर खेद है कि अपने को उनके अनुयायी कहनेवालो ने आगे चलकर इन सिद्धान्तों की कितनी खिलाफत की। जातिवाद और संकीर्णता में उन्होंने धर्म को बाँध डाला। जिस जैन-दर्शन ने स्याद्वाद की अनुपम देन विश्व को दी, उसके माननेवाले आपस मे झगड़ें, जिस तत्त्व-दर्शन ने विश्व भर की समस्याओं को सुलझाया, समन्वित किया उसके माननेवाले आपस में समाहित न हो सके, यह कितने खेद की बात है। सब जैन श्रावकों से मेरा कहना है, वे भगवान् महावीर के आदर्शों का अनुकरण करते हुए जैनत्व की प्रभावना करें।

नगर में रहने मात्र से कोई नागरिक नहीं हो जाता। नगर मे कुत्ते, बिल्ले आदि जानवर भी तो रहते हैं। आदर्श—सच्चा—नागरिक वह है जो अपनी ओर से कोई ऐसा

कार्य न करे, जो दूसरों के लिए कष्टदायी हो, जिससे दूसरों को असुविधा हो। हर नागरिक का दृष्टिकोण विशाल होना चाहिए। जिनकी दृष्टि मे विशालता होती है, वे संघर्ष और क्लेश, कदाग्रह से बहुत कुछ बच सकते हैं। मैत्री, सौजन्य, समता, धैर्य और शालीनता—ये नागरिकता के गुण हैं। इन्हें जीवन में ढालना उत्तम नागरिक बनना है।

एरण्डोल,
२४ मई '५५

८४ : कुव्यसनों से बचें

मानव-जीवन मिला, विवेक मिला, शक्ति मिली, क्या इसलिये कि इनका दुरुपयोग कर इन्हें मिट्टी में मिलाया जाय ? जो जीवन आत्मा से परमात्मा तक ले जाने का साधन है, उसे आप कुव्यसनों की भट्टी में जलायें, क्या यह मानवता के लिए कलंक नहीं है ? आप लोग जागें, सोचें, समझें—मद्य, मांस, आदि कुव्यसनों ने क्या आपके जीवन की होली नही जला दी है ? गया सो गया, हुआ सो हुआ। अब भी चेतें। इन कुव्यसनों से अपने को बचाये, इसका अच्छा फल आपके जीवन को एक नई दिशा देगा।

टाकरखेडा,
२५ मई '५५

८५ : राक्षसी जीवन त्यागें

मनुष्य कितनी बड़ी भूल करता है। मद्य, मांस जैसे कुव्यसनों मे पड़ वह खुद अपने हाथों अपनी कब्र खोदता है। शराबियो की जो दिन दहाड़े बुरी हालत होती है वह किससे छिपी है ? पशुओं से बदतर और हीन उनका जीवन हो जाता है। कुव्यसनों से भरा जीवन वास्तव मे राक्षसी जीवन है। इन्हें आप छोड़िये।

आप लोग चाहते हैं कि कोई आपकी सुविधा मे बाधक न बने। क्योंकि इससे आपको दुःख होता है पर क्या कभी आपने यह भी सोचा है कि आप लोगों की ओर से कितनी बार इसी तरह का बर्ताव पशुओं के साथ किया जाता है ! आप लोगों की तरह उन्हें भी थकान आती होगी। वे भी जी तोड़ मेहनत करने के बाद विश्राम की जरूरत महसूस

करते होंगे। पर दूसरों की कौन सोचे ! मेरा कहना है—कुछ न कुछ तो आप पर-ताड़न और हिंसा में कमी कीजिये। आप जानते ही हैं कि पर पीड़ा और हिंसा पाप का मार्ग है।

टाकरखेड़ा,
२५ मई '५५

८६ : बौद्धिक विपर्यय

व्यक्ति का ऊँचापन तथा नीचापन उसके जन्म, जाति और पद से नहीं वरन् उसके अच्छे और बुरे गुणो पर निर्भर है। आज के जन-मानस में इसके लिए स्थान नहीं है। आप लोगों की मनोवृत्ति ऐसी बन गई है कि जिसके पास अधिकाधिक धन-वैभव है, वही आपकी दृष्टि मे ऊंचा है, चाहे वह कैसा भी अवगुणी क्यो न हो। यह मानव का बौद्धिक विपर्यास है; मानसिक पतन है, जो बहुत बड़े खतरे का हेतु है। कौन नहीं मानता कि सामाजिक जीवन मे धन का भी एक स्थान है, पर जीवन का लक्ष्य वह नहीं है। दवा का बीमारी मे उपयोग होता है पर उस उपयोग का अर्थ यह तो नहीं कि उसे तन्दुरुस्त दशा में भी खाया जाय। आज स्थिति कुछ ऐसी ही बन गई है। व्यक्ति के चिन्तन का माध्यम जहाँ जीवन-विकास होना चाहिए, वहाँ जड़ परिग्रह उसका उपास्य बन रहा है। उसके परिणाम मे शोषण, अनाचार, धोखा, अविश्वास और बेईमानी जैसे विष पनपे हैं जिनकी ज्वाला से लोगो का जीवन दग्ध हुआ जा रहा है। इन सबको मिटाने का अर्थ होगा—इनकी मूल पर प्रहार किया जाए ; बौद्धिक विपर्यास को बदला जाए; जीवन का लक्ष्य जहाँ जड़ वैभव हो रहा है, इसके स्थान पर सत्य और सद्वृत्तियों को प्रतिष्ठित किया जाए। मूल के सुधारने पर सारे के सारे विषैले फल खुद झड़ जायेंगे। अणुव्रत-आन्दोलन जीवन की मूल को सुधारना चाहता है। वह विकारों की जड़ पर प्रहार करता है। उसका अभिप्रेत है—एक ऐसे समाज का गठन, जो अपरिग्रह और अहिंसा के आदर्श पर चलता हुआ जीवन बिताये, जहाँ व्यक्तित्व का मान हो, व्यक्ति के गुणों की प्रतिष्टा हो—बाहरी साजसज्जा, प्रदर्शन और चमकीले पत्थर के टुकड़ों की नहीं।

आमलनेर,
२६ मई '५५

८७ : दुहरी भूल

व्यक्ति सम्पूर्ण रूप में हिंसा का वर्जन करे। आत्मशुद्धि की दृष्टि से यह अत्यन्त श्रेष्ठ है पर सामाजिक जीवन में उसके लिए यह सम्भव नहीं। अतः कम से कम वह संकल्पजा हिंसा से तो अवश्य बचे। संकल्प पूर्वक तो किसी की हत्या न करे। उसकी निष्ठा अहिंसा मे हो। आत्म-दुर्बलता के कारण अशक्यतावश वह पूरी तरह हिंसा से बच नहीं सकता पर उस हिंसा को वह अहिंसा तो न मान बैठे। ऐसा करना दुहरी गलती है। अहिंसा की साधना में अधिक से अधिक मै अपने को लगाता रहूँ, हिंसा से बचूँ —इस शुद्ध निष्ठा को लिये हुए मनुष्य जीवन मे आगे बढ़े।

आमलनेर,
२६ मई '५५

८८ : माता के कर्तव्य

नारी का एक रूप नहीं उसके कई रूप हैं—पुत्री, पत्नी, माता आदि। माता का पद कोई साधारण पद नहीं है। सन्तान के लिए जो स्थान माता का है, वह दूसरे किसी का नहीं। माता के जीवन का बालकों पर स्वाभाविक प्रभाव होता है। जन्म से क्या बल्कि गर्भवास से लेकर उनके युवक होने तक माता का जीवन बच्चे के लिये एक प्रेरणा स्रोत है। अतः माताओं का यह स्वाभाविक कर्तव्य है कि वे सही माने मे आदर्श बनें। आदर्शपन वेष-भूषा और बाहरी बनाव मे नहीं है, वह तो जीवन-क्रम की सजावट मे है, वृत्तियो मे आये हुए कालेपन को धो डालने मे है; जिसका अर्थ है—जीवन मे सत्य के प्रति, मैत्री के प्रति, समता के प्रति निष्ठा पैदा हो, निष्ठा जीवन-व्यवहार में आये। ऐसी माताओं के संरक्षण में पलने वाले बालकों के जीवन पर चारित्र की—सद् आचरण की एक सहज छाप पड़ती है। बालकों का जीवन शुरु से ही अच्छे संस्कार ग्रहण करने लगता है।

आमलनेर,
२६ मई '५५

८९ : संस्कृति

संस्कृति के पीछे भारतीय या अभारतीय—यह विशेषण कैसा ? संस्कृति तो दो ही प्रकार की हो सकती है, सत् या असत् की, भलाई या बुराई की। हाँ, जिस भूमि में, जिस देश मे संस्कृति की जो धारा विशेष पल्लवन, पोषण और वर्धन पाती है, औपचारिक रूप से वह विशेषण उसके साथ लग जाता है जो अनुचित नहीं। भारतवर्ष वह भूमि है, जहाँ जीवन का सत्यपक्ष भोगवाद के समक्ष नहीं झुका, जहाँ जीवन का चरम आदर्श भोग नहीं, त्याग रहा, विलासिता नहीं आत्म-साधना रहा, लोभ-लालसा नहीं त्याग-तितिक्षा रहा। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति में त्याग, संयम और अध्यात्म की भावना कूट-कूट कर भरी है। यदि यह कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी कि भारतीय जीवन में सर्वाधिक महत्त्व त्याग, आत्म-दमन और जितेन्द्रिय भाव का रहा है। पर खेद इस बात का है कि आज भारतीय मानस इनसे परे होता जा रहा है। मैं इसे सांस्कृतिक अधःपतन कहूँगा। भारतीय चेतें, जागें, अपने विस्मृत अतीत की याद करें तथा जीवन मे परिवर्तन लाएँ। वह परिवर्तन प्रदर्शन और दिखावे का न हो वरन जीवन-शुद्धि का हो।

आमलनेर,
२७ मई '५५

९० : समस्या का हल

सब यह अनुभव करते हैं कि आज सारा संसार समस्याओं से व्याकुल है पर समस्याओं का सही हाल क्या है इस ओर उनकी दृष्टि नहीं है। बहुतों की दृष्टि आज साम्यवाद पर है पर वह केवल आर्थिक समस्याओं का एक सामयिक एवं अस्थाई हल कहा जा सकता है। व्यापक तथा स्थाई हल वह नहीं है। जैसे नासूर का घाव बहुधा ऊपर से सूख जाता है पर उसे आराम या स्थायी लाभ थोड़े ही माना जा सकता है, क्योंकि उसके भीतर तो मवाद भरा रहता है। समस्याओं का सही हल है अपरिग्रही एवं अहिंसक वृत्ति। यह वह हल है जिसमें स्थायित्व है, व्याप्ति है। अणुव्रत-आन्दोलन अपरिग्रह एवं अहिंसा के आदर्शों पर रचा गया रचनात्मक कार्य-क्रम है जो जीवन-व्यवहार में सचाई, सादगी, निस्पृहता, सच्चरित्रता का संचार करता

है, जीवन मे इसे अपना कर आप इसके शातिदायी स्वरूप का स्वयं अनुभव कर सकेंगे।

बड़ाला,
२८ मई '५५

६१ : आत्मार्थी के लिए प्रेरणा

हमने फैक्टरी देखी। मूगफली के तेल को विभिन्न यंत्रों एवं प्रक्रियाओं के योग से वेजीटेवल घी के रूप में बनते देखा। इन अनेक प्रक्रियाओं तथा यंत्रों से संस्कारित होकर तेल कैसी उजली शक्ल पा लेता है। प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह अपनी दुष्प्रवृत्तियों को—विजातीय तत्त्वों को अपने मे से निकाल कर आत्म-निर्मलता—आत्म-शुद्धि प्राप्त करे। मूगफली से वेजीटेबल घी बनने की प्रक्रिया आत्मार्थी के लिये यह प्रेरणा दे सकती है क्योकि तत्त्व ग्राहक व्यक्ति हर स्थान मे सत्य तत्त्व खींच सकता है।

मनुष्य रोटी कमाता है तथा परिवार का पेट पालता है। क्या इसीमे उसके जीवन की इति कर्तव्यता है ? ऐसा तो पशु-पक्षी भी करते हैं। मानव विवेकशील प्राणी है। उसमे मनन-चिन्तन की शक्ति है सत्-असत् का विवेक है जिसका उसे उपयोग लेना है। यदि उपयोग नहीं लेता है तो यह उसकी अक्षम्य भूल है। आत्मा अनन्त शक्तियों का पुंज है पर उन शक्तियों का लाभ तभी मिलता है जब कि वह उनका उपयोग करे। इसलिये अमीर-गरीब, मालिक-मजदूर सबसे मैं कहना चाहूँगा कि वे अपने जीवन-सत्त्व को समझते हुये आत्म-शुद्धि के पथ पर आगे बढ़ें। इसके लिये संयम और तपस्या में अपने को लगाना होगा। संयम और तपस्या का नाम सुन कर आपको घबड़ा नहीं जाना है। इसका अर्थ आप यह न समझ लें कि घर छोड़ कर संन्यासी बनना ही इसका एक मात्र प्रयोजन है, साधु-जीवन तो संयम और तपस्या का परिपूर्ण आदर्श है पर उस आदर्श को यथाशक्ति प्राप्त करने का अधिकार तो सभी को है। यह सच है कि ससार में रचे-पचे होने से यह संभव न हो कि वे इसके पूरे पालक बन सकें पर आंशिक पालन तो वे भी कर सकते हैं। संयम और तपस्या से मेरा मतलब है, जीवन मे भलाइयों को संचित करना, बुराइयों से अपने को छुड़ा सत्य, संतोष आदि सत्प्रवृत्तियों में लगाना।

मालिक मजदूरों के शोषण, उन पर अन्याय आदि अनुचित व्यवहार से दूर रहें और मजदूर बिना पसीने की कमाई का पैसा लेना हराम समझें। यदि ऐसी मनोवृत्ति इन दोनों वर्गों में आपस में पनप जाय तो पारस्परिक समन्वय तथा ऐक्य का बड़ा काम हो सकता है।

बडाला,
२९ मई '५५

६२ : सुख के साधन

बम्बई के बाद मैंने महाराष्ट्र की यात्रा शुरू की। मैंने देखा—महाराष्ट्र की जनता में संतों के प्रति कितना आदर, श्रद्धा और प्रेम है। मैं संस्कृति और शिक्षा के प्रमुख केन्द्र पूना में ठहरा। वहाँ के विद्वत्समाज में जो निष्ठा, ग्राहकता व लगन मैंने पाई वह अनूठी थी। उन्होंने स्वयं माग की कि हम जैन-तत्त्व सुनना चाहते हैं। आगे गाँवों की जनता के बारे में सोचता हूँ तो लगता है कि सच्ची मानवता के यदि दर्शन होते हैं तो गाँवों में होते हैं। एक बार के भाषण का उनपर इतना असर होता है कि वर्षों की वे बुरी आदतें झट छोड़ने को तैयार हो जाते हैं। मैंने देखा—उनके जीवन में परिवर्त्तन आ सकता है, यदि ठीक तरह से उन्हें कोई पथ-दर्शन दे।

जिस साधना पर मैं चल रहा हूँ, उसका मार्ग आपको दिखाता जाऊँ। मेरी साधना महाव्रतों की साधना है। सब उस साधना में आ सकें यह संभव नहीं। जन-साधारण, कम-से-कम, उस साधना के यथाशक्ति आंशिक परिपालन में अपने को अवश्यमेव लगाएँ। अणुव्रत-आन्दोलन और है क्या, इसीका तो व्यवस्थित रूप है!

आज का लोक-जीवन संघर्ष, अशान्ति और विषमता से त्रस्त है। शांति की चर्चाएं चलती हैं, योजनाएं बनती हैं। अधिक चर्चाएं उन लोगों की ओर से चलती हैं, जिनकी ओर से प्रलयकारी विनाशक अस्त्र-शस्त्रों को प्रश्रय मिला। राष्ट्र-रक्षा और शांति-रक्षा के नाम पर भीषण रक्तपात हुआ। भला सोचें तो सही काम अशांति के और बातें शांति की! क्या यह बनने जैसा है? शान्ति की चर्चा तो दूर! कितना अच्छा हो, वे इन प्रलयंकर अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण और परीक्षण को छोड़ दें; अपने तुच्छ स्वार्थों को लेकर वे दुनिया पर हावी होना तो बंद कर दें। अशान्ति स्वतः मिट जायगी। पर करे कौन? ये तो कहने की बातें हैं। मैं कहना चाहूँगा—अशान्ति का उद्गम व्यक्ति का अपना अंतरतम है। अन्तरतम की स्वार्थी वृत्ति, संग्रहमय लालसा

व्यक्ति को गलत रास्ते पर ले जाती है। वह भ्रान्त बनता है। भ्रान्त को सद्-असद् का विवेक कहाँ से रहेगा? वह तो एकमात्र अपना स्वार्थ-साधन करना चाहेगा। ऐसा करने में औरों का कितना नुकसान हो रहा है इस ओर नजर दौड़ाने की उसे कहा फुरसत! अतः सबसे पहले मानव अपनी वृत्तियों को बदले।

यह स्वार्थों की भूल-भुलैया व्यक्ति को इतना गुमराह कर देती है कि धर्म जो शान्ति, मैत्री, ऐक्य, और समन्वय का साधन है उसे भी वह कलह और वैमनस्य की शृंखलाओं में बाँध डालता है। इस भूल-भुलैया से परे हो मानव विवेक और बुद्धि से काम ले। धर्म के सही स्वरूप को वह समझेगा तो जीवन मे शान्ति और सुख का संचार होगा।

धुलिया,
२ जून '५५

६३ : मानव का रूप

सच्चरित्रता, शील, सौजन्य यही मानव का रूप है। बाहरी रूप और बनावट से क्या यदि व्यक्ति इन मूल गुणों से रहित हो। बहिनों से मैं कहना चाहूँगा—स्वभावतः उनका चारित्र्य की ओर झुकाव होता है। वे इस तथ्य को समझें। जीवन में सद्गुणों को संजोकर उसे आदर्श बनाएं। उनके आदर्श बनने का अर्थ होगा—सारे परिवार का उन आदर्शों की ओर झुकाव। सन्तानों पर इसका सहज असर होगा। क्योंकि बालक यह नहीं देखते कि उनकी माताएं उन्हे क्या कहती हैं? वे देखते हैं—उनकी माताएं क्या करती हैं? माँ-बाप के जीवन-व्यवहार का बच्चो पर सहज असर होता है। अतः महिलाएं अपने जीवन को ऊँचा उठाए। बाहरी शृंगार, फैशन और आडम्बर जीवन की सच्ची भूषा नहीं। तत्त्वतः भय हैं, आवरण हैं। सच्ची भूषा है सादगी, उत्तम विचार तथा उच्च आचरण।

धुलिया,
३ जून '५५

६४ : जीवन का लक्ष्य

मानव को बुद्धि मिली, विवेक मिला, शक्ति मिली। क्या केवल इसीलिए कि वह उदर-पोषण और स्वार्थ-पूर्ति में इनका उपयोग कर जीवन की इतिकर्तव्यता मान बैठे? बात ऐसी नहीं है, अपना पेट तो पशु-पक्षी भी भरते हैं, फिर मननशील मानव

की क्या विशेषता ! जीवन का लक्ष्य उदर-पोषण नहीं, उसका वास्तविक लक्ष्य है— आत्म-गुणों का विकास, सत्य की आराधना, सदाचार का स्वीकार, अहिंसक वृत्तियों का आश्रयण।

व्यक्ति आत्म-दुर्बलता के कारण भौतिक अभिसिद्धियों में फँस जीवन के सही लक्ष्य से हटता है। यह उसकी बहुत बड़ी भूल है, जो उसे गिरावट की ओर ले जाती है। एकबार गिरावट की ओर लुढ़क जाने पर व्यक्ति आप से आप लुढ़कता जाए तो इसमें कैसा आश्चर्य ? आत्मा की शक्तिया तो असीमित हैं, पर यदि कोई उन्हे उद्बुद्ध करे। मैं आप लोगो से कहना चाहूँगा—आप अपने जीवन को टटोलें, अपनी बुराइयों को अपने में से निकाल फेंकें, उनका स्थान भलाइयों से पूरा करें। अणुव्रत-आन्दोलन व्यक्ति को भलाइयो का मार्ग दिखाता है। बुराइयों से उन्हें परे करता है। इसे आप समझें, जीवन में उतार कर देखें कि कैसी स्फूर्ति और चेतना आपको उससे मिलती है।

डांगुरना,
६ जून '५५

६५ : आत्म-जागरण

अतीत का इतिहास बताता है, भारत का वैभव और समृद्धि विश्व भर के लिए आकर्षण की वस्तु थी, पर इसका अर्थ आप मत लीजिये कि यहाँ सभी कोट्याधीश थे। भारत की वह समृद्धि यहाँ के लोगों के जीवन-व्यवहार मे समायी हुई नैतिक वृत्ति, सत्य-निष्ठा, प्रामाणिकता और सन्तोष में अन्तर्निहित थी। यही कारण है कि यहाँ के लोग सुखी थे। संघर्ष, वैमनस्य और द्रोह यहाँ कम से कम थे पर खेद की बात है, स्थिति आज इसके बिल्कुल विपरीत हो चली है, जिसको सोचते विचारकों की आत्माएँ रो पड़ती हैं। क्या से क्या हो गया ! पर केवल पछतावे से क्या होगा, व्यक्ति यदि अपना आत्मबल जगाकर प्रतिकूल परिस्थिति को निर्मूल करने का प्रयास नहीं करता। मैं लोगों से कहूँगा— अब भी आप अपने को सम्हालें। जीवन के विपरीतगामी लक्ष्य को बदलें। उसे परमुखता से स्वमुखता की ओर लाएँ। जहाँ आज भौतिक वैभव और संपदा के पीछे मानवीय चेतना दासी बनी दौड़ रही है, वहाँ उसके स्थान पर आज आत्मशुद्धि, सद्-आचरण और जीवन-विकास को प्रतिष्ठित करें। भौतिक वैभव और सम्पदा का पीछा छोड़ इन आत्म-विकास करनेवाले गुणों का पीछा

करें तभी जीवन शान्ति और सच्चे सुख का स्पर्श कर सकेगा। अणुव्रत-आन्दोलन आत्म-जागरण का आन्दोलन है, सुषुप्त मानव-चेतना को उद्बोधित करने का उपक्रम है। आप इसे समझें, अपने को इसमें लगायें।

दोंड़ाइचा,
८ जून '५५

९६ : बहिनों से

क्या नर और क्या नारी—जीवन-शुद्धि, जीवन-विकास और जीवन-परिमार्जन के लिए सब समान रूप से अधिकारी हैं। यह तो विश्वजनीन अथ च सार्वजनीन मार्ग है। इसमें किसी के लिए भी प्रतिबन्ध कैसा? जब धर्म के क्षेत्र में कोई भय नहीं तो फिर स्त्री-जाति और पुरुष-जाति दोनों में ऊँच-नीचपन की कैसी बात! पर संकीर्ण स्वार्थ इसे कैसे मान्य होने देता? पुत्र पैदा होता है, खुशी से थाली बजाई जाती है, कन्या जन्मती है दु:ख से छाज पीटा जाता है। स्वयं माताएँ ऐसा करती हैं, क्यों वे अपनी जाति का इतना हीन-भाव आँकती हैं? यह भूल है, गलत समझ है, कम-से-कम बहिनें तो इसको निकालें। हीन-भाव के मूल पर फलनेवाली शाखा-प्रशाखाएँ भी हीन-भाव से ओतप्रोत होंगी—बहिनें यह अच्छी तरह समझ लें। आत्म-बल का सहारा ले विकास के क्षेत्र में वे आगे आएँ। मानव-जीवन बहुत कीमती है। इसमें यदि व्यक्ति साहस, जागरूकता और आत्म-उत्साह से काम करे तो ऐसे काम कर गुजरता है, जो उसके अपने लिए तो उन्नति के हेतु हैं ही, औरों के लिए भी वे उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ने में मशाल का काम देते हैं। बहिनें सरलता, मैत्री, सहिष्णुता, सादगी, सत्यनिष्ठा आदि से अपने जीवन को सजाएँ। ये वे अलंकार हैं जो जीवन को सही माने में शोभनीय बनाते हैं। आपसी झगड़ा, द्वेषभाव, गाली-गलौज आदि गन्दी वृत्तियों को बहिनें छोड़ें।

दोंड़ाइचा,
८ जून '५५

६७ : जीवन का पर्यवेक्षण

यदि मानव-जीवन का आज सूक्ष्मता से पर्यवेक्षण किया जाए तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि वह बुराइयों की लाइब्रेरी बन गया है। लाइब्रेरी मे जिस प्रकार विविध विषयों की अनेक पुस्तकें होती हैं, मानव-जीवन उसी तरह तरह-तरह की बुराइयों का आगार हो चला है। फलतः शान्ति, सुख और आत्म-तोष जैसे सद्गुण उससे दूर होते जा रहे हैं। अणुव्रत-आन्दोलन उन बुराइयों की तफसील की सूची और उनके निराकरण का उपाय है। बुराइयों की तफसील देने के साथ-साथ यह उनसे बचने का मार्ग देता है। सासारिक जीवन मे रहते हुए भी व्यक्ति जहाँ तक बन सके हिंसा, असत्य, चोरी, परिग्रह आदि से अपने को दूर रखे—अणुव्रत-आन्दोलन इस ओर एक प्रेरणाप्रद रचनात्मक कार्यक्रम प्रस्तुत करता है।

स्वार्थ, लोभ और लालसाएँ व्यक्ति को अन्धा बना देती हैं। इनके वश हो वह अपना विवेक खो बैठता है। हम आज देखते हैं—लाखो की सम्पत्ति के संचय के बाद भी व्यक्ति को सन्तोष नही होता. क्यो ? इसलिए कि वह लालसाओ का दास है, इच्छाओं का वशवृत्त है। शोषण, रिश्वत, कालाबाजार अप्रामाणिकता, विश्वासघात, झूठ, बेईमानी ये सभी दुर्गुण इसके प्रतिफल हैं। अणुव्रत-आन्दोलन इनके मूल पर प्रहार करता है। वह सयत वृत्ति की ओर मानव को ले जाना चाहता है। उसका मकसद है, मानव-समाज मे अपरिग्रह की प्रतिष्ठा हो, अहिंसा की प्रतिष्ठा हो, सत्यनिष्ठा की प्रतिष्ठा हो। व्यक्ति जीवन का दर्शन बाहरी दिखावों मे न पाए, अन्तःशुद्धि मे पाए।

शाहदरा,
१२ जून '५५

६८ : अहिंसा और समता

भारतीय तत्त्वज्ञान मे आत्मवाद का सबसे अधिक महत्त्व है। कहा गया है—जिसने आत्मा को भुला दिया, उसने सब कुछ भुला दिया। जिसने आत्मा को जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया। आत्मा को देखो, उसका अन्वेषण करो, मनन करो, चिन्तन करो—यह भारतीय दर्शन का ओजस्वी घोष है जो भारतीय मानस के लिए सबसे अधिक आकर्षण का विषय रहा है। यहाँ ज्ञान की बहुत बड़ी मान्यता रही;

पर ध्यान रहे शुष्क ज्ञान की नहीं; वरन् उस ज्ञान की जिसके साथ अहिंसा जैसी सत् प्रवृत्तियों का लगाव रहा। भगवान् महावीर ने कहा—**"एवं खु नाणिणो सारं ज न हिंसइ किंचण"** अर्थात् ज्ञान का सार यह है कि किसी की हिंसा न करे। एक व्यक्ति ज्ञानवान् है पर हिंसा आदि दुष्प्रवृत्तियो में लगा है तो उसके ज्ञान की क्या उपयोगिता ? वह भार जैसा है।

भारतीय तत्त्व-ज्ञान खासकर अन्तर्जगत् को छूता है। उसकी दृष्टि में सच्चा विज्ञान अहिंसा और समता है। ये ही वे साधन हैं जो जीवन मे शान्ति का स्रोत बहाते हैं। भौतिक-विज्ञान इस अध्यात्म-विज्ञान की कहाँ समता कर पाता है ? प्रलयकर अस्त्र-शस्त्रमूलक विज्ञान को एक बार छोड दें। दूसरे वैज्ञानिक साधनों पर भी सोचें तो पायेंगे कि मानव को हर कार्य मे सुविधा देने वाले इन आविष्कारों ने उसे पंगु बना दिया है। मानव मे जो कार्यशक्ति थी, वह उससे छीन ली गई है। तत्त्वतः देखें तो इस अपेक्षा से इन आविष्कारों ने मानव का उपकार नहीं किया, अपकार किया। मैं भारतीयो से कहना चाहूँगा —वे अपने अहिंसा और समतामय विज्ञान को अपनाएँ, उन्हें शान्ति मिलेगी, आत्म-तृप्ति मिलेगी; विषमता पूर्ण समस्याओ से आकुल बना जीवन सुख की शीतल साँस ले सकेगा।

शाहदरा,
१२ जून '५५

९९ : भारतीय संस्कृति

भारतीय संस्कृति अध्यात्म और संयम की संस्कृति है। यहाँ की अन्तश्चेतना वैभव तथा सम्पदा की पर्वत मालाओं के आगे नहीं झुकी। यदि वह झुकी तो संयम के आगे, त्याग के आगे, तपस्या के आगे। उसे हिंसा नहीं झुका सकी। अहिंसा के सामने उसने स्वयं आत्मसमर्पण किया। भारतीय संस्कृति त्रिवेणी है। जैन, बौद्ध और वैदिक इन तीन धाराओं से वह निष्पन्न होती है, जिसमें भौतिकवाद के प्रति स्वाभाविक पराङ्मुखता है। पर उसी संस्कृति मे पले-पुसे लोगों के जीवन को आज जरा देखिये तो सही। आप पायेंगे भौतिकवाद के प्रति उनकी कितनी आसक्ति है। यह भारतीयता का अक्षम्य ह्रास है। भारतीय आज भी, यदि वे अपने को विनाश से बचाना चाहते हैं, तो चेतें।

आज संसार मे एक ओर विध्वंस अपनी विषैली जिह्वा बाहर निकाले ससार को डँस लेने के लिये तत्पर है। अणुबम, उदजनबम उसी की तो पूर्व सूचनायें हैं। दूसरी ओर निर्माण उससे जूझना चाहता है। इस ध्वंस और निर्माण की टक्कर मे भारतीय किस ओर जायँ—यह उन्हे सोचना है ? हिंसा, हत्या, क्रूरता ये विध्वंस के साधन हैं। क्या भारतीय मानस में इनके लिए स्थान होगा ? मैं सोचता हूँ, बहुत कुछ खो चुकने पर भी इतने नीचेपन तक भारतीय चेतना नहीं पहुँची है, उसका रहा-सहा सत्त्व भी ऐसा करने से उसे उबारेगा, क्योंकि भारतीयता की रग-रग में यह नाद रमा है कि वैर से वैर बढ़ता है, हिंसा हिंसा को बढ़ाती है। फिर इनके माध्यम से शान्ति पाने का यत्न किया जाए, क्या यह विवेक का दिवालियापन नहीं है ? भारत निर्माण की ओर आगे बढ़ेगा, जीवन-निर्माण की ओर। मैंने सोचा—जीवन-निर्माण का सुगम मार्ग लोगों को मिले। लोगो का जीवन कैसा है—मैंने बारीकी से टटोला। वह बुराइयों और कुव्यसनों से जर्जर दीखा। उनके प्रतिकार के लिए भारतीय संस्कृति और दर्शन के मूल बीज अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह आदि के आधार पर मैंने ऐसे छोटे-छोटे नियमों की संकलना की, जो व्यावहारिक जीवन मे शुद्धता, सात्त्विकता और प्रामाणिकता ला सकें। व्रतों या नियमो का बहुत बड़ा महत्त्व है। ये जीवन-वृत्तियों में नियमन लाते हैं तथा इच्छाओं को सीमित करते हैं, इससे जीवन सत्त्व-सम्पन्न बनता है। कुछ लोग सोचते हैं—आज परिस्थितियाँ प्रतिकूल हैं, जब वे अनुकूल बन जायँगी, हम व्रत ग्रहण करेंगे। यह उनकी आत्म-दुर्बलता का परिचय है। विशेषता तो इसी में है कि व्यक्ति विपरीत परिस्थितियों और कठिनाइयो के बावजूद सत्य के मार्ग पर चलता जाए। अनुकूल स्थिति मे तो हर कोई वैसा कर सकता है।

शहादा,
१२ जून '५५

१०० : गमन और आगमन

गमन और आगमन इन दोनों का जोड़ा है, यदि गमन न हो तो आगमन कैसे हो ! बम्बई चातुर्मास के पश्चात् प्रारम्भ होने वाली महाराष्ट्र की लम्बी यात्रा को सम्पन्न कर आज हम मध्यभारत की सीमा में प्रवेश कर चुके हैं। खानदेश वासियों की आशा भरी प्रार्थना को छोड़ इधर आना कोई सरल काम नहीं था। उनकी प्रार्थना केवल

१०२ : चारित्र की महत्ता

साधुओं का जीवन आत्म-साधना का जीवन है। आत्म-चिन्तन, आत्मानुशीलन आत्म-परिमार्जन उनके मुख्य कार्य हैं। वे स्वयं आत्मसाधक हैं, औरों को भी आत्म-साधना की ओर प्रेरित करना उनका काम है। चारित्र-उत्थान, आत्म-साधना का फलित है, जिसकी आवश्यकता प्रत्येक व्यक्ति को है। चारित्र के बिना मानव में कैसी मानवता ? जिसने अपना चारित्र खोया, अपना सब कुछ खो दिया। मैं सब भाई-बहिनों से कहना चाहूँगा कि वे चारित्रनिष्ठ बनें, आत्मशोधक बनें। इसीमें जीवन की सच्ची शोभा है।

जुलवानिया,
१८ जून '५५

१०३ : दुःख का मूल

संसार में प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि उसे सुख मिले, उसका जीवन शान्तिपूर्ण बने; पर सुख और शान्ति का सच्चा मार्ग कौन-सा है, यह खोजने का वह प्रयास नहीं करता। यही कारण है कि उसकी क्लेश-परम्परा दिन पर दिन बढ़ती जाती है। यदि उसे सुख की आकांक्षा है तो सबसे पहले उसे तृष्णा को छोड़ना होगा। ज्यों-ज्यों व्यक्ति तृष्णा के वशीभूत होगा, उसकी आत्मस्थता मिटेगी, संकट बढ़ेंगे। अतः मेरा तो यही कहना है कि मानव सन्तोष और अपरिग्रह-वृत्ति को जीवन में प्रश्रय दे। अपने विषमता भरे जीवन में उसे शान्ति और सुख के दर्शन होंगे।

धामनोद,
२१ जून '५५

१०४ : आत्म-नियमन

व्यक्ति दूसरों पर कन्ट्रोल करना छोड़ सबसे पहले अपने-आप पर कन्ट्रोल करे। अपने पर कन्ट्रोल या आत्म-नियमन का साधन है संयम। संयम सच्चे सुख और शान्ति का हेतु है। मानव ने अपने को संयम से जितना ज्यादा दूर किया, उतना ही ज्यादा उसकी शान्ति व सुख कम हुए।

मानपुर,
२१ जून '५५

१०५ : धर्माराधन

जिस प्रकार फसल के लिए पानी और बीज की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार धर्माराधना अहिंसा और सत्य पर आधारित है। जहाँ अहिंसा और सत्य का समावेश नहीं, वहाँ केवल कहने भर को धर्म हो सकता है, सच्चा धर्म वहाँ नहीं। हर व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह अपने जीवन में सत्य और अहिंसा को प्रश्रय दे।

महु,
२५ जून '५५

१०६ : धर्म का सत्य स्वरूप

आप लोगों ने हमारा स्वागत किया, यह आपके हृदय की अध्यात्म-निष्ठा का परिचायक है। पर आप जानते हैं, व्यावहारिक स्वागत तो राजनैतिक अथवा सामाजिक नेताओं का हुआ करता है। सन्तो का स्वागत कैसा ? उनका सच्चा स्वागत तो यही है कि लोग उनके आदर्शों का अनुकरण करते हुए जीवन की बुराइयों को छोड़ें। आप जानते हैं, भारत की संस्कृति सदा से त्याग और संयम की संस्कृति रही है। भारतीयों का चिन्तन-क्रम था--यह जीवन अध्रुव है, हम इसमें ऐसा काम क्यों करें जो दुर्गति की ओर ले जानेवाला हो। पर खेद है, ये प्राचीन इतिहास की बातें अब केवल बातें भर रह गई हैं। लोगों के जीवन को आज टटोलें तो पायेंगे कि वह अधिकाधिक अनैतिक और चारित्र-शून्य बनता जा रहा है। यही कारण है कि भौतिक सुख-सुविधाओं के बावजूद उनका जीवन आज अशान्त है, दुःखी है। हम चाहते हैं, लोगों का जीवन ऊँचा उठे, वे सदाचारी हों, प्रामाणिक हों। इसीलिये हम पद-यात्रा करते हुए प्रामाणिकता, सदाचार और चारित्र्य-निष्ठा की भावना लोगों में जमाने का प्रयास करते हैं।

आज व्यक्ति के जीवन का केन्द्र-बिन्दु अर्थ बन गया है। वह जिस किसी तरह पैसा बटोरने में अपनी बुद्धि और शक्ति की सार्थकता मानता है। फलतः शोषण बढ़ता है, अनीति बढ़ती है, अन्याय बढ़ता है, जो मानवता के ह्रास और पतन की निशानी है। जहाँ शोषित सुखी नहीं, वहाँ सुख शोषक को भी नहीं। चोर, डाकू, और न जाने किन-किन के भय से वह सदा व्यग्र रहता है। फिर भी वह अर्थ-संग्रह से चिपका रहता है। यह उसका बुद्धि-भ्रम नहीं तो और क्या है ? इतना ही नहीं

शोषण और अन्याय से पूँजी बटोरनेवाले थोड़ा-सा पैसा इधर-उधर खर्च कर अपने को धर्मधुरीण साबित करने से भी बाज नहीं आते। वे समझ लें, संसार उनके दान का भूखा नहीं है, वह तो अपना अधिकार चाहता है। आप कम से कम शोषण तो बन्द कर दें; जौंक की तरह दूसरों का खून तो न चूसें।

धर्म का असली स्वरूप केवल बाहरी कर्मकाण्डों मे नहीं। वह तो जीवन को शुद्ध, सात्त्विक, लोभ-शून्य और हल्का बनाने में है। धर्म परिग्रह में नहीं है, वह अपरिग्रह और त्याग में है। जातिवाद के बन्धनों से वह अछूता है। वहाँ हरिजन-महाजन, धनी-निर्धन और सबल-निर्बल का भेद नहीं, वह तो प्राणीमात्र का है। वह उनका है जो जीवन में अहिंसा और सत्य की व्याप्ति देखना चाहते हैं। वह हवा और पानी की तरह सबके लिये है, सब उसके अधिकारी हैं।

इन्दौर,
२६ जून' ५५

१०७ : धर्म की व्याख्या

ज्योति के बिना जैसे दीपक का महत्त्व नहीं, प्राणों के बिना जिस प्रकार शरीर का मूल्य नहीं, उसी तरह धर्म के बिना मानव केवल कहने भर को मानव रहता है, सच्ची मानवता के दर्शन उसमें नहीं होते। धर्म सम्प्रदाय विशेष से बँधा नहीं है। वह यदि बधा हुआ है तो सत्य से, अहिंसा से, शील से और सौजन्य से बँधा है। उसकी सरल से सरल व्याख्या यदि की जाए तो कहना होगा कि मानव का मूल स्वभाव धर्म है। स्वभावतः मानव हिंसक नहीं होता, अत्याचारी नहीं होता। हिंसा, असत्य, तृष्णा, लोभ और क्रूरता आदि दुर्गुण मानव के सहज स्वभाव नहीं हैं, विभाव हैं। अतः डाकू यदि कहे कि डाका डालना ही उसका धर्म है तो यह गलत होगा। डाकूपन उसकी आत्मा का विभाव अथवा विपरीत भाव है। नवजात शिशु को देखिये उसमें कम से कम विकार मिलेंगे। वह बहुत कुछ सात्विक वृत्ति से सम्पन्न मिलेगा। ज्यों-ज्यों विकारभरी दुनिया में वह कदम रखता जाता है वह विकारों से घिरता जाता है और उसे यह विभाव जैसा लगने लगता है।

धर्म के नाम पर जहाँ अनेकों भले कार्य हुए वहाँ स्वार्थलोलुप तथाकथित धार्मिकों द्वारा उसका भारी दुरुपयोग भी किया गया। उसे जातिवाद, वर्गवाद और अर्थवाद के गहरे बन्धनों में जकड़ा गया, अपने स्वार्थ पोषण का उसे साधन बनाया

गया। यही कारण है कि धर्म बदनाम हुआ। उसे अफीम की गोली तक कहा गया। यदि इस तरह विकृत अवस्था में वह नहीं पहुँचता तो कोई कारण नहीं था कि उसे ऐसा समझा जाता। मैं समस्त धर्मानुरागी लोगों को कहना चाहूँगा कि वे धर्म के सच्चे स्वरूप को समझें। धर्म के नाम पर संघर्ष करना, लड़ना-झगड़ना, गाली-गलौज करना क्या धर्म की बिडम्बना नहीं है ! धर्म तो विश्व मैत्री, बन्धुत्व, भाईचारा और नेक नीयती का प्रतीक है। वहाँ कुटिलता और अभद्रता को स्थान कैसा ? मनऋजुता, अर्थात् मन, वचन और काया से सरल होना, निष्कपट होना धार्मिकपन का लक्षण है। धर्म की आड़ में जहाँ क्लेश और कदाग्रह बढ़ते हैं, क्या वह धर्म धर्म कहे जाने के योग्य है ?

इन्दौर,
२७ जून '५५

१०८ : समस्या और समाधान

आज जिस ओर देखते हैं, रोटी और कपड़े की समस्या की आवाजें सुनाई देती हैं; परन्तु मैं कहूंगा वास्तव में रोटी और कपड़े की समस्या उतनी बड़ी नहीं जितनी नैतिकता और मानवता की है। आज लोगों का जीवन अनैतिक और अमानवीय बनता जा रहा है। दिन पर दिन वे सचाई, ईमानदारी और नेकनीयती को भुलाते जा रहे हैं। तभी तो यह देखा जाता है कि एक आदमी के पास अनाज की कोठियाँ भरी पड़ी हैं और दूसरा अनाज के अभाव में छटपटा रहा है। आज इन्सान कितना स्वार्थी बन गया है, अपने तिलमात्र स्वार्थ के लिये दूसरों का गला घोंटने जरा भी नहीं सकुचाता।

मैं एक पर्यटक हूं। मुझे धनी, गरीब सभी तरह के लोग मिलते हैं। मैं जब उन कोट्याधीश धनवानों को देखता हूं तो वे भी मुझे अन्न और पानी के स्थान पर हीरे-पन्ने तो खाते नजर नहीं आते। मुझे आश्चर्य होता है कि वे धन के पीछे शोषण और अत्याचारों से क्यों अपने को पाप के गड्ढे में गिराते रहते हैं ?

आज साम्यवाद का नाम अनेक व्यक्तियों से सुनने को मिलता है। मुझसे कुछ लोगों ने पूछा कि क्या भारत में साम्यवाद आयेगा ? मैंने उत्तर दिया—अगर आप बुलायेंगे तो आयेगा, नहीं तो नहीं आयेगा। मेरा अभिप्राय यह है कि यदि भारतीय, साम्यवाद से, जो जड़वाद पर आश्रित है, घृणा करते हैं तो उन्हे अपरिग्रहवादी बनना होगा। उन्हे शोषण, अत्याचार और अति लोभ को छोड़ना होगा। जैसा कि मैंने पहले बताया—

आज स्वार्थ-भावना का सर्वत्र बोलबाला है। और तो और लोग धर्म मे भी इस वृत्ति को नहीं छोड़ते। किसी को सूखी रोटी का टुकड़ा दे दिया, समझने लगे—उन्होंने बहुत बड़ा दान कर दिया, बहुत बड़ा पुण्य कमा लिया। वे नहीं सोचते कि एक सामाजिक भाई के नाते वह तो दान का नहीं, भाग का अधिकारी है।

मेरा तो यही कहना है कि जनता अपरिग्रहवाद को अपने जीवन में अधिकाधिक प्रश्रय दे। यही उनकी सब समस्याओं का सही हल होगा।

१०६ : व्यक्ति के कर्तव्य

हर व्यक्ति यह कामना करता है कि दूसरे उसके प्रति बुरा बर्ताव क्यों करें? पर ऐसे बहुत कम लोग मिलेंगे जो यह सोचने का कष्ट करते हों कि दूसरे भी तो उनसे यही आशा रखते हैं, जैसी कि वे दूसरों से रखते हैं। ऐसी स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह दूसरों के प्रति अभद्र व्यवहार न करे, दूसरों को धोखा न दे, उनके प्रति विश्वासघात न करे, उनके अधिकार न लूटे। यही वह उदात्त भावना है जिसे धर्म सब को सिखाता है। यदि व्यक्ति-व्यक्ति उसे अपना ले तो मैं समझता हू कि आये दिनों के संकट जिनसे लोगों का जीवन नष्ट-भ्रष्ट और ध्वस्त हुआ जा रहा है, निःसंदेह टल सकते हैं। क्या मैं आशा करूँ कि लोग इस ओर मुड़ेंगे?

इन्दौर,
२७ जून '५५

११० : एक पंचसूत्री कार्यक्रम

मैं जैन-संस्कृति को लेकर कुछ बोल रहा हूँ, यह देख अजैन बंधु ऐसा न सोचें कि यह उनसे सम्बन्धित विषय नहीं है। मैं जैनत्व का अर्थ संकीर्ण दायरे मे नहीं लेता। जैन-दर्शन राग-द्वेष को जीतने वाले जीवन्मुक्तों द्वारा आविष्कृत तत्त्व-ज्ञान का मार्ग है। इस दृष्टि से देखने पर संकीर्णता की गन्ध तक इसमे नहीं रहती। जैन तत्त्वज्ञानियों ने—सर्वद्रष्टाओं ने अहिंसा, समता, संयम आदि पर जो अनूठे विचार संसार को दिये, वे सत्य-पथ के पथिकों के लिए वास्तव में प्रेरणा-स्रोत हैं। आवश्यकता इस बात की है कि ऊँचे विचारों के अनुरूप व्यक्ति का जीवन हो। ऐसा न होने पर विचारों की उच्चता, सिद्धान्तों का आदर्शपन मनुष्य के किस काम का! तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश पाये लोगों से यह छिपा नहीं है कि जैन-दर्शन का अनेकान्तवाद संसार की उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने का एक सफल मार्ग है, पर कितने खेद की बात है कि संसार भर की उलझनों को सुलझाने की क्षमता रखने वाले सिद्धांत के

अनुयायी आपस में इस बुरी तरह तू-तू मैं-मैं करते हैं, जो सचमुच लज्जा का विषय है। लगभग एक सप्ताह पूर्व की बात है। उस समय मैं गुजरी नामक गाव में था। एक दिगम्बर जैन-बन्धु मुझसे कहने लगे—"एक बार मैं बड़ौदा गया था। एक धर्मशाला में ठहरा। धर्मशाला जैनों की थी। ठहरने के कुछ देर बाद धर्मशालावालों ने मुझसे पूछा—आप कौन से जैन हैं ? मैंने बताया कि मैं दिगम्बर हूँ। धर्मशाला वाले कहने लगे कि आप यहाँ नहीं ठहर सकते क्योंकि यह धर्मशाला तो श्वेताम्बरों के लिए है। मैंने कहा—मुझे केवल दो ही घण्टे ठहरना है, आपको क्या बाधा है इसमें ? पर धर्मशाला वाले नहीं माने। मुझे धर्मशाला छोड़कर अन्यत्र जाना पड़ा।" घटना छोटी-सी है। पर भिन्न-भिन्न जैनों मे परस्पर कितनी संकीर्ण भावना है, इसका यह स्पष्ट उदाहरण है। जैन-बन्धु जरा सोचें, क्या यह उनके लिए शोभनीय है ?

सब सम्प्रदाय एक हो जांय, यह कभी होने का नहीं। हाँ, आपस में एक दूसरे के प्रति कटुता, द्वेष और वैमनस्य न रहे ऐसा होना आवश्यक है और यह सम्भव भी है, यदि सब सम्प्रदाय ऐसा चाहें। उन सिद्धान्तों को जिनमें परस्पर कोई भेद नहीं, जो सर्वसम्मत हैं, वे आगे रखें। उन्हीं के माध्यम से यदि वे बरतें तो कोई कारण नहीं कि आपस में कटुता पैदा हो। आपस में एकता, समन्वय तथा सामंजस्य पूर्ण वृत्ति जागे, उसके लिए मैंने एक पञ्चसूत्री कार्यक्रम जनता के सामने रखा था जो यह है :—

(१) मण्डनात्मक नीति बरती जाय। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाय। दूसरों पर मौखिक या लिखित आक्षेप न किये जायँ ;

(२) दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखी जाय ;

(३) दूसरे सम्प्रदाय के साधु-संघ के प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाय ;

(४) सम्प्रदाय-परिवर्तन के लिए दबाव न डाला जाय। स्वेच्छा से यदि कोई व्यक्ति सम्प्रदाय-परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि के रूप में अवांछनीय व्यवहार न किया जाय; और

(५) जैन धर्म के सर्व सम्प्रदाय मान्य सिद्धान्तों का संगठित प्रचार किया जाय।

मेरा विश्वास है, यदि इसे लोग अपनायेंगे तो आपसी भेद-रेखा दूर होकर उनमें मैत्री, सद्भाव और समन्वयपूर्ण वृत्ति बढ़ेगी।

सब धर्मों के लोग अध्यात्म के एक सर्व सम्मत मंच पर आ सकें, इसके लिए अणुव्रत-आन्दोलन एक ठोस योजना है। इसमें उन सिद्धान्तों को स्थान दिया गया है जो सभी धर्मों द्वारा सम्मत हैं। इसका एक मात्र लक्ष्य है—मानवीय चेतना अध्यात्म की ओर मुड़े, जीवन में चारित्रिक विशुद्धि विकास पाये, नीति-निष्ठा फैले। आशा है इसी दृष्टि से लोग इसे अपनायेंगे।

इन्दौर,
२८ जून '५५

१११ : जीवन का परिष्कार

मैं भी एक लम्बे समय से उज्जैन की गौरव-गाथाएं ग्रन्थो में पढ़ता रहा हूँ, जिससे मुझे इस ओर आकर्षण रहा है ; पर आप जानते हैं, मैं यहाँ सरलता से नहीं पहुँच पाया हूँ। सात-सात घाटियाँ मुझे पार करनी पड़ी हैं। वे पथरीली घाटियाँ नहीं बल्कि वे थीं लोगों द्वारा अपने-अपने स्थानों में हमारे प्रवास के लिये की हुई निष्ठापूर्ण प्रार्थनाएँ। बम्बई के लोग चाहते थे, दूसरा चातुर्मास भी मैं उसी क्षेत्र मे बिताऊँ। बाद मे पूना, औरंगाबाद, जालना, जलगाँव, धूलिया और इन्दौर में वे ही प्रसंग उपस्थित हुये पर उन सभी को पार करता हुआ मैं यहाँ तक पहुँचा। आपने हमारा स्वागत किया, यह आपके हृदय की अध्यात्मनिष्ठा का परिचय है जो भारतीय संस्कृति के अनुरूप है। पर आप जानते हैं—हमारे सच्चे स्वागत का अर्थ है हमारे विचारों को—सत्य, अहिंसामूलक आदर्शों को जीवन में ढालना।

भारतीय जीवन के साथ अध्यात्म की एक बहुत बड़ी विरासत और परम्परा रही है। यहाँ का जनमानस धन-वैभव और सत्ता के आगे नहीं झुका। यदि झुका तो वह संयम, त्याग, आत्मसाधना और चारित्र्य के आगे झुका है। फलतः सदाचार और शील भारतीय जीवन का लक्ष्यबेध रहा। पर समय बदला, स्थितियाँ बदलीं। आज भारत का उजला अतीत केवल कहने भर के लिए रह गया है। यदि लोगों के जीवन को टटोला जाय तो अनैतिकता, असदाचार, असत्य आदि जैसी बुराइयों से वह सड़ा-गला जर्जरित मिलेगा। आज प्रत्येक व्यक्ति को अपना अन्तरतम सम्हालना है। जीवन को घुन की तरह खा-खाकर खोखला बनानेवाली असद्-वृत्तियों को मिटाना है। इसी में मानव-जीवन की सार्थकता है। अणुव्रत-आन्दोलन मानवता के परित्राण का आन्दोलन है। लोगों में चरित्रनिष्ठा पैदा करने का आन्दोलन है।

पश्चिम से निकले अणबम की विभीषिका से मानव आज व्यग्र है। मुझे विश्वास है—पूर्व से—भारत से निकला अणुव्रत उससे टक्कर लेगा। संघर्ष के बदले शांति, वैमनस्य के बदले मैत्री और लड़ाई-झगड़े के बदले प्रेम की प्रतिष्ठापना करेगा। लोग इसे देखें, समझें, अपनाएँ। अणुव्रत-आन्दोलन उन विश्वजनीन आदर्शों को लेकर चलता है जिन्हें मानव होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति को पालन करना चाहिये। यह मानव-धर्म का सर्वसम्मत मंत्र है। इसका लक्ष्य है जीवन-व्यवहार की शुद्धि और परिष्कार।

उज्जैन,
३ जुलाई '५५

११२ : चातुर्मास का महत्त्व

आज चातुर्मासिक चतुर्दशी है। होली चातुर्मासी के चार महीने बाद आई है पर उसमें और इसमें अन्तर है। उस चतुर्दशी के बाद हम पर्यटन करने को खुले थे पर इस चतुर्दशी के बाद ऐसा नहीं है। अब पांच महीने के लिये (अधिक मास का एक महीना ज्यादा) उज्जैन की सीमा में प्रवास करना है।

इस चतुर्दशी का अपना एक विशेष महत्त्व है। आज से चातुर्मास प्रारम्भ है। चातु र्मास (वर्षाऋतु) की बेला अपने पीछे एक उर्वरता लिये आती है। यह जैसे अन्न उपजाने का समय है उसी तरह धर्मोपार्जन का भी सरस अवसर है। साधु-सन्त ऋतु भर के लिये एक जगह स्थायी प्रवास करते हैं इससे लोगों को उनके सम्पर्क एवं सत्संग का एक लम्बा स्थिर अवसर मिलता है। यदि वे चाहें तो धार्मिक विकास में अपने को बहुत कुछ आगे बढ़ा सकते हैं। क्या मैं आशा करूँ—यहाँ के लोग इस बहुमूल्य समय का पूरा-पूरा लाभ लेंगे ?

मानव-योनि वह योनि है जब कि व्यक्ति को धर्मोपार्जन का अधिकाधिक अवसर सुलभ हो सकता है। ऐसे बहुमूल्य जीवन को पाकर भी जो लोग धर्माराधना में उसका उपयोग न कर उसे वृथा गवाँ देते हैं उनसे अधिक अविवेकी और अभागा कौन होगा। मैं चाहूंगा, उज्जैन के नागरिक, धर्म के अहिंसा, सत्य, समता, सात्विकता, एवं सुजनतामूलक स्वरूप को हृदयंगम करते हुये, जीवन-शुद्धि की ओर प्रेरित होंगे।

उज्जैन,
४ जुलाई '५५

११३ : सुधार की क्रान्ति

सुधार की लम्बी-लम्बी बातें बनाते आज अनेक लोग देखे जाते हैं पर जब स्वयं को सुधारने का प्रसंग आता है तो झट व्यक्ति उधर से मुँह मोड़ने लगता है। यह उसके मन की दुर्बलता है, निष्ठा की कमी है अन्यथा सुधार की शुरूआत तो स्वयं व्यक्ति को आप से करनी चाहिये। कथनी और करनी में जहाँ एकता है, जीवन का सत्त्व वहीं है। जो कहने को बड़ी-बड़ी बातें कह डालते हैं पर करने के समय हाथ सीधे कर देते हैं उनके कहने की संसार मे कोई कीमत नहीं समझता। अतः सबसे पहले व्यक्ति अपने आपको उठाये।

अक्सर यह प्रश्न सामने आता है कि संसार बहुत बड़ा है, अरबों लोग इसमें बसते हैं। एक-एक व्यक्ति के सुधार से क्या बनने का है ? पर वे भूलते हैं, व्यक्ति ही तो समष्टि का मूल है। व्यक्ति-व्यक्ति से तो समाज बनता है। यदि व्यक्ति की इकाई मिटा दी जाय तो फिर पीछे रहेगा क्या ? व्यक्ति-सुधार का व्यावहारिक पहलू जरा समझिये। एक व्यक्ति सुधरा, उसने दूसरे व्यक्ति को सुधरने के लिये प्रेरित किया दो सुधरे, दोनों ने दूसरे दो व्यक्ति को जगाया। चार हुये ! चारों ने दूसरे चार तैयार किये। यदि प्रयत्न रहे तो आगे बढ़ती-चढ़ती यह परम्परा इतना विकास और वृद्धि पा सकती है कि सुधार की क्रान्ति मच जाय। अतः प्रत्येक व्यक्ति यदि इसकी आवश्यकता महसूस करता हुआ कार्यक्षेत्र में आये तो जन-जागृति का एक बहुत बड़ा कार्य हो सकता है। जिस प्रकार एक दीप से लाखों दीपक ज्योति पा सकते हैं उसी प्रकार एक व्यक्ति से लाखों में आत्म-जागृति का संचार हो सकता है।

अणुव्रत-आन्दोलन व्यक्ति-सुधार के माध्यम से चलनेवाला आन्दोलन है। व्यक्ति-व्यक्ति में भलाई का संचार हो, सद्‌गुण जगे, न्याय और नीति पनपे यह इस आन्दोलन की पृष्ठभूमि है। जैसा कि मैं देखता आ रहा हूँ—लोगों का इस ओर झुकाव बढ़ रहा है ; नैतिकता के इस आन्दोलन के साथ एक निकट का आत्मभाव उनमें पाता हूँ। अधिकाधिक लोग इसे अपने जीवन मे उतारने की ओर सक्रिय कदम उठाएंगे तो नैतिक जागृति का एक बहुत बड़ा कार्य राष्ट्र में होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

उज्जैन,

५ जुलाई '५५

११४ : तप

भगवान महावीर ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपस्या को मोक्ष का मार्ग बताया है। ज्ञान से व्यक्ति जानता है, दर्शन से विद्या पाता है, चारित्र से हिंसा, चोरी अब्रह्मचर्य और परिग्रह आदि वृत्तियों का निग्रह—अवरोध होता है। इस प्रकार आत्मा को ये अशुभ कर्म बन्धन से बचाते हैं। तपस्या पूर्व संचित कर्म बंधनों को तोड़ती है, अर्थ वैभव, पुत्र व सांसारिक सुख जैसी भौतिक अभिसिद्धियाँ तपस्या की सही लक्ष्य नहीं। इनके लिये जो व्यक्ति तपस्या करते हैं वे करोड़ों की संपत्ति को कौड़ी मोल गंवाते हैं। तपस्या का सही और शुद्ध लक्ष्य है जीवन-शुद्धि, कर्म-निर्जरना।

एक प्राचीन आचार्य ने तपस्या के विवेचन में लिखा है कि तप पूर्वाजित कर्म-पर्वतों को तोड़ डालने के लिये वज्र है, आन्तरिक काम दावानल की ज्वालाओं को शांत करने के लिये यह शीतल जल है, भोग लुब्ध इन्द्रिय रूपी सूर्य को बाँधने का यह अमोघ मन्त्र है। लेकिन कब? जब कि व्यक्ति सही लक्ष्य को हृदयंगम कर तपस्या में स्वयं को लगाए।

जैन-शास्त्रों में तपस्या के अनेक भेद हैं, अनेक परिपाटियाँ हैं जैसे लघु सिंह विक्रीड़ित, आयांम्बल, वर्धमान, रत्नावली, एकावली, आदि। एक-एक चातुर्मास में सैकड़ों वर्ष की तपस्या होती है अर्थात चातुर्मास में हुई तपस्या का पूरा आंकड़ा जोड़ने पर वह सैकड़ों वर्षों की अवधि तक पहुँच जाता है। जैन साधु-साध्वियों में बहुत बड़ी-बड़ी तपस्याएं होती रही हैं। और-और संघों का तो मुझे पता नहीं, तेरापन्थ के मुनियों में छाछ के पानी (छाछ को गर्म करने पर नितर कर ऊपर आने वाला पानी) के आधार पर छः महीनों तक का तप हुआ है अर्थात् छः महीने तक छाछ के पानी के अतिरिक्त उन्होंने और कुछ नहीं लिया। साध्वियों में नौ मास का ऐसा तप हुआ है।

तपस्या आत्म-शक्ति को बढ़ाती है, आत्मतेज को उद्दीप्त करती है। अन्तर-शुद्धि का यह अमोघ साधन है। जैन-इतिहास को हम देखें तो पाएंगे कि किसी भी अच्छे काम की शुरूआत तेले (तीन दिन का सलग्न उपवास) से होती है। जैन आगमों के अनुवाद का बहुत बड़ा काम हमें करना है। गत महावीर जयन्ती के अवसर पर जिसकी मैंने घोषणा की थी, उसकी शुरूआत मैं तेल की तपस्या से करूँ—ऐसा लगभग दो मास पूर्व मेरा अन्तर संकल्प था, मैंने प्रकट नहीं किया। उपवास से इसका आरम्भ किया।

दूसरे दिन पारण के समय मैंने साध-साध्वियों को अपनी भावना बताई और साथ-साथ यह भी कहा कि मैं तेला कर रहा हूँ, इसलिये आप सब को तेला करना ही पड़े ऐसी कोई बात नहीं है। हाँ, जिनमे उत्कट भावना हो वे तेला करें, दूसरे जो अस्वस्थ हैं या करने की स्थिति में नहीं हैं वे पारणा कर लें। साधुओं मे १३ व साध्वियों मे १८ कुल ३१ तेले हुये। अनेक उपवास हुये। इस प्रकार मेरे तेले के पीछे साध-साध्वियों में ५ महीने की तपस्या हुई। आप यह न समझें कि तेला किया है, ऐसी कौन-सी बड़ी तपस्या है। मैं बड़ाई की दृष्टि से नहीं कह रहा हूँ। पर जिसने उपवास से ऊपर नहीं किया, उसके लिये तेला अलबत्ता दुष्कर है ही। पर मुझे इस तपस्या मे जरा भी क्लेश या असुविधा नहीं रही, बड़ा आत्म उल्लास रहा। तपस्या मे आत्म-चिंतन कितना स्वच्छ और निर्मल रहता है, इसकी मुझे बड़ी सरस अनुभूति मिली। यद्यपि साधु-साध्वी त्याग व निर्विकार अवस्था के पथिक हैं पर उनमे कभी विकार पैदा हो ही नहीं—ऐसी बात नहीं है। वे भी छद्मस्थ हैं—उनमे भी क्रोध-ईर्ष्या जैसे विकार पैदा हो सकते हैं जिन पर सदा नियंत्रण रखना उनका काम है पर इस तपस्या के बीच मुझे महसूस तक नहीं हुआ कि विकार किसे कहते हैं। मुझे लगता था---मैं वीतरागावस्था की ओर दौड़ा जा रहा हूं। आहार लेते दिनो जैसी शक्ति मैं अपने मे अनुभव करना, खड़ा-खड़ा प्रतिक्रमण करना, आने वाले तत्त्वजिज्ञासुओ से वार्त्तालाप करता। बड़े आनन्द का अनुभव मुझे होता। यदि किसी को आतरिक अनुभूति पानी हो तो मैं कहूंगा उसे अतश्चिन्तन के साथ-साथ अनशन नामक बाह्य तपस्या का आश्रय लेना अपेक्षित होगा। उसका मधुर फल उसे स्वतः मिलेगा।

आज व्यक्ति का जीवन कितना अव्यवस्थित और असयमित हो चला है कि न उसके खाने का समय है, न पीने का, न और-और कामों का। दिन को, रात को हर समय वह चलता रहता है। रात्रि भोजन भी यदि वह छोड़ दे तो वर्ष मे छः मास की तपस्या उसकी सहज मे हो सकती है।

हाँ, तो मैं अपनी अनुभूतियाँ आप लोगों को बतला रहा था। एक थोड़ी-सी लापरवाही भी मुझ से हुई। दो दिन तक तो मुझे पानी की रुचि जैसी रही।

कल अर्थात् तीसरे दिन पानी की रुचि मुझे नही थी। फिर भी मैंने सोचा दिन में बोलना अधिक हुआ है—थोड़ा पानी पी लूं। बिना रुचि के थोड़ा पानी

पी लिया जिससे रात को कुछ समय तक उकाब जैसी रही। पानी भी बिना रुचि के लेना कितना विपरीत पड़ता है, यह लोग जानें। आज सवेरे तो मुझे इतनी स्फूर्ति और हलकापन महसूस हुआ कि चोला पंचोला भी किया जाय तो बाधा जैसी बात नहीं।

अस्तु। तपस्या आत्म-परिष्कार के लिए कितना सफल साधन है यह स्पष्ट है। इसी दृष्टिकोण से साधु-साध्वियों में तपस्या चलती है। इधर तपस्या-क्रम में कुछ कमी हुई है। मेरा ख्याल है, यह तेला, उनके लिये एक-एक प्रेरणा स्रोत बनेगा। श्रावक व श्राविकाएँ भी इससे प्रेरणा लेंगे। तपस्या जिस तरह आत्म-शुद्धि का हेतु है उसी तरह वह संघ-शुद्धि का हेतु भी है।

धरणगाँव,
७ जुलाई '५५

११५ : मानवता की परिभाषा

आज जिधर देखो मनुष्य अपने सम्प्रदाय, कौम, जाति और वर्ग की संकीर्ण चर्चा लिये दिखाई देता है। मानवता जो अनीति, अनाचरण, शोषण और हिंसक वृत्ति से ग्रस्त हो रसातल को पहुँची जा रही है, उसका उसे ध्यान तक नहीं। सबसे पहले मानव को यह सोचना है कि वह मानव है। मानव का अर्थ केवल दो हाथ-पैर और मानवीय कलेवर धारण करने में नहीं है। मानवता का सच्चा स्वरूप है, प्रामाणिकता, सच्चाई, ईमानदारी, विश्वास, सेवा और शील जो प्रत्येक मानव में होने चाहिये। अगर उसमें इनका अभाव है तो वह केवल कहने भर को मानव है, सच्ची मानवता उसमें नहीं।

मनुष्य के जीवन का महत्त्व और विशेषता इसलिये नहीं है कि उसने पानी में मछली की तरह तैरना सीखा, आकाश में पक्षी की तरह उड़ना सीखा, ऐसे प्रलयकर शस्त्रास्त्रों की सृष्टि उसने की जो क्षण भर में संसार को भस्मसात् कर सकते है। उसकी विशेषता इसलिये है कि मानव जीवन ही वह जीवन है, जिससे वह आत्मा से परमात्म-पद तक पाने में सफल हो सकता है। संयम और सत्य जैसे आत्म-तत्वों की साधना का मानव-जीवन एक सफल हेतु है। उत्पीड़न, शोषण और अनाचरण में लगा मानव सचमुच अपने मानवपन की धूल उड़ाता है। मनुष्य जिस फले-फूले

और हरे-भरे जीवन पर इतराता है, वह भूल क्यों जाता है कि उसे मिटते क्षणभर की भी देर नहीं लगती। देखते-देखते ऐसे अनेक लोग बिला गये जिनके गर्व से धरती पर पैर तक नहीं पड़ते थे। मानव इस भूल-भुलैया से परे हो जीवन को अधिकाधिक न्याय, नीति, प्रामाणिकता और शालीनता से संजोए।

मानव सही माने में मानव बने, उसमें मानवता के मूलभूत गुणों का विकास हो, इसके लिये धर्म के मौलिक सिद्धान्तों को लेते हुए हमारा सृजनात्मक कार्यक्रम चल रहा है जो अणुव्रत-आन्दोलन के नाम से विदित है। उसका प्रारम्भिक रूप है, प्रवेशक अणुव्रती जिसमें चलते-फिरते निरपराध प्राणी की हिंसा, चोरी, मिलावट, कम तोल-माप, वेश्या व पर स्त्रीगमन, जुआ, मद्यपान, भांग-गांजा-तम्बाकू सेवन आदि कुप्रवृतियों का वर्जन है। मानवता का यह तकाजा है कि मानव होने के नाते व्यक्ति को कम-से-कम इतने नियम तो पालने ही चाहिए।

इन्दौर
१० जुलाई '५५

११६ : व्यक्ति की मनोभूमिका

मनुष्य समाज में बाहरी सुविधाओं और अनुकूलताओं को देखकर खिल उठता है। विपरीत घटनाचक्र और प्रतिकूलताओं को देख वह अपने भाग्य को कोसता हुआ रो पड़ता है। यह उसके यथार्थ चिन्तन और भ्रान्त मनोभूमि का परिचय है अन्यथा वह भूल क्यों जाता है कि सुख बाहरी अनुकूल पदार्थों मे नहीं। सुख-स्रोत का सच्चा उद्गम तो मनुष्य का अपना अन्तरतम है, अपनी आत्मा है।

यदि सुख अपरिमित भोज्य-पदार्थों, भोग-सामग्रियों और गगनचुम्बी अट्टालिकाओं मे होता तो बड़े-बड़े सत्ताधीश धनपति दुःख से कराहते क्यों मिलते और टूटी-फूटी झोंपड़ी में फटे-पुराने वस्त्रों में रूखी-सूखी रोटी खाकर आत्मतृप्त रहनेवाले संतोषी को सुख कैसे होता? पर बात ऐसी नहीं है। हम अनुभव करते हैं, देखते हैं, इतिहास में पाते हैं, कि जिन्होंने संसार के धन-वैभव और मालमत्ता को लात मार कर संयम, साधना, आकिंचन्य का जीवन अपनाया उन्होने उस सुख की उलपब्धि की, जो बड़े-बड़े सम्राटों और देवों को भी नहीं मिल सकता। सवाल उठता है—फिर व्यक्ति बाहरी भोग-वासना की चकमक में गुमराह क्यों हो जाता है? उत्तर सीधा-सा है। जबतक व्यक्ति को सत्य वस्तु का ज्ञान नहीं, सच्चे सुख की पहचान

नहीं, तबतक न वह उसकी ओर प्रेरित हो सकता है, न उसमें उसे रस ही आता है। जिस बालक ने दूध नहीं चखा, यदि पानी में घुला आटा उसे दूध कहकर पिला दिया जाय और वह उसे दूध मान मिथ्या सुखानुभूति करे तो कौन-सा आश्चर्य है! उसकी बुद्धि सत्य से दूर है।

यदि मानव का चिन्तन निर्मलता लिये है तो वह जैसी भी परिस्थिति में हो, अपने को सुखी बना सकता है। मानव की यह आम प्रवृत्ति है कि वह अपने से ऊपर की ओर देखता है, नीचे की ओर नहीं। बड़े-बड़े धनाधीशों को वह देखकर अपने को कोसता है कि वह उनसे नीचा क्यों है? यदि ऐसा सोचने के बजाय वह अपने से कम सुविधा प्राप्त व्यक्तियों को दृष्टि में रखकर सोचे कि संसार में अनेक लोग ऐसे हैं, जो उससे कितनी अधिक दुरवस्था में हैं, वह तो उनसे बहुत अधिक सुखी है तो उसका कोसना उल्लास में बदल सकता है। यह चिन्तन का एक व्यवहारिक प्रकार है। नैश्चयिक दृष्टि से देखें तब तो भौतिक सुख वास्तविक सुख है ही नहीं।

व्यक्ति की मनोभूमि का शुद्ध हो, इसके लिये आगम की भाषा में उसे अपने को ग्रहण और आसेवन में लगाना होगा। तत्त्व को जानना, ग्रहण करना— इतना ही पर्याप्त नहीं है। इससे आगे उसके आसेवन करने की, उसे अपने जीवन में उतारने की, व्यवहार में ढालने की आवश्यकता है। तभी वह ज्ञान जीवन के लिये प्रेरणाप्रद हो सकता है। सूखा, केवल कथनी भर का ज्ञान जीवन विकास के लिये क्या दे सकेगा?

इन्दौर,
१२ जुलाई '५५

११७ : धर्म की आत्मा : अहिंसा

आज मनुष्य के धर्म और प्रतिदिन के व्यवहार में इतना अन्तर आ गया है कि कुछ कहते नहीं बनता। धर्म के आदर्श जहाँ अहिंसा, सत्य, शौच, शील और प्रामाणिकता की बात कहते हैं, वहाँ अपने को धर्म का उपासक माननेवाले व्यक्ति के व्यावहारिक जीवन को यदि टटोला जाए तो इनकी कम से कम व्याप्ति उसके जीवन में मिलेगी। अहिंसा धर्म की आत्मा है। उसके बिना धर्म की वही स्थिति है जो सूर्य के बिना दिन की, तेल के बिना दीपक की और चैतन्य के बिना शरीर की। पर खेद इस बात का है कि अहिंसा के विषय में सहसा लोग यह कह डालते

हैं कि रोजमर्रा के व्यवहार मे उसका उपयोग कैसे सम्भव है ? हिंसा के आश्रय पर पनपनेवाले जीवन में अहिंसा का पालन कैसे हो सकता है ? वे भूलते हैं, अहिंसा केवल सैद्धान्तिक आदर्शों की वस्तु नहीं, वह जीवन में उतरने का तत्त्व है। तभी इसकी महत्ता है, उपयोगिता है।

अहिंसा के आश्रय बिना व्यक्ति और समाज का जीवन चल सकता है, ऐसा हम सोच तक नहीं सकते। आप एक ऐसे समाज की कल्पना कीजिये जिसमें एक मात्र हिंसा ही हिंसा चलती हो, वहाँ आप देखेंगे—सब आपस मे लड़ रहे हैं, मार-काट कर रहे हैं, गाली-गलौज कर रहे हैं, छल रहे हैं, धोखा दे रहे हैं, लूट रहे हैं। पर ऐसा है नहीं। नैतिक दृष्टि से आज के गयेगुजरे जमाने में भी अलबत्ता आपसी बन्धुभाव, मैत्री, ममता आदि का कुछ न कुछ अंश तो बना ही है जिसके आधार पर लोगों का जीवन चल रहा है, व्यवस्थायें चल रही है। ये सब क्या है ? अहिंसा के ही आंशिक प्रयोग का तो यह चमत्कार है। ऐसा नहीं हो तो घण्टों मे लोग आपस मे कट-मर जाँय। अहिंसा को निष्क्रिय मानने वाले भूल क्यों जाते हैं कि भारत की युगों की परतन्त्रता अहिंसा के माध्यम को मानकर चलनेवाले उपक्रमों मे ही दूर हुई है। मैं नहीं कहता कि सम्पूर्ण अहिंसा का बर्तन वहाँ हुआ पर इतना तो निःसन्देह है कि विदेशी सत्ता से लोहा जो लिया गया, वह रक्तपायी शस्त्रास्त्रो से नहीं, अहिंसा की प्रेरक शक्ति से। यद्यपि ज्योंही परतन्त्रता मिटी, देश में अन्तर-कलह मच गया, भाई-भाई आपस मे खून की होली खेलने लगे, जो राष्ट्र के लिए वास्तव में एक अभिशाप था, जो युग-युग तक काले धब्बों की तरह कलंक का प्रतीक रहेगा, पर मेरा अभिप्राय स्वतन्त्रता-प्राप्ति से था, जो बिना रक्तपात और विनाश के मिली। जहाँ इतिहास मे पढते, देखते और सुनते आये हैं कि इंच भर जमीन के संघर्ष को लेकर सेनाएँ की सेनाएँ कट मरीं वहाँ आप देखते हैं, अहिंसा के आधार पर आचार्य विनोबा भूमि-समस्या हल करने का प्रयास कर रहे हैं। अब तक जितना वे कर सके हैं, शायद उससे पूर्व कानून से ऐसा होने की मिसाल हमें इतिहास मे कठिनाई से मिलेगी। हाँ तो मैं आप लोगों से कहने यह जा रहा था कि आप अपने दैनिक व्यवहार मे, पारस्परिक वर्तन में, जीवन के हर पहलू में जहाँ तक बन सके अहिंसा का आश्रय लें। अहिंसा को अव्यवहार्य माननेवाले देखेंगे कि जीवन में शान्ति और सुख का कैसा स्वर्णिम प्रभात वह ला देती है।

हिंसा मत करो, किसी का सुख मत लूटो, किसी को धोखा मत दो, छल मत करो के रूप में जहाँ अहिंसा का निषेधात्मक पक्ष है वहाँ उसका विधानात्मक पक्ष भी है। वह है—सब के साथ मैत्री रखो, बन्धु-भाव रखो, समता बरतो। अहिंसा से प्रतिफलित होनेवाली मैत्री और बन्धभाव व्यक्तिगत मित्रों और बन्धुओं तक सीमित नहीं होती, उसकी सीमाएँ तो प्राणी मात्र तक पहुचती हैं। अहिंसा के इस विधानात्मक पक्ष में विश्वास रखनेवाला किसी के साथ बर्ताव करते समय यह ध्यान में रखे कि बन्ध-भाव, मैत्री और समता वृत्ति का वह कहीं व्याघात तो नहीं कर रहा है। फलतः उसके जीवन में मित्र-भाव और समता की वह निर्मल धारा बह चलेगी जो उसे फूल जैसा हलका और सुरभित बना देगी। अहिंसा और संयम का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। भगवान महावीर ने अहिंसा के विवेचन मे कहा—'हाथों का संयम करो, इन्द्रियों का संयम करो, मन का संयम करो, वृत्तियों का संयम करो।' उनका आशय था—'व्यक्ति अपने जीवन की क्रिया-प्रक्रिया मे हिंसा से बचे, अहिंसा को ले।' प्रतिदिन के व्यवहार में अहिंसा को लेने का यह मतलब है कि व्यापार, व्यवसाय, श्रम जो भी मनुष्य करता है वहाँ उसकी दृष्टि यह रहे कि वह दूसरों का अपकार, ध्वंस और अहित तो नहीं कर रहा है, शोषण तो नहीं कर रहा है। इससे वह अपने को हिंसा, अन्याय और कई तरह के जुल्मों से बहुत कुछ मुक्त रख सकेगा।

इन्दौर,
१७ जुलाई '५५

११८ : नागरिक जीवन और चरित्र-विकास

व्यक्ति की अधिकार-लिप्सा और महत्वाकांक्षा आज इस हद तक बढ़ चली है कि वह सारे संसार पर अधिकार जमाना चाहता है। वह यह नहीं देखता कि कितना दुर्बल और दयनीय वह है। स्वयं अपने-आप पर भी उसका अपना अधिकार या नियंत्रण नहीं है। सबसे पहले वह अपने आप पर नियंत्रण करे। भोग-लिप्सा, ऐन्द्रिय-दासता और भौतिक बन्दीपन के बंधनों को तोड़ कर वह आत्म-नियन्ता बने। आत्म-नियंत्रण अथवा आत्म-विजय ही सच्ची विजय है। आत्म-नियंत्रण का प्रतिफल संयम, अनासक्ति, शील, समता और शौच में प्रस्फुटित होता है। यह सुधार का सच्चा मार्ग है। द्वेष, द्रोह, असन्तोष आदि कुवृत्तियाँ आत्मस्थ व्यक्तियों से दूर रहती हैं।

लोग यह न समझें कि धर्म केवल पारलौकिक अभ्युदय का ही हेतु है। इस जीवन में भी वह शान्ति, सुख और आत्म-तोष देता है। यदि ऐसा नहीं है तो समझिये कि आपकी धर्माराधना अपर्याप्त है। व्यावहारिक जीवन में धर्म की व्याप्ति आये, इसके लिये यह आवश्यक है कि इसके बाहरी कलेवर को नहीं, उसकी आत्मा को समझा जाये, उसे हृदयंगम किया जाए। धर्म केवल कथनी का विषय न रहे, करनी का विषय बने। उसे एक मात्र परम्परा-पोषण एवं स्थितिपालकता में महदूद न कर दिया जाये। जैसे धर्म कहता है—'संग्रह पाप है, अधर्म है', वहाँ संग्रह को धर्म का माध्यम या सहारा बना लेना धर्म की विडम्बना नहीं तो क्या है ? अनेक व्यक्तियों के शोषण द्वारा पूँजी एकत्रित की और थोड़ी इधर-उधर दान में दे डाली और अपने को दूध का धुला मान बैठे, क्या यह धर्म की सच्ची आराधना है ? ऐसे दाताओं से मैं कहूँगा—'संसार आपके दान का भूखा नहीं है, उसे आपके संग्रह पर रोष है।' माना कि सासारिक जीवन में संग्रह या परिग्रह से सर्वथा दूर रह सकना एक गृहस्थ के लिये संभव नहीं, पर वह संग्रह की असीम लालसा और तृष्णा से तो बचे।

जब मैं आज के मानव-जीवन के अन्तरतम को टटोलता हूँ तो बड़ा विषाद होता है। मानव अपने हाथों अपनी मानवता मिटाये जा रहा है। क्या मैं आशा करूँ—वह अपनी खोई मानवता को पुनः पायेगा, अपनी चिरविस्मृत आत्म-कथा को पुनः स्मरण कर अपने को जाग्रत करेगा, दुर्व्यसनों की दासता का पट्टा छोड़ वह मानवीय आदर्शों पर फिर से आरूढ़ होगा, जिस अनुभव हीन गुलामी ने उसका स्वत्व छीन रखा है, उसके भीषण पंजे से वह निकल पायेगा ? यह सब होगा, पर कब ! जब कि वह परिग्रह, शोषण और हिंसावादी दृष्टिकोण को नया मोड़ देगा, उसे अपरिग्रह, सन्तोष और अहिंसा के साँचे में ढालेगा। यह नागरिक जीवन की सच्ची कसौटी है, नागरिकता का आदर्श है; क्योंकि नगर में रहने मात्र से कोई नागरिक होता तो हजारों कीड़े-मकोड़े और भुनगे तक नागरिक की कोटि में आ जाते। सच्चा नागरिक वही है, जिसने अपने जीवन में उक्त आदर्शों को सँजोया है।

उज्जैन,

२४ जुलाई '५५

११६ : पूँजी का निरा महत्त्व

आज पूँजी को जो महत्त्व प्राप्त है, उसकी जो प्रतिष्ठा है, वह त्याग, अपरिग्रह और श्रम की नहीं। यदि ऐसा होता तो लोग पूँजी की ओर क्यों झुकते। इतना होने के बावजूद थोड़े समय पूर्व पूँजी को, पूँजीपति को वे लोग जिस सम्मान की निगाह से देखते थे आज उस निगाह से नहीं देख रहे हैं। जहाँ पहले पूँजीपति पूँजी का अधिक से अधिक प्रदर्शन करना चाहता था, उसके बदले आज वह उसे छुपाकर रखना चाहता है। कुछ अन्तर-विभीषिका जैसी स्थिति मे वह है। पूँजी के प्रति प्रतिष्ठा और सम्मान का भाव भारतीय परम्परा के सर्वथा प्रतिकूल है। यहाँ तो सम्मान त्याग, अपरिग्रह और सत्-श्रम के लिए रहा। भारतीय दृष्टि में व्यक्ति का ऊँचा-पन पूँजी या पद से नहीं, उसके जीवन-व्यवहार में समाये अपरिग्रह, त्याग और सत्-श्रम से है।

यदि प्रागैतिहासिक काल पर हम दृष्टि डालें तो पता चलेगा कि एक समय था जब लोगों में काम का विभाजन नहीं था। व्यवस्था नहीं थी। महसूस किया जाने लगा—व्यवस्था आनी चाहिये, विभाजन होना चाहिये। जैन-परम्परानुसार इस युग के आदि प्रवर्तक भगवान ऋषभदेव ने व्यक्तियों की बुद्धि और कार्य-कौशल को आधार मान कर काम का विभाजन किया। वहाँ किसी भी कोटि के काम करनेवालों को नीचा नहीं समझा गया। कुछ एक ग्रंथकारों ने तो यहाँ तक लिखा है कि जिन्हें सफाई का काम सौंपा गया, उन्हे महान् या महत् नहीं बल्कि महत्तर कहा गया। पर ज्यों-ज्यों समय बीता, लोगों मे अहं वृत्ति पनपी। शारीरिक श्रम करने वालों के प्रति अवहेलना की भावना जगी। यह उचित नहीं हुआ। इसने जाति-संघर्ष एवं वर्ग-संघर्ष को जन्म दिया जिसकी सुलगती चिनगारियों ने आज भीषण ज्वालाओं का रूप ले लिया है और जिन्हे शांत करने की सबसे बड़ी जरूरत है; जिसका साधन है—धन-वैभव के प्रति मन में प्रतिष्ठित सम्मान भाव के बदले अपरिग्रह का प्रतिष्ठापन, समता और मैत्री भावना का लोकव्यापी प्रचार।

जहाँ पूँजीपति पूँजी के व्यामोह को छोड़ शोषण और अन्याय से बच, वहाँ श्रमिकों को भी यह समझना है कि वे धन को जीवन का चरम लक्ष्य न मानें। जहाँ पूँजी को चरम लक्ष्य मान लिया जाता है, एक सहज सम्मान उसे मिल जाता है जो वाछनीय नहीं। समस्याएँ प्रत्येक व्यक्ति के जीवन मे आती हैं। यदि उनका मुकाबला

सही तरीके से किया जाये तो समस्याएँ भी सुलझ जाती हैं, व्यक्ति भी स्व-स्थान पर बना रह सकता है। अतः समस्याओं और सुलझनों का समाधान ध्वंसात्मक संघर्षों में न खोज अहिंसा, समन्वय और मैत्री में खोजें। इससे शक्ति का अपव्यय नहीं होता। वह स्व-उत्थान और विकास में लगती है। मैं अन्त में इतना ही कहना चाहूँगा—जीवन के अमूल्य क्षणों को प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह किसी भी क्षेत्र या वर्ग का हो, बड़ी सतर्कता एवं जागरूकता से बरते। जीवन-व्यवहार में सहिष्णु वृत्ति, समता, शालीनता और यदि एक शब्द में कहूँ तो मानवता पनपे, इसके लिये अणुव्रत-आन्दोलन के रूप में जो कार्यक्रम हमारी ओर से चल रहा है, उसका यही लक्ष्य है कि व्यक्ति अहिंसा के आधार पर जीवन-व्यवहार को सँजोये, जिससे वह केवल कहने का नहीं, वास्तविक मानव बन सके।

उज्जैन,
२५ जुलाई '५५

१२० : पंडित जीवन

आत्म-साधना और जन-कल्याण के पुनीत ध्येय में अपने को झोंक देनेवाले दुःख, असुविधा और विपरीत स्थितियों की कब चिन्ता करते हैं? ध्येय प्राप्ति के लिये हँसते-हँसते अपने को बलि कर देना उनके लिये दुष्कर नहीं रहता। जैन, वैदिक, इस्लाम और इसाई आदि जिन किन्हीं धर्मों के प्राचीन इतिहास के पन्ने उलटिये, जिन महापुरुषों ने जीवन-शुद्धि और जन-जागरण का बीड़ा उठाया वे पतंग की तरह साधना की लौ में तिल-तिलकर जले। पतंग तो अपने लिये एक लालसा को लेकर जलते हैं, पर ये महापुरुष तो स्वार्थ और लालसाओं से भी परे होते हैं। इससे इनका महत्त्व तो और बड़ा हो जाता है। दूसरों के लिये जरा भी कष्ट, दुःख और असुविधा का हेतु न बनते हुये स्वयं साधना के मार्ग पर मर मिटना ही सच्चा बलिदान है, सच्ची वीरता है। यह अहिंसा, सत्य और आत्म-ओज से परिपोषित बलिदान है, जिसकी आभा लोक-जीवन में एक अभिनव उत्क्रान्ति पैदा करती है। वह उत्क्रान्ति, जो अवनति के गहरे गर्त में सिसकते मानव-समुदाय को एक जीवन्त प्रेरणा दे सके।

आज व्यक्ति इस ओर जरा भी गौर नहीं करता कि उसके कारण कितनों के लिये दुःख, वेदना, संकट और प्रतिकूलताएँ पैदा हो रही हैं। वह ध्यान केवल इस बात का रखता है कि उसे स्वयं को दुःख नहीं पहुँचना चाहिये, प्रतिकूलताएँ उसके समक्ष

क्यों रहें ? यह व्यक्ति की हीन और जघन्य मनोवृत्ति है और इसीका यह परिणाम है कि आज पारस्परिक संघर्ष, कलह, द्रोह और वैमनस्य की धधकती ज्वालायें उसके जीवन तत्त्व को भस्मसात् कर रही हैं। वह भूल क्यों जाता है, भारत के किसी प्राचीन ऋषि ने कहा था :

'न त्वहं कामये राज्यं, न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां, प्राणिनामार्तिनाशनम्।'

अर्थात् न मुझे राज्य की कामना है, न स्वर्ग की और न मोक्ष की; मेरी तो यही कामना है कि दुःख से तपे प्राणियों का दुःख नाश करूँ।

यह एक ऊँचे ऋषि की वाणी है। धर्म-वैभव से सुसज्जित राज्य उन्हें वाछनीय नहीं, न उन्हें स्वर्ग के सुखोपभोगों की आकाक्षा है। और चूँ कि वे राग-द्वेष से अपने को परे कर चुके है अतः मोक्ष की भी उन्हे अभिलाषा नहीं। उनकी उत्कठा यह है—संसार के भीषण दुःखो से सन्तप्त जन-जीवन मे वे शान्ति और अध्यात्म का स्रोत बहा सकें। आज के दुःखों का मूल है असन्तोष, पारस्परिक कलह, वैर, द्रोह, परिग्रह, लुब्धता, संयमहीन दिन-चर्या। इन्हीं की प्रताड़ना का यह फल है कि लोग संकट के मारे बुरी तरह कराह रहे हैं, तड़प रहे हैं। यदि व्यक्ति के जीवन मे कलह के स्थान पर मैत्री, वैर के स्थान पर बन्धुभाव, द्रोह के स्थान पर समवृत्ति, परिग्रह लुब्धता के स्थान पर अपरिग्रही वृत्ति और संयमहीन दिनचर्या के बदले संयम का आचरण आ जाये तो उसके सारे दुःख सुखों में बदल जायँ। ऋषि की भावना है कि वे प्राणी को शोक की धधकती भट्टी से निकाल पायें तो कितना अच्छा हो। मानव-मानव को इसकी प्रेरणा लेनी है।

संसार में अनेक प्राणी जीते है, अनेक प्राणी मरते हैं। पर केवल जीने या मरने का महत्त्व नहीं, महत्त्व है संयत जीवन और संयत मरण का : अर्थात् आत्म-साधना एवं जीवन-शुद्धि के पथ पर अविचल भाव से चलते हुए जीने और उसी के लिये प्राण न्योछावर करने का। आगम की भाषा में इसे पडित-जीवन—सत्कृति के साथ जीना और पंडित मरण—सत्कृति के साथ मरना कहते हैं। मानव इससे जीवन मे मनस्विता और सत्कर्म निष्ठा की प्रेरणा लें।

उ जैन,

२६ जुलाई '५५

१२१ : शिक्षा का सही लक्ष्य

ऊँची-ऊँची परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर बड़ी-बड़ी उपाधियाँ पा लेना शिक्षा का सही लक्ष्य नहीं और न यह उसका एक मात्र चरम ध्येय है कि विद्यार्थी महज आजीविका उपार्जन करने योग्य बन जायँ। यह तो एक गौण हेतु है। विद्यार्जन का वास्तविक लक्ष्य है—जीवन के सत् स्वरूप को समझना, जीवन की यथार्थता को, उसके अध्यात्म पक्ष को सम्यक रूप से जानना, तदनुकूल वृत्तियों को अपने में प्रतिष्ठित करना ; क्योंकि भारतीय संस्कृति केवल इहलौकिक इष्ट संस्कृति नहीं है। भारतीय चिन्तन के अनुसार जीवन की परम्परा एक मात्र वर्तमान जैसी न होकर भूत व भविष्य से जुड़ी हुई है। आज का विद्यार्थी इस ओर से कुछ भ्रमित जैसा है, उसे जगना है, जीवन का साक्षात्कार पाना है ; जीवन के गहरे तत्त्व को हृदयंगम करना है। फलतः वास्तविक विकासमय आदर्शों के प्रति वह अडिग निष्ठाशील बनेगा।

भारतीय अध्यात्म विज्ञान के ऊँचेपन का अनुमान आप इसीसे लगा सकते हैं कि जहाँ भौतिक विज्ञान के विकास की परिसमाप्ति होती है, अध्यात्म विज्ञान वहाँ से शुरू होता है। भारत का शिक्षा का क्रम अध्यात्म विज्ञान से सदा पूरित रहा। आज जहाँ भी सुनते हैं, बड़े-से-बड़े और साधारण-से-साधारण व्यक्ति के मुँह से यही सुनने को मिलता है कि आज की शिक्षा प्रणाली दूषित है। उसीका यह फल है कि जीवन में शिक्षा से आनेवाली मँजावट और परिशुद्धि आ नहीं पाती। पर केवल शिक्षा-प्रणाली को कोसने से क्या बनेगा ? बनेगा तब, जब कि शिक्षा में जिस तत्त्व की माग है, उसे पूरा किया जाय। इसके लिये शिक्षा क्या है, उसका सही लक्ष्य क्या है, यह आपको समझना होगा। विद्या और शिक्षा में अन्तर है। विद्या का आशय है—पढ़ना, किसी तत्त्व को जानना और शिक्षा का तात्पर्य है—जाने हुए तत्त्व का पुनः-पुनः व्यवहार-क्रम में अभ्यास करना, उसे जीवन में उतारना। मैं चाहूँगा—विद्यार्थी शिक्षा का सही अर्थ हृदयंगम करते हुए जीवन को सत्य, शील, नैतिकता, मैत्री और सद्वृत्तियों के प्रति उन्मुख बनायें। तभी उनके विद्यानुशीलन की सार्थकता है। मैं विद्यार्थियों से कहना चाहूँगा कि फैशनपरस्ती और बाहरी दिखावे की चमक में वे गुमराह न बनें। सदाचरण, सात्विकता और नीति-निष्ठा को वे जीवन में सँजोयें।

आज विद्यार्थियों के सामने एक कार्य-पथ है जिस पर चलते हुए उन्हें जीवन को उत्थान की एक सही मोड़ देनी है। अनीति, अन्याय और अनाचार से धूमिल

लोक-जीवन में नीति, न्याय और सदाचरण की एक अभिनव ज्योति जगानी है। इसके लिये एक जबरदस्त आध्यात्मिक अहिंसक अभियान करना होगा। विद्यार्थियों में, तरुणों में एक जोश है, कार्य-शक्ति है जिसका उपयोग आत्म-सुधार पूर्वक लोक-निर्माण में वे करें। प्राध्यापकों से भी मैं कहना चाहूँगा कि राष्ट्र की बहुत बड़ी सम्पत्ति उनके हाथों में सौंपी गई है जिसका उन्हें निर्माण करना है। इसके लिये स्वयं उन्हें सदैव सावधान रहना है कि उनका जीवन सन्मार्गगामी तो है क्योंकि आजका बौद्धिक मानव यह नहीं देखता कि कौन क्या कहता है ? वह वाणी को नहीं कर्म को आँकता है। अतः वे इस प्रकार सत्कर्म में व्यस्त रहे कि विद्यार्थियों के समक्ष उनका जीवन एक जीवित आदर्श बन जाये।

उज्जैन,
२७ जुलाई '५५

१२२ : मांसाहार-वर्जन

व्यक्ति का जीवन आहार पर निर्भर होता है, इसलिये यह जीवन का मुख्य कार्य है। 'जीवन बना रहे'—आहार का कार्य इतना ही नहीं है। 'जीवन की व्यवस्था बनी रहे'—यह आहार का मुख्य कार्य है। आहार का सम्बन्ध स्वास्थ्य से, स्वास्थ्य का सम्बन्ध मानसिक सन्तुलन से और उसका सम्बन्ध जीवन की सुव्यवस्था से है। इस प्रकार जीवन की सुव्यवस्था के लिए आहार के चुनाव का प्रश्न बड़ा महत्वपूर्ण है। यह स्थिति सामान्य है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण एक बात और है कि कभी कभी शरीर के लिए लाभकारी वस्तुएँ भी मानसिक वृत्तियों के लिये लाभकारक नहीं होतीं। इसलिये आहार के चुनाव में केवल शारीरिक स्वास्थ्य की ही नहीं, मानसिक स्वास्थ्य की भी दृष्टि होनी चाहिये। मानसिक वृत्तियों की सात्त्विकता में बाधा न डालने वाले शरीरोपयोगी आहार को आवश्यक माना जाय यह उपयोगिता की दृष्टि है। शारीरिक स्वास्थ्य के लिये जो विशेष उपेक्षित न हो किन्तु मानसिक स्वास्थ्य मे जो सहायक बने वैसे आहार की बात साधना की दृष्टि है। मानसिक विकृतियाँ पैदा कर शरीर को स्वस्थ बनाये रखने की दृष्टि जघन्य है। मनुष्य अगर साधना तक नहीं पहुँच सके तो कम से कम उसे जघन्यता के स्तर पर तो नहीं रहना चाहिये। सात्विक वृत्ति के लोगों ने मांसाहार को त्याज्य माना है। उसके पीछे जघन्यता से ऊपर उठने की दृष्टि छिपी हुई है। मांस-भोजन सात्विक वृत्तियों में बाधा डालने वाला है। इसका

अनुभवसिद्ध प्रमाण यह है कि जो लोग सात्विक वृत्तियों में ही रहे उन्होंने मांस-भोजन आदेय नहीं माना और तामसिकता से जो सात्विकता की ओर मुड़े उन्होंने मांस-भोजन का परित्याग किया।

दूसरी बात—मांसाहार मानसिक क्रूरता का प्रतीक है। वृत्तियों को क्रूर किये बिना कोई भी व्यक्ति दूसरे प्राणियों को न मार सकता है और न मार सकने का निमित्त बन सकता है। मानसिक वृत्तियों में ज्यों-ज्यों मैत्री के भाव जगते हैं त्यों-त्यों हिंसा की कमी होती है। हिंसा का अल्पीकरण ही जीवन की श्रेष्ठता है। जीवन की पवित्रता, अक्रूरता और हिंसा के अल्पीकरण की दृष्टि से मांसाहार का वर्जन नितान्त आवश्यक है।

तीसरी बात—मांसाहार मनुष्य का स्वाभाविक भोजन नहीं है। लोलुपता और शरीर-पोषण की स्थूल दृष्टि से मांस खाने की वृत्ति बढ़ी है; उस पर भी गहरी दृष्टि डालने की अपेक्षा है।

मांसाहार की अस्वाभाविक प्रवृत्ति को छुड़ाने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय शाकाहारी संघ द्वारा जो प्रयत्न होता है उसमें हमारी दृष्टि तात्त्विक होनी चाहिये। कोई भी व्यक्ति मांस न खाये, यह हम चाहते हैं; किन्तु यह सिद्धान्त किसी पर बलपूर्वक थोपने का प्रयत्न न किया जाए, हृदय-परिवर्तन का प्रयत्न किया जाये, मांसाहार की बुराइयों को समझाकर जनता को उसके वर्जन की प्रेरणा दी जाय। अणुव्रतियों के लिये मांसाहार निषिद्ध है। अणुव्रत-आन्दोलन इस दिशा में प्रेरक बन सकता है। हमें विश्वास है कि अहिंसा की दिशा में किये गये ये प्रयत्न सफल होंगे।

१२३ : जीने की कला : मरने की कला

यह सच है कि केवल सौन्दर्य मात्र कला का चरम अभिप्रेत नहीं है। उससे वह कहने मात्र के लिए कला हो सकती है पर कला का लोकोपयोगी तत्त्व उसमें कहाँ! मैं आप लोगों को कला के साहित्यिक विवेचन में न ले जाता हुआ केवल इतना ही कहना चाहूँगा कि अन्यान्य कार्यों की तरह जीने की भी एक कला है। आप लोग अचरज करेंगे, जीना भी एक कला है, यह कैसे? पर बात सही है, वास्तव में कला के बिना जीवन जीवन नहीं; मरण है। एक व्यक्ति चलता है, उठता है प्रमाद के साथ, लापरवाही के साथ, उपेक्षा के साथ। फल क्या होता है अनेक छोटे-बड़े जीवों की हिंसा का भागी वह होता है। दूसरा व्यक्ति जागरुकता, अहिंसक निष्ठा

को लिये चलता है, हिंसा से बचता है, पर-प्राण हनन से बचता है। यह चलने की कला है, जो व्यक्ति को पाप-पुज से बचाती है। जहाँ कला विरहित चलना व्यक्ति को पाप-पंक में ढकेलता है वहाँ कला, विवेक और चातुर्य के साथ चलना उसे पाप से बचाता है। इसी प्रकार जीवन का हर व्यवहार कलापूर्ण हो सकता है; यदि व्यक्ति प्रयास करे। वहाँ हिंसा, असत्य, अप्रामाणिकता और नीच वृत्ति पास तक नहीं फटकती।

भारतीय चिन्तन में जीवन का जो महत्त्व है, मरण का भी उससे कम नहीं, यदि वह संयम पूर्वक हो; क्योंकि संयत मरण आत्म-साधना की संपन्नता का परिपालक है। अतः भारतीय ज्ञानी और ऋषि-महर्षि न जीने की कामना करते हैं और न मरने की। यदि आत्म-साधना के साथ जीना हो तो वह युग-युग पर्यन्त जीना भी श्रेयस्कर है और असंयत तथा साधना शून्य कीड़ों जैसा क्षण भर का भी जीवन किस काम का ! जहाँ सदाचार और शील के साथ जीना श्रेयस्कर है वहाँ दुराचार और अशील के साथ जीना अशान्ति का हेतु है। आज मनुष्य असंयम में गले तक डूबे नारकीय जैसा जीवन बिताते हैं, उस जीवन का क्या महत्त्व !

जैसे जीने की कला का मैंने जिक्र किया वैसे मरने की भी कला है; उसका भी विवेक है। आप लोगों को और ज्यादा अचरज होगा कि मरने की कला ! जिस मृत्यु से प्राणी मात्र घबराते हैं उसकी भी कला ! हाँ, उसकी भी कला है। अस्वस्थता और अशक्यता में फँसा एक मनुष्य जहाँ रोता है, बिलखता है, जीवन के लिये तरसता है, मनौतियाँ मानता है, वहाँ आत्मा की अमरता मे विश्वास रखनेवाला धर्मनिष्ठ मृत्यु के सामने धैर्य और हिम्मत के साथ सीना तान कर स्थिर हो जाता है। आहार आदि का परित्याग कर वह अपने को आत्ममय, संयममय, साधनामय और सत्यमय बनाने में लग जाता है। गहराई से समझे बिना कोई व्यक्ति इसे आत्महत्या कहने का दुस्साहस कर बैठेगा पर यह आत्महत्या नहीं है, आत्म-शुद्धि है। जहाँ मौत से डर कर व्यक्ति मरण की शरण में छिप जाना चाहता है, वहाँ अनशन करने वाला मृत्यु का बल के साथ सामना करता हुआ आत्म-साधना में लीन रह हँसते-हँसते उसका वरण करता है। यह तो बड़ी से बड़ी आत्म-रक्षा है; आत्म-परिशुद्धि है; सच्ची वीरता है। यह है मरने की कला। इस प्रकार अन्यान्य कलाओं के अतिरिक्त मनुष्य जीवन और मरण की कला—विवेक का भी स्वरूप समझे।

उज्जैन,

५ अगस्त '५५

१२४ : सच्चा राष्ट्र-निर्माण

एक पंचवर्षीय योजना पूरी नहीं हुई कि दूसरी चालू हो रही है। बड़े-बड़े बांध, मकान और पुलों का सृजन हो रहा है। यह राष्ट्र का बाह्य निर्माण है। आप भूल मत जाइये कि राष्ट्र के आन्तरिक निर्माण के लिये बहुत कुछ किया जाना बाकी है जिसके बिना राष्ट्र समस्त बाह्य साधनों से सुसम्पन्न होने के बावजूद असम्पन्न है। राष्ट्र की आत्मा वहाँ की जनता है। जब तक जनता का जीवन शुद्ध नहीं, प्रामाणिक नहीं, सत्योन्मुख नहीं, तब तक सच्चा राष्ट्र-निर्माण कहाँ ? राष्ट्र का व्यक्ति-व्यक्ति, सद्आचरण, न्याय-परायणता, नीति-निष्ठा, और सात्विक चर्या से अपने जीवन-व्यवहार को उदात्त बनाये, तभी राष्ट्र का सच्चा निर्माण होगा। यदि थोड़े मे कहूँ तो व्यक्ति-निर्माण या व्यक्ति-सुधार ही समाज-निर्माण अथवा राष्ट्र निर्माण की रीढ़ है।

व्यक्ति जीता है, खाना-पीना है, चलता-फिरता है, क्या यही उसका सच्चा जीवन है ? ऐसा नहीं। यह जीवन उस ज्योतिहीन दीपक जैसा है, जो कहने को दीपक है, उसमें बाती भी है, पर ज्योति नहीं। ऐसे दीपक मे कथन मात्र के अलावा सच्चा दीपकत्व जो ज्योति का प्रतीक है, कहाँ ? सच्चे जीवन का अर्थ है—जीवनोपयोगी सद्गुणों का उसमे होना, मानवता का उसमें होना, धोखा, छल, कपट, वैमनस्य और विश्वासघात जैसे दुर्गुणो से अपने को मुक्त रखना। यह जीवन-निर्माण की व्याख्या है। जिस राष्ट्र में व्यक्ति-व्यक्ति जीवन-निर्माण की इस पावन वृत्ति मे अपने को संजोये रखते हैं, सच्चे माने मे वह राष्ट्र निर्माण की ओर बढ़ता है।

आज के अनीतिपूर्ण युग में अपने को सद्गुणों और नैतिकता के ढाँचे में ढाला जाये, यह कैसे सम्भव है ? यों सोचना व्यक्ति के आत्म-दौर्बल्य का सूचक है। पुरुषार्थ का सहारा लेकर मनुष्य कठिन से कठिन कार्य को भी सरल बना सकता है। तभी तो कहा जाता है कि अधिकांशतः व्यक्ति अपनी भलाई और बुराई का स्वयं जिम्मेदार है। यदि आत्मबल और साहस के साथ वह अपने को भलाइयों मे, सद्वृत्तियों में प्राणपन से झोंक दे तो कोई कारण नहीं कि उसका जीवन सात्त्विक न बन सके। इसके लिये अणुव्रत-आन्दोलन एक व्यवस्थित और सक्रिय मार्ग प्रस्तुत करता है। समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों में समाई दुर्वृत्तियों के उन्मूलन का यह अमोघ साधन है। जहाँ व्यापारी वर्ग में काला

बाजार, कम तोल-माप, असली दिखाकर नकली देने आदि अनैतिक व्यवहारों को दूर करने का इसमें पथ-निर्देशन है, उसी तरह वकीलों के लिये झूठा मुकदमा न लेना, झूठी साक्षी न देना, राज्याधिकारियो के लिये रिश्वत न लेना, झूठा फैसला न देना आदि जीवन-शुद्धि के नियम हैं। इन नियमों की भूमिका पर चलनेवाला जीवन कितना सात्त्विक और उज्ज्वल बन सकता है यह किसी से कहने-सुनने की बात नहीं। मैं सोचता हूँ, इस प्रकार व्यक्ति-व्यक्ति के माध्यम से चलनेवाले इस जीवन-सुधार के कार्य को आप लोग निकट से देखेंगे ; जीवन-व्यवहार को तदनुकूल बनाने का प्रयास करेंगे। फलतः आपका अपना निर्माण होगा जिसका सामूहिक रूप राष्ट्र-निर्माण का रूप लेगा।

उज्जैन,
६ *अगस्त '५५*

१२५ : जीवन का सौन्दर्य

अक्षरों को जाना, पढना सीखा, विभिन्न विषयों का ज्ञान किया, इतने मात्र से शिक्षा का लक्ष्य पूरा नहीं हुआ। शिक्षा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग छूट-सा गया। भगवान महावीर ने शिक्षा का विवेचन करते हुये उसे दो भागों में बाँटा है—ग्रहण शिक्षा, आसेवन शिक्षा। वक्तव्य सुने, पुस्तकें पढ़ीं, नये-नये विषय जाने, बुद्धि में जमाये, यह ग्रहण शिक्षा है। ग्रहीत शिक्षा को सद्-असद् विवेकपूर्वक जीवन-व्यवहार में सँजोया, उसे अपने दैनदिन कार्य-परंपरा में प्रयुक्त किया, यह आसेवन शिक्षा है जिसके बिना शिक्षा का उद्देश्य अधूरा है। इसी ओर मेरा संकेत था। यदि अक्षर-ज्ञान ही शिक्षा होता तो उन अक्षर-ज्ञान से शून्य परन्तु उद्बुद्ध अन्तर्चक्षुवाले मनुष्यों को शिक्षा हीन माना जाता जिनमें वह अध्यात्म के पावन प्रेरणा प्रवाह आज के शिक्षित कहे जानेवाले व्यक्तियों को एक अनमोल जीवन दिशा देते हैं।

जीवन का हर व्यवहार यदि सत् शिक्षा से अभिप्रेरित हो तो उसमें असंयम के लिए स्थान नहीं रहता। भगवान महावीर के पास राजपुत्र मेघकुमार दीक्षित हुए। वे अनेक विद्याओं में पारंगत थे। भगवान उन्हे सिखाने लगे—'यों बोलो, यों चलो, यों उठो आदि।' मनुष्य सहसा आश्चर्य करेगा कि क्या मेघकुमार को बोलने, बैठने, उठने और चलने तक का ज्ञान नहीं था, पर भगवान महावीर का आशय था, उसके जीवन की प्रत्येक क्रिया-प्रक्रिया संयतपन लिये हुए हो। संयम जीवन का सौंदर्य

है ; जीवन वृत्तियों की सुषमा है । क्या पुरुष, क्या नारी ज्ञान या शिक्षा के लिये सब को अधिकार है और यदि मैं यह कहूँ तो अत्युक्ति नहीं होगी कि नारी शिक्षा क्षेत्र में जो प्रगति कर सकती है, वास्तव में वह अनूठी है ; क्योंकि उसके पास श्रद्धा और मृदुता से भरा हृदय है, जो सत्-शिक्षा से संस्कारित हो जीवन को एक विकासपूर्ण मोड़ दे सकता है ।

आज का लोकजीवन दो धाराओं मे बहा जा रहा है । एक वस्तुपरक और दूसरा आत्मपरक या चैतन्यपरक । वस्तुपरक धारा मे बहनेवाले बाह्य सुविधा, भौतिक आनुकूल्य और वैषयिक सुख को जीवन का साध्य मानकर चलते हैं जो सरासर भूल है, मृगमरीचिका है, स्वयं मिटनेवाला और साथ-साथ भोक्ता को भी विनाश की ओर ले जाने वाला है । दूसरा चैतन्यपरक या आत्मपरक जो प्रवाह है, वह आत्म-शान्ति, आत्म-तृप्ति, जीवन-शुद्धि और सच्चे सुख का हेतु है । पर वह दिन पर दिन सूखता जा रहा है । आत्मवादी चेतें, समझें, इस प्रवाह को सम्बल दें, इसे सूखने न दें । शिक्षा में इसका पूरा-पूरा समावेश हो ताकि वह बहिर्मुखी न होकर अन्तमु खी बने जिससे डगमगाते जन-जीवन को एक प्रबल सहारा मिले ।

उज्जैन,
७ अगस्त '५५

१२६ : शिक्षानुशीलन

आज की शिक्षा-प्रणाली उपयुक्त नहीं है । उससे शिक्षार्थियों का सच्चा विकास हो नहीं पाता । उसमें परिवर्तन आवश्यक है । हर कोई यह आवाज लगाता है पर उसमें क्या परिवर्तन हो, उसका स्वरूप-निर्धारण कैसा हो, इस ओर जहाँ तक मेरा ख्याल है, कम-से-कम ध्यान दिया जा रहा है । जिस समय अन्न आदि पदार्थों पर कंट्रोल था, सब कहते थे—कन्ट्रोल बुरा है, घातक है वह मिटना चाहिये । कहने को तो सब कहते थे, पर मन ही मन क्या अधिकारी और क्या व्यापारी क्या यह मनौती नहीं मनाते थे कि वह रहना चाहिये ! उठे क्यों ? उसके रहने से ही तो वे अनाप-सनाप पैसा बटोर सकते हैं अन्यथा वैसा मौका उन्हे कैसे प्राप्त हो । शायद शिक्षा-क्षेत्र में भी कुछ ऐसी ही बात हो हो सकता है कि कुछ निहित स्वार्थवाले व्यक्तियों को इससे धक्का पहुँचता हो ।

हाँ, तो मैं कहना यह चाहता था कि शिक्षा का लक्ष्य जो जीवन-विकास, चारित्र्य-शुद्धि और आत्म-जागृति है वह आज कहाँ पूरा हो रहा है। शिक्षा अक्षर अथवा किसी विषय विशेष के ज्ञान की सीमा से महदूद रह गई है। यह कुंठा नहीं तो और क्या है ? क्या इस कुंठा को आप मिटायेंगे ? जो शिक्षा जीवन को सही दिशा न दे सके, उसकी क्या उपादेयता ! हाँ मैं मानता हूँ कि प्राचीन-काल और अर्वाचीन काल की स्थिति, वातावरण आदि में भिन्नताएँ हैं। प्राचीन काल की शिक्षा-प्रणाली समग्र रूप मे आज अवतरित की जा सके, ऐसा हो नहीं सकता। पर इतना तो हो सकता है कि शिक्षा मे चारित्रिक मूल्यों का अधिकाधिक समावेश किया जाए, बालकों मे सत्य-निष्ठा, शील, अहिंसा, सन्तोष आदि भावनाओं को ढाला जाए ताकि उनका जीवन सही माने मे उन्नत और सुखी बन सके।

ज्ञानार्जन की दृष्टि से देखा जाए तो भी तब की और अब की स्थिति में अन्तर है। किसी भी विषय का ठोस और व्यापक ज्ञान आज की शिक्षण-पद्धति नहीं देती जब कि प्राचीन पद्धति ठोस ज्ञान की दृष्टि से बड़ी वैज्ञानिक थी। हमारे संघ मे अध्ययन की परम्परा आज की परीक्षा की प्रणाली पर नहीं चलती। प्राचीनकाल की तरह प्रत्येक विषय का गहरा और तलस्पर्शी अध्ययन यहाँ होता है, और साथ-साथ में आज की तुलनात्मक पद्धति का भी समावेश हम करते है ताकि ज्ञान एकागी न रहे। मुझे अपने विद्यार्थी-जीवन की वे सुखद घड़ियाँ आज भी याद हैं जब कि मैं प्रातः स्मरणीय पूज्य गुरुदेव श्री कालूगणी के चरण-कमल मे बैठ विद्यानुशीलन करता था। मेरा सारा अध्ययन उन्हीं के चरणों मे हुआ, क्योकि गृहस्थ-जीवन मे तो हिन्दी और गणित का सामान्य ज्ञान पाया था। मुझे गुरुवर्य रोजाना याद करने को, अनुशीलन करने को जो पाठ देते, जब तक मैं उसे सागोपाग याद नहीं कर लेता, मुझे चैन नहीं पड़ता। मैं अपने दिन भर के अधीत पाठ को रात्रि के अन्तिम प्रहर मे स्मरण करता। लगभग चार बजे मुझे उठाया जाता। वह बड़ी ही सुखद और शान्त बेला होती। जो ठोस ज्ञान, शिक्षा व अध्ययन मुझे गुरुवर्य से उस अवस्था मे मिला, जो ज्ञान व साहित्य की बातें मैंने उन दिनो सीखीं, वे मुझे आज तक स्मरण हैं। उस अध्ययन की मेरे जीवन पर एक अमिट छाप है।

माता-पिता का भी यह कर्तव्य है कि वे बच्चो को सत् शिक्षा दें, सुसंस्कारो में ढालें, उन्हे विकास की सही दिशा में ले जाएँ, यही तो सच्चा अध्ययन है। सच्ची

पढ़ाई है—जिसे लक्षित कर किसी कवि ने कहा है—**'माता शत्रुः पिता वैरी, येन बालो न पाठितः ।'** अर्थात् जिस मा-बाप ने बालक को जीवन का सच्चा अध्ययन नहीं कराया वे सचमुच उसके अभिभावक नहीं शत्रु हैं। इसलिये मा-बाप स्वयं जीवन को सद्ज्ञान से ओत-प्रोत करते हुए अपने बालकों में भी ज्ञान की ज्योति जगाएँ। अपनी सन्तान को इससे बड़ी देन उनकी और क्या हो सकती है !

उज्जैन,
७ अगस्त '५५

१२७ : शिक्षकों की जिम्मेवारी

विद्यार्थियों को, सुकुमार बालकों को निर्माण करनेवाली दो शक्तियाँ हैं—पहली शिक्षक-शिक्षिकायें और दूसरी माता-पिता। बालकों का, विद्यार्थियों का जीवन वैसा ही बनेगा जैसी प्रेरणा के पथ-प्रदर्शन उन्हें उनसे मिलेंगे। शिक्षकों या अभिभावकों के जीवन में बालक जो पाते हैं उसकी एक सहज छाप उनके जीवन पर पड़ती है। अतः शिक्षकों पर वास्तव में बहुत बड़ी जिम्मेवारी है।

यदि आज के समाज की स्थिति का विश्लेषण किया जाय तो स्थूल रूप में तीन प्रकार की समस्याएँ वहाँ मिलेंगी : राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक। बारीकी से अवलोकन किया जाय तो इनसे भी अधिक जटिल और कठिन समस्या है—नैतिकता की। और यदि यह कह दिया जाये कि अन्याय समस्याओं का बीज है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। नैतिक पतन और चारित्रिक ह्रास व्यक्ति के जीवन को कितना नीचे ले जा सकता है—यह किसी से कहने-सुनने की बात नहीं। नीति-भ्रष्ट और चारित्र-शून्य व्यक्ति जिस किसी क्षेत्र में जायगा वहाँ उसे विषमताएँ और समस्याएँ मुह बाए खाने को दौड़ने लगेगी। जब तक व्यक्ति का नैतिक जीवन परिशुद्ध नहीं बनेगा, जीवन में प्रविष्ट अनैतिक वृत्तियों को वह त्याग नहीं देगा, तब तक उसके जीवन में समस्याएँ, कठिनाइयाँ और प्रतिकूलताओं के अतिरिक्त और रहेगा क्या ! अतः मैं शिक्षकों से कहना चाहूंगा कि वे अपने जीवन को नीति, सदाचरण, सत्यनिष्ठा आदि सद्गुणों से सँजोएँ।

अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों में अध्यापक का कार्य बड़े महत्त्व का माना जाता है। उनका दर्जा अन्यान्य विभागों के उच्च अधिकारियों के समकक्ष होता है पर भारतवर्ष में अध्यापक वर्ग एक चिर उपेक्षित वर्ग है। पर कार्य करने वाला क्या कभी

यह देखता है कि वह औरों की दृष्टि मे कैसा है ? वह तो आत्मनिष्ठा तथा सत्य बल के साथ अपने कर्तव्य-पथ पर डटा रहता। आज लोगों के जीवन मे कर्मण्यता कम से कम होती जा रही है। पुरुषार्थवाद के प्रति लोगो का कुछ खोया-खोया-सा मानस है। शिक्षकों को इस स्थिति में अवगाहन करना है। वे ही भावी पीढ़ी के निर्माता हैं। उन्हें अपने जीवन को ऐसा मोड़ देना है कि वह पुरुषार्थ, सत्यकर्म, सत्यनिष्ठा और प्रामाणिकता का एक सजीव प्रतीक बन जाये ताकि विद्यार्थिगण उनके जीवन-व्यवहार से प्रेरणा पा सकें। क्योंकि आप लोग जानते हैं कि प्राणी मात्र की आत्मा अनन्त शक्तियों का पुज है। पर उनका उपयोग और अभिव्यक्ति तभी सम्भव है जब कि व्यक्ति उसमे अपने आपको गवा दे। अन्त मे विद्यार्थियो से मैं दो शब्द कहना चाहूंगा कि विद्या का लक्ष्य बड़ी-बड़ी परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर ऊँची उपाधिया पा लेना मात्र नहीं है। जरा भगवान महावीर के विचार सुनिये—

१ (विद्यार्थी सोचता है) मुझे ज्ञानार्जन करना है इसलिये मैं अध्ययन करूँ।

२ मैं एकाग्रचित्त बन सकूँ इसके लिए मैं अध्ययन करूँ!

३ अपने आपको स्थित या स्थितप्रज्ञ बना सकूं इसके लिये अध्ययन करूँ।

४ मैं स्वयं स्थित—आत्मस्थ बनूं, दूसरों को भी स्थित—आत्मस्थ बना सकूँ इसके लिये मैं अध्ययन करूं। कितना सरस विवेचन है! अध्यापकों और विद्यार्थियों के लिये मानों यह प्रेरणा की निर्झरणी है।

उज्जैन
२० अगस्त '५५

१२८ : चारित्र्य विकास की ज्योति

अणुव्रत-आन्दोलन एक सार्वदेशिक, सार्वजनिक और सार्वधार्मिक आन्दोलन है। इसका लक्ष्य है अनीति, अनाचरण और अप्रामाणिकता से जर्जरित लोक-जीवन में नीति, सदाचरण तथा प्रामाणिकता का संचार करना, जन-जीवन मे अधिकाधिक अहिंसा, अपरिग्रह, संतोष एवं संयम जगे इसके लिये मानव-समुदाय में एक सजग प्रेरणा भरना। अणुव्रत-आन्दोलन मे एक सीमा करता है, व्यवस्था देता है। इस संयमात्मक सीमा या व्यवस्था का ही दूसरा पर्यायवाची शब्द 'व्रत' है। संपूर्ण संग्रही और अपरिग्रही जीवन सचमुच उच्च और आदर्श जीवन है पर प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह

सरल या संभव नहीं। अतः अपरिग्रह, अहिंसा आदि व्रत एक सीमित व आंशिक रूप में आकर अणुव्रत का आकार पाते हैं।

जीवन का दैनिक व्यवहार शुद्ध बने, उसमें प्रविष्ट विकार निर्मूल हों इसीलिये अणुव्रतों का इस रूप में विस्तार किया गया जिससे वे आज की बुराइयों पर सीधा आघात कर सकें। अणुव्रत-आन्दोलन व्यक्ति के माध्यम से चलनेवाला आन्दोलन है। वह एक-एक व्यक्ति से फूटनेवाली सत्य की अमर ज्योति है। जैसे एक दीप से अनेक दीपक प्रकाश पाते हैं, उसी प्रकार वह एक विराट ज्योति का रूप ले सकता है—यह सहज संभव है। मैं चाहूँगा, इस चारित्र्य-विकास की ज्योति को अधिकाधिक प्रज्वलित और देदीप्यमान बनाने में प्रत्येक निष्ठाशील व्यक्ति प्राणपन से प्रयास करे। तभी अनैतिकता और असदाचरण की दुर्वार चोटों से क्षत-विक्षत जीवन एक परम पुष्ट संबल पायेगा।

जीवन के प्रत्येक कार्य मे व्यक्ति ईमानदार बने। व्रतों या नियमों की भाषा का परीक्षण ही उसका एकमेव लक्ष्य नहीं हो। इसकी भावना का वह अंकन करे, जीवन को उस पर ढाले। मन की वृत्तियों को वह एक ऐसी मोड़ दे जिससे वह असीम लोभ, उद्दाम लालसा और असयत आकांक्षा की मायाविनी ज्वाला से अपने को बचा सके। अणव्रत-आन्दोलन उसे यही मार्ग देता है—इसी पर आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। व्रतपालन की ईमानदारी रहे, इससे मेरा आशय यह है कि व्रत स्वीकार अन्तरतम से निकले। जहाँ यह होगा वहाँ वह व्यक्ति जिसके पास दो हजार की रकम भी नहीं है और भविष्य के लिए करोड़ो के आसार भी नजर नहीं आते वह मन हा मन उद्दाम लालसा को बनाये रखता हुआ दो करोड़ से अधिक संग्रह नहीं करूँगा—ऐसा हास्यास्पद त्याग नहीं लेगा। वह तो आकांक्षा का एक उपयुक्त सीमाकरण करेगा। अस्तु, त्याग या व्रत की पालनीयता भाषा परिपालन तक सीमित नहीं है, तद्‌गत भावना का परीक्षण उसमें अपेक्षित है।

उज्जैन,

२१ अगस्त '५५

१२६ : जीवन के श्रेयस

ज्ञान के प्रति, ज्ञान-केन्द्रों के प्रति मेरा सहज आकर्षण है। तत्त्व विकास और ज्ञानानुशीलन जैसे कृत्यों में मुझे हार्दिक अभिरुचि है। मैं चाहता हूँ कि समय मिले तो उसे उधर भी लगाऊँ।

भारत सदा से ज्ञान-विज्ञान का भण्डार रहा है। तत्त्वानुशीलन और ज्ञानोपासन में भारतीयों ने जो अथक श्रम किया वह ज्ञान-पथ के पथिकों के लिये अनुकरणीय है। यहाँ उद्‌भट मनीषियों ने अन्तरतम के अनुसंधान में तन्मयतापूर्वक अपने आपको लगा कर आत्म-साधना का जो पावन पथ प्रशस्त किया, वह उनकी आत्मलगन का प्रोज्वल प्रतीक है।

भारतीय जीवन का मुख्य लक्ष्य अध्यात्म का विकास रहा है। यहाँ जो भी विकासमूलक धाराएं चलीं वे अध्यात्मवाद पर केन्द्रित रहीं, क्योंकि जीवन का श्रेयस आत्मसंशोधन में है, बाहर की सुसज्जा मे नहीं। जहाँ केवल बाह्य संवर्द्धन, बाह्य सम्मानार्जन को मुख्यता दे दी जाती है वहाँ जीवन की धाराएं भौतिकवादी बनती हैं और भौतिकवाद में जीवन का कल्याण नहीं।

आप जानते हैं प्राचीन जीर्ण-शीर्ण भोजपत्र, ताड़पत्र आदि पर उल्लिखित इन ग्रन्थों का महत्त्व क्यों है ? वे अपने-आप में तो जड़ हैं। इनकी उपयोगिता इसीलिये तो है कि ज्ञान-साधना के ये निमित्त हैं।

आज पश्चिमी संसार विस्फोटक पदार्थों के नवसृजन में अपनी मेधा का उपयोग कर रहा है। अणुबम, उद्‌जनबम जैसे भीषण संहारक अस्त्र उसके प्रतिफल में निकले जिनके आतंक ने दुनिया में तबाही मचा डाली है। भारतीय—जिनकी परम्परा संघर्षों की नहीं शाति की रही, विनाश और हिंसा की नहीं अहिंसा की रही, क्या करवट नहीं बदलेंगे ? भौतिकवाद, सुविधावाद और अनीतिपूर्ण आचार में ग्रस्त अपने जीवन को क्या वे आत्मवाद, समता और नैतिकता की ज्योति से प्रकाशमय नहीं करेंगे ?

अणुव्रत-आन्दोलन इसी लक्ष्य को लेकर चल रहा है कि लोगों में चारित्र्य-विकास हो, वे जीवन-शुद्धि के पथ पर अग्रसर हों ताकि उनका अस्त-व्यस्त और दुर्व्यसन-जीर्ण जीवन स्थिर, शांत और सुखी बन सके।

आपका साहित्य, आपका आन्दोलन, आपका चिन्तन, आपका कार्य-सब मानवीय आदर्शों—आत्म-विकास मूलक गुणों से सजे हों।

उज्जैन,

२५ अगस्त '५५

१३० : उत्कृष्ट विद्यार्थी

भारत में आज सबसे बड़ी कमी है तो वह नैतिकता की, मानवता की और चरित्र-शीलता की है। अणुव्रत-आन्दोलन देश मे चारित्रिक जागृति पैदा करने का आन्दोलन है। यह देश में फैली हुई चरित्रहीनता का अवरोध कर सच्चरित्रता का मार्ग-दर्शन देता है। जहाँ हम अन्यान्य क्षेत्र के लोगों में चरित्रहीनता और भ्रष्टाचार का नग्न स्वरूप देखते हैं वहाँ शिक्षा-क्षेत्र भी इनसे अछूता नहीं है। विद्यार्थी परीक्षाएँ पास करने के लिये न जाने कितने बुरे तथा अवैध तरीके अपनाते हैं। वे यही समझ बैठते हैं कि परीक्षा उत्तीर्ण करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। कितनी बड़ी गलती है। विद्यार्थी भूल क्यों जाते हैं कि अपने यहाँ भारतीय आदर्शों के अनुसार तो सच्ची विद्या वह है जो जीवन को विमुक्ति की ओर, निर्बन्धावस्था की ओर ले जाये, भोगों से पराङ्मुख कर संयम और त्याग मार्ग की ओर अग्रसर करे। ऋषियों की भाषा में विद्यार्थी एक प्रकार का परिव्राजक है। उसका जीवन त्याग और साधना का जीवन है।

भगवान महावीर के शब्दों में विद्यार्थी हास्य एवं कुतूहल प्रिय न बने, वह अपनी इन्द्रियों का गुलाम न बने। जो इन्द्रिय-लोलुप है उसका विचार विकारों से घिरा रहता है। जो विद्यार्थी लुब्ध रहता है उसमे विद्या का सच्चा अनुराग कहाँ? वह सहिष्णु बने। यदि कोई बात मन के प्रतिकूल भी हो जाये तो भी क्षोभ से न भर जाय। आवेश और आवेग से वह दूर रहे। वह व्यसनों के पास तक न फटके।

इन ऊँची-ऊँची वृत्तियों से जीवन को सँजो कर जो विद्यार्थी विद्या अध्ययन में अपने को दत्तचित्त करता है वह उत्कृष्ट विद्यार्थी है।

उज्जैन,

२५ अगस्त '५५

१३१ : संस्कृत भाषा

भारतीय संस्कृति के संवर्द्धन तथा संपोषण का जो महान् कार्य संस्कृत भाषा ने किया, वह किसी से छिपा नहीं है। उसमें अनेकानेक तत्त्व रत्न भरे पड़े हैं जिनसे जीवन को सत्य मार्ग पाने की एक प्रेरणा मिलती है। मैं चाहूँगा कि संस्कृत वाङ्मय के अथाह भण्डार मे ज्ञान-विज्ञान एवं चिन्तनमूलक जीवन-शोधक तत्त्वों का अनुशीलन कर लोग आत्म-जागृति की स्फुरणा प्राप्त करें।

उज्जैन,

२५ अगस्त '५५

१३२ : नारी के सहज गुण

पुरुष और नारी समाज के दो महत्त्वपूर्ण अंग हैं। दोनों सही माने में विकसित हों, उन्नत बनें, तभी मानव-समाज वास्तविक विकास और उन्नति का अवलम्बन कर सकता है। विकास-मार्ग की ओर जाने से रोकना, उस पथ मे बाधा डालना हमारे यहाँ कभी श्रेयस्कर नहीं माना गया। जैन-दर्शन मे जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष है जिसे उत्कृष्ट आत्म-साधना पूर्वक प्राप्त करने का जितना अधिकार पुरुषों को है, उतना ही नारी को भी है। कई बातों मे तो पुरुषो की अपेक्षा नारी मे कुछ ऐसी विशेषताएं हैं, जो पुरुषों के लिये भी अनुकरण करने जैसी है। सत्-श्रद्धा, धर्म-निष्ठा, प्रकृति-सुकुमारता और सौम्य भाव नारी के सहज गुण हैं जिन्हें आज उन्हे विकसित करना है। वस्त्र, आभूषण और शृंगार जीवन के सच्चे अलंकार नहीं। ये तो बाह्य उपकरण हैं। इनमे उलझ आन्तरिक सुषमा को बिसारना मानव की सबसे बड़ी भूल है।

मैं बहनों से कहना चाहूँगा कि बाहरी दिखावे, चमक दमक और फैशनपरस्ती मे जीवन की बहुमूल्य घड़ियों को न गवाँ, उन्हें आत्म-जागरण, जीवन-परिमार्जन और अन्तःशोधन मे लगाएं। उनका अपना उत्थान तो होगा हा, कौटुम्बिक जीवन पर भी उनकी एक अमिट छाप पड़ेगी। खास तौर से बालकों पर जो प्रभाव माताओं और बहनों का पड़ सकता है, वह दूसरों का नहीं। अतः नारी-विकास और जागरण की एक बहुत बड़ी विशेषता है। नारी हीन भाव छोड़, आत्म-ओज का सहारा लेकर, पुरुष ने उसे विकास-पथ पर आगे बढ़ने नहीं दिया—उसकी प्रगति में

अवरोध डाला—केवल इस उपालंभ-परम्परा में अपने समय और शक्ति का अपव्यय न कर, सर्वतोभावेन आत्म-जागृति के पुनीत यज्ञ में अपने आप को झोंके।

उज्जैन,
२७ अगस्त '५५

१३३ : जैन-दर्शन

जैन-दर्शन एक आध्यात्मिक दर्शन है। जैन संस्कृति आत्मवाद की संस्कृति है। आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप मे रह सके तथा आ सके इसके लिये जैन-दर्शन असत् का प्रतिषेध करता है। 'यह मत करो', 'वह मत करो' इत्यादि। उसकी भाषा निषेधात्मक है। 'मत करो'—यह त्यागमूलक वाणी है, निवृत्ति है। 'करो' प्रवृत्ति है। 'करो' कहने का अर्थ होता है, प्रवृत्ति का मार्ग खोल देना। उसमें नियामकता नहीं रह पाती। अकरणीय या अकार्य भी छूट नहीं पाते। अतः त्याग को दृष्टिगत रखते हुए निषेध की भाषा का प्रयोग जैन-दार्शनिकों ने किया। कुसंग मत करो। इससे कुसंग की निवृत्ति होगी पर सत्संग का निषेध नहीं, बल्कि सत्संग करो इसका संकेत मिलता है।

जैन-दर्शन मोक्ष शास्त्र है। उसमें जीवन के आध्यात्मिक विकास के तत्त्वों का विवेचन है। प्राणी मुक्ति कैसे पा सके, इसका विशुद्ध वर्णन हमे जैन-दर्शन देता है। भौतिक विकास जैन दर्शन का साध्य नहीं; अतः वहाँ इसका गौण स्थान रहा। जैन दर्शन कहता है—हिंसा मत करो। संसार मे जीनेवाले व्यक्ति के लिये यह सभव नहीं होगा कि वह जरा भी हिंसा किये बिना अपना निर्वाह कर सके। पर 'हिंसा करो' यह विधान तो जैन-दर्शन किसी भी स्थिति में कर ही नहीं सकता। अनावश्यक हिंसा मत करो, स्थूल हिंसा मत करो—यह उसका दूसरा प्रकार होगा। यहाँ भी हिंसा का समर्थन नहीं है; क्योंकि सम्पूर्ण अहिंसा को सब लोग पाल नहीं सकते। अतः अनावश्यक या स्थूल का नाम लिया गया है।

जैन-दृष्टिकोण से कला क्षयोपशम भाव है अर्थात् सत्संस्कारों का प्रतिफल है; पर उसकी उपादेयता-अनुपादेयता उसके उपयोग पर निर्भर है। कला का ज्ञान व अनुशीलन बुरा नहीं। भगवान भी तो सर्वज्ञत्व होने के नाते समग्र कलाओं के वेत्ता हैं। यदि कला का सदुपयोग हो तो वह आत्म-विकास की साधक है अन्यथा बाधक। जैनों ने कला को भी पल्लवित और पुष्पित करने में कोई कमी नहीं रख छोड़ी है।

जैन-दर्शन ने भारतीय जीवन को अध्यात्म एवं तत्त्व-ज्ञान की बहुत बड़ी देन दी है इसमें कोई संशय नहीं पर यदि हम उसके उतार-चढ़ाव भरे इतिहास की ओर दृष्टि फैलायें तो पायेंगे कि जैन संस्कृति का जितना नुकसान जैनों ने किया, शायद उतना दूसरों ने नहीं। जरा सोचें तो सही—जो जैन-दर्शन अपरिग्रह और अहिंसा का दर्शन है, जिसके अनुसार वीतरागिता जीवन का चरम लक्ष्य है, भगवान भी इसीलिये भगवान हैं कि वे वीतराग हैं, उनको अर्थात् उनकी प्रतिमाओं को आभरणों से लाद देना, फूलों से ढँक देना क्या उनके वीतरागत्व व अहिंसत्व का उपहास नहीं ! हमें दर्द होता है, जब इस तरह का प्रतिकूल रूप हम देखते हैं। खैर, मैं चाहूँगा कि जैन अपने सांस्कृतिक स्वरूप को समझें व जीवन को तदनुकूल बनाने का प्रयास करें। इसीमें उनके जैनत्व की सार्थकता होगी।

१३४ : एक आध्यात्मिक आन्दोलन

यदि हम मानव-जाति के इतिहास के पन्ने उलटें तो पायेंगे कि मानव को शान्ति की सदा प्यास रही है। आज के युग का पर्यवेक्षण किया जाय तो यह स्पष्ट दिखाई देगा कि शान्ति की माग आज और भी ज्यादा बढ़ गई है। आज मानव कहने को मानव है, पर उसका जीवन दानवीय प्रवृत्तियों में इस कदर फँसा है कि न्याय, नीति, सदाचरण, सद्भाव और मैत्री जैसे गुण उसके जीवन से लुप्त-से हो रहे हैं। आज इस बात की सबसे बड़ी आवश्यकता है कि मानव में चारित्रिक जागृति पनपे, नैतिक उद्बोधन आये, वह असद् वृत्तियों को छोड़ जीवन मे सद्वृत्तियों को स्थान दे। अणुव्रत-आन्दोलन इसी आधार पर चलने वाला एक सृजनात्मक कार्यक्रम है। यह एक आध्यात्मिक अभियान है जो भौतिकता के जड़-बन्धनों में बँधे जीवन में उन्मुक्ति का संचार करता है। भारतीय जनता में अध्यात्मवाद और चारित्र-जागृति का संचार हो, इस दृष्टि को लेते हुए भारत के सन्तों, सन्यासियों, महन्तों और धर्माचार्यों को मैं आह्वान करूँगा कि वे राष्ट्र के सांस्कृतिक और आध्यात्मिक जीवन को प्रेरणा देने में अपने को लगायें।

आज विज्ञान का युग है। विज्ञान ने भौतिकवादी प्रकर्ष की पराकाष्ठा कर डाली है; पर जरा गहराई से सोचें, क्या उससे जीवन हलका एवं सुखमय बना ? सुखमय बनना तो दूर, उलटे बोझिल बना, जीवन की गति कुण्ठित हुई, तेज तिरोहित हुआ। फलतः मानव अपने को कुछ अस्त-व्यस्त-सा पाता है। उसके जीवन की स्थिरता और

उसका सत्त्व डगमगा रहा है। उसे लगने लगा है कि विज्ञान की वे चमत्कारिक देनें, जिनकी भीषण संहारक शक्ति ने दुनिया में विध्वंस और विनाश मचा डाला है, जीवन के लिये अभिशाप नहीं तो और क्या हैं? अणुव्रत-आन्दोलन जीवन में स्थिरता लाने, सत्त्व जगाने और तेज उद्दीप्त करने का आन्दोलन है। यह दर्शन उन ऊँचे और गहन सिद्धान्तों का एक बुद्धि-गम्य, व्यवहार-गम्य रूप लोगों को देता है जिससे वे अपने जीवन-व्यवहार में एक मँजावट पा सकें।

धर्म यदि जीवन को विशुद्धि और सचाई की तरफ नहीं ले जाता है तो वह कहने भर को धर्म है। धर्म का वास्तविक स्वरूप उसमें कहाँ! धर्म को मन्दिरों और धर्म स्थानों की चहारदीवारी तक सीमित मान एक नित्य नैमित्तिक काम की तरह उसकी परम्परा पाल व्यक्ति यदि मन में सन्तोष कर लेता है और दूकान या काम पर बैठ वहाँ अनैतिकता, शोषण, भ्रष्टाचार और दुराचार बरतता है तो यह उसकी कैसी धर्माराधना! धर्म व्यक्ति के जीवन में प्रस्फुटित होना चाहिये। उसका साकार निदर्शन व्यक्ति का अपना जीवन हो। अणुव्रत-आन्दोलन अपने सर्व धर्म-सम्मत व्यवहार-शोधक व्रतों के सहारे एक ऐसा रचनात्मक कार्यक्रम प्रस्तुत करता है जो व्यक्ति को सच्ची धर्माराधना की ओर लगाता है। विधानसभा के सदस्यों से मैं कहना चाहूँगा कि इस आन्दोलन की आत्मा को वे समझें, निकट से परखें व जीवन मे इससे प्रेरणा लें।

उज्जैन,
२८ अगस्त '५५

१३५ : सिंहावलोकन

मेरे लिये तो आज मूक चिन्तन का दिन है, आत्म-निरीक्षण का अवसर है। आज मुझे अपने गत वर्ष के कार्यकाल का सिंहावलोकन करना है। गत वर्ष का यह दिन हमने बम्बई मे मनाया था। रास्ते की लगभग १००० मील की लम्बी यात्रा हुई और वह महत्त्वपूर्ण तथा अनुकूलता को लिये हुए हुई। दिन भर के लम्बे विहारों के बावजूद हमें यह भान तक नहीं होता था कि दिन में हमने इतनी यात्रा की है। साधुओं और साध्वियों में भी काफी उत्साह रहा। एलोरा और अजन्ता जैसे अनेक ऐतिहासिक और सांस्कृतिक क्षेत्र भी हमारे बीच मे आये। इच्छा थी कि कुछ दिन वहाँ ठहरूँ पर समयाभाव के कारण वैसा नहीं बन पाया। वहाँ की

स्थापत्यकला और चित्रकला में तीनों संस्कृतियों (जैन, बौद्ध और वैदिक) का जो अभिनव सम्मिश्रण हुआ है, वह आज के विवेकशील मानव के लिये जो कि दूसरी संस्कृति वाले मनुष्य के साथ मिल तक नहीं सकता, प्रेरणाप्रद है।

गत यात्रा में जो मोड़ आये, अगर हम उस स्थिति में जाते तो न मालूम आज हम कहाँ कितनी दूर पहुँच गये होते, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। आखिर आज का यह दिन उज्जैन में मनाया जा रहा है। इस अवधि में मैंने पाया कि लोगों की धर्म के प्रति अभिरुचि है तथा वे जीवन-विकास की प्रेरणा पाना चाहते हैं। हमारा तो एक ही कार्य है कि हमें जो तत्त्व मिला है, चाहे उसे जैन-संस्कृति का तत्त्व कहूँ, भारतीय-संस्कृति का तत्त्व कहूँ, साधना को अक्षुण्ण और परिपूर्ण रखते हुए जन-जन मे उसका व्यापक प्रसार करना है। मौलिक तत्त्व आचार की सुरक्षा रखते हुए लोक-जीवन को जीवन-विकास का दर्शन कराना है। साधना की उपेक्षा करके आगे बढ़ना आगे बढ़ना नहीं बल्कि अवनति की ओर अग्रसर होना है और इसके लिये हमें सावधान रहना है। मैं अपने साधुओं, साध्वियों और अन्य भाइयों से भी यही कहना चाहूँगा कि वे प्रचार की पूर्ण भूमिका आचार को मजबूत रखें और जनता के जीवन को ऊँचा उठाने का प्रयास करें।

संगठन और समन्वय का जहाँ तक प्रश्न है उसके लिये हम सहर्ष तैयार हैं किन्तु समन्वय वहाँ तक ही मान्य है जहाँ तक कि मूल तत्त्व—आचार की सुरक्षा हो। उससे पीछे हटकर समन्वय करना समन्वय नहीं, आचारशैथिल्य और विकारों का पोषण है। साधना के क्षेत्र में वह कभी भी अभीष्ट नहीं हो सकता।

जन-जन की जीवन-शुद्धि के लिये चल रहे अणुव्रत-आन्दोलन के प्रति जनता में अच्छी अभिरुचि है किन्तु केवल मौखिक और लेखिक सहानुभूति प्रदर्शन से कुछ बनने का नहीं, उसके व्यापक प्रसार के लिये जनता का जीवन व लगन चाहिये और वह सहानुभूति जिस दिन जनता से हमें प्राप्त होने लगेगी उस दिन दुनिया में क्रान्ति आयगी और सामूहिक रूप मे जनता का जीवन बदलेगा। मुझे विश्वास है कि जनता भी उस सहानुभूति के लिये अपने को तैयार करेगी और आन्दोलन के व्यापक प्रसार में अपना योग-दान देगी।

आज का दिन सिर्फ गौरव और गुण-गाथायें गाने का ही नहीं है। मैं चाहता

हूँ कि आप लोग भी अपने जीवन का अन्तर्दर्शन करें तथा अपने में समाई दुष्प्रवृत्तियों को बाहर निकाल उसे सदाचारमय बनायें।

उज्जैन,

२९ *अगस्त* '५५

१३६ : आचार्यश्री भिक्षु

आचार्यश्री भिक्षु एक महान् क्रान्तिकारी सन्त थे। आत्म-साधना की बलि-वेदी पर सर्वतोभावेन अपने को समर्पित करनेवाले वे एक महान् तपस्वी थे। वे स्वयं साधना के प्रशस्त पथ पर अपार साहस, अतुल आत्मबल और अप्रतिम दृढ़ता के साथ चले तथा औरों को साधना का पथ दिया। स्वयं सुधार या आत्म-शुद्धि से अपने को सँजोकर दूसरों में आत्म-जागृति की दिव्य ज्योति जगानेवाले वे एक महान् योगी थे। उनके जीवन का पल-पल अमूल्य था, साधना से सिंचित था, त्याग से अलंकृत था। उनका जीवन आडम्बर और दिखावे से दूर तथा सत्य के निकट था।

क्रान्ति करना कोई सहज बात नहीं है। क्रान्तिकारी को अनेकानेक कष्टों, असुविधाओं एवं परिषहों का हँसते-हँसते सामना करना पड़ता है। स्वामीजी के साथ भी ऐसा ही हुआ। भीषण विरोधों का सामना उन्हें करना पड़ा, पर हिमालय की तरह वे अडिग रहे, स्वस्थ रहे, विरोध को उन्होंने विनोद माना और भविष्य के लिये भी यही निर्देशन किया। हमें प्रसन्नता है, आचार्यश्री भिक्षु द्वारा प्रदर्शित उसी रीति-नीति और पथ पर हम चल रहे हैं। विरोध का उत्तर विरोध से नहीं अपने आध्यात्मिक रचनात्मक कार्यों से दें, यही हमारी नीति है जो आज तक अक्षुण्ण रूप में चल रही है, जिसका हमे हर्ष है, आत्मतोष है।

आचार्यश्री भिक्षु अत्यन्त निर्भीक, ओजस्वी और आत्मस्थ पुरुष थे। वे दृढ़तापूर्वक अपने सिद्धान्तों पर अटल रहे, उनका सही दर्शन लोगों को दिया। इसके लिये जीवन भर उन्होंने अलख जगाई तथा अथक प्रयास किया। जरा कल्पना तो कीजिये उस युग की—चारों ओर से विरोधों के तूफान आ रहे थे, प्रतिकूल परिस्थितियों के बातूलों का पार नहीं था, पर वह सिंह पुरुष भला इनकी क्यों परवाह करता! उसे तो अपने साध्य को पाना था, प्राणपन से उसके लिये जुट जाने के अतिरिक्त उस सत्त्ववादी पुरुष के पास विकल्प ही क्या था! यह थी उस तपस्वी की तपोनिष्ठा व जीवन-साधना।

उन्होंने धर्म का व्यापक, उदार और असंकीर्ण रूप जगत् के समक्ष रखा व बताया कि धर्म सब के लिये है—यह किसी की बपौती नहीं है। क्या अहिंसा, सत्य, शील और अपरिग्रह जैसे सिद्धान्त किसी संकीर्ण दायरे में बँध सकते हैं ? प्राणी मात्र इनके पालन का अधिकारी और इनके सत्फल का भागी है।

मेरे रोम-रोम में, असंख्य आत्म-प्रदेशों में यह दृढ़ विश्वास, अडिग निष्ठा और आस्था है कि जो तत्त्व भगवान महावीर ने निरूपित किये आचार्यश्री भिक्षु ने उन्हीं तत्त्वों का निरूपण किया है। आचार्यश्री भिक्षु ने किन्हीं नवीन सिद्धान्तों की प्रतिष्ठापना नहीं की। उन्होंने तो भगवान महावीर के सत् सिद्धान्त, जिन्हें लोग भूलते जा रहे थे, लोगों को स्पष्ट कर बतलाये।

आज उनका चरम-दिवस है। साधना के पावन पथ पर प्राणपन से चलनेवाले उस महान् मनीषी, महान् योगी, महान् तपस्वी ने आज के दिन अपने पौद्गलिक शरीर को छोड़ा। इसे स्मरण करते जहाँ एक ओर कुछ खेद होता है कि वह पावन मंजुल मूर्ति आज हमारे समक्ष नहीं है, वहाँ दूसरी ओर हर्ष होता है कि हमारे आराध्य गुरुवर्य जिस आत्म-साधना के पवित्र पथ पर आरूढ़ हुए, अन्त तक उस पर निश्चल रहे तथा समाधिपूर्वक देह-विसर्जन किया। उनका अन्तिम समय बड़ा शान्त, स्थिर और समाधि-समन्वित था। उनके अन्तिम समय के उद्गारों को हम देखें तो यह स्पष्ट पता चलेगा कि कितना आत्मतोष उनको था। आत्मतोष क्यों न हो, जिस महान् लक्ष्य को लेकर वे आर्य क्षेत्र में आये, उस पर एकनिष्ठ रहे व सफलतापूर्वक चले। उनका जीवन हमारे लिये प्रेरणा-स्रोत है जिससे हमें स्फूर्ति और अन्तश्चेतना को वर्द्धित करना है।

उज्जैन,
३१ अगस्त '५५

१३७ : अवधान क्रिया

मुझे प्रसन्नता है कि जहाँ एक ओर आचारात्मक आन्दोलन हमारे यहाँ चल रहा है, वहाँ दूसरी ओर विचारात्मक तथा ज्ञान विकासात्मक आन्दोलन भी उसी वेग से चल रहा है। हमारा क्या, यह तो आप सब का आन्दोलन है। इन सब का एक मात्र लक्ष्य यही है—जन-जन में अध्यात्म-जागृति पनपे, अपने देश की जीवन-शुद्धि-

मूलक संस्कृति वृद्धि पाए। आज का युग जड़वादी युग है। जड़ यंत्रवाद की दासता से लोग बुरी तरह जकड़े हैं। फलतः अनेकानेक व सुविधाजनक साधनों के बावजूद वे सुखी नहीं हैं। जरा प्राचीन भारत की एक झलक को कल्पना में देखिये, कितना आत्म-निर्भर तथा स्वाश्रित तब का जीवन था। उसमें स्मरण-विज्ञान का भी एक स्थान था। अखण्ड ज्ञान भण्डार को एक व्यक्ति सहज भाव से मस्तिष्क में रख सकता था, जहाँ न कागज अपेक्षित था न और कोई भौतिक सामग्री। अवधान क्रिया उसी स्मरण विद्या का एक प्रतीक है। आज के प्रयोग कोई चमत्कार दिखाने के लिये नहीं हैं। वे तो आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक वातावरण जगाने के लिये हैं। मैं चाहता हूँ—भारत की अध्यात्म प्रधान संस्कृति घर-घर में प्रसार पाये, व्यक्ति-व्यक्ति का जीवन इससे ओत-प्रोत हो। तभी राष्ट्र के संकट, समस्यायें और क्लेश मिट सकते हैं।

उज्जैन,

४ सितम्बर '५५

१३८ : अहिंसा का आदर्श

अहिंसा का आदर्श समता का आदर्श है। किसी के प्रति तिरस्कार और अनादर की वृत्ति वहाँ स्वीकार्य नहीं है। अहिंसा तो सौजन्य, शील, सद्भावना और मैत्री से ओतप्रोत है। जहाँ इनका व्याघात होता है वहाँ अहिंसा नहीं हिंसा है। हिंसा का अर्थ है पतन। इससे बचना, उत्थान की ओर अग्रसर होना अहिंसा का धर्म है। अहिंसा आत्मनिष्ठ अथवा स्वगत तत्त्व है। मन के परिणामों से उसका गहरा सम्बन्ध है। तभी तो भगवान महावीर ने कहा कि प्राणी स्वयं अपना शत्रु है और स्वयं अपना मित्र। सत्प्रवृत्त आत्मा मित्र है और दुष्प्रवृत्त आत्मा शत्रु। इसका आधार है अहिंसा। यदि व्यक्ति ने अपने जीवन में अहिंसा को प्रश्रय दिया तो किसी के भी प्रति उसके मन में प्रतिकूल भावना नहीं जगेगी। सब स्वतः उसके मित्र बन जायेंगे। हिंसा में रत रहनेवाले का सारा संसार सहज रूप में शत्रु बन जाता है। आज का लोक-जीवन संघर्षों में घुलता जा रहा है। अनेक प्रकार के सुविधाकारी उपकरणों के आविष्कृत होने के बावजूद इसे त्राण नहीं दीखता। यदि वह क्लेश, संकट और विषमता के जगत से छुटकारा पाना चाहता है तो उसे अहिंसा के राजपथ पर आना होगा। आप यह मत समझिये कि किसी के प्राणों को लूटना ही हिंसा है। प्राण व्यपरोपण जिस प्रकार हिंसा है उसी प्रकार दूसरे के मन को चोट पहुँचाना, उसके विचारों पर ठेस

लगाना भी हिंसा है। किसी के प्रति कटु वचन बोलना भी हिंसा है। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह अहिंसा के आदर्शों पर आगे बढ़ता हुआ अपने मन, वचन और शरीर गत व्यवहार को अधिकाधिक अहिंसामय बनाये। अणुव्रत-आन्दोलन एक अहिंसात्मक आन्दोलन है। जन-जन की जीवन-वृत्ति मे अहिंसा की अनुस्यूति हो, अहिंसा-दिवस मनाने का यह अभिप्रेत है। आशा है, लोग अपने को आहसानिष्ठ बनाने में यत्नशील होंगे।

अणव्रत-आन्दोलन एक आध्यात्मिक आन्दोलन है। लोगों का जीवन स्वार्थवाद, सुविधावाद और भोगवाद से परे होकर सत्य, शौच, सदाचार और नीतिपरायणता में आए, यह इस आन्दोलन का मर्म है। व्रतों का जो गठन किया गया है, उसमें इसका पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। व्रतों की भावना और आदर्श अक्षुण्ण हैं, उनका बाह्य रूप परिस्थिति को देखते हुए बदल भी सकता है,बदला भी है। प्रारम्भ मे इसके ८४ व्रत थे। अब व्रतों की संख्या ४३ कर दी गई है। उनके मूल स्वरूप और आदर्शों में अन्तर नहीं आया है पर उनका सगठन इस रूप में किया गया है कि वे सब ४३ व्रतों मे समाविष्ट हो गये हैं। समाविष्ट भी इस प्रकार किये गये है कि उनका पालन करने मे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिक सुगमता हो। इस विषय में प्रत्येक विद्वान, विचारक, कार्यकर्ता, व्रती अपने सुझाव दे सकते हैं, अपने विचार रख सकते हैं। वार्षिक अधिवेशन में इन पर विचार-विमर्श चलता है। आवश्यक एवं उपयोगी परिवर्तन-परिवर्द्धन आदि स्वीकृत भी होते हैं। अन्त में मैं इतना ही कहूँगा कि व्यक्ति-व्यक्ति अणव्रत-आन्दोलन को परखे, देखे, समझे तथा जीवन मे इसे ढालने का प्रयास करे। इससे उसका जीवन बनेगा, सघर्ष और क्लेश हटेंगे तथा वैयक्तिक जीवन के साथ-साथ सामाजिक जीवन भी सुखी और शान्तिमय होगा।

उज्जैन,
२५ सितम्बर '५५

१३६ : आज की नारी

यह खेद की बात है कि आज की नारी अपना कर्तव्य भूलती जा रही है। यह इसीका परिणाम है कि उसे जो विकास और उन्नति मिलनी चाहिए वह नहीं मिल पा रही है। कर्तव्यों को हम दो भागों मे बाँट सकते हैं—आध्यात्मिक और सामाजिक। सामाजिक दृष्टि से जैसे सामाजिक कर्तव्य आवश्यक माने जाते हैं वैसे ही

आध्यात्मिक दृष्टि से आध्यात्मिक कर्तव्यों का भी बहुत बड़ा महत्त्व है। अध्यात्मवाद भारतीय जीवन का मुख्य स्रोत रहा है। यदि भारतीयता में से अध्यात्म पक्ष को निकाल लिया जाय तो उसमें सिवाय अस्थि-पंजर के बच ही क्या रहेगा? आध्यात्मिक कर्तव्य ही व्यक्ति को जीवन में शाश्वत आनन्द देने वाले हैं। इनसे संयम, सात्विकता, सौजन्य, सद्भावना और बन्धुत्व की वृत्ति पैदा होती है। नारी इन सद्वृत्तियों से अपने जीवन को सँजोये, जन-जन तक इसे प्रसारित करे। कम से कम अपने कौटुम्बिक तथा पारिवारिक जीवन तक तो इसे वह पहुँचाये ही।

विनय, अनुशासन और सद्भावना का जीवन मे जो महत्वपूर्ण स्थान है वही निर्भयता का भी है। बहनों में भीरुता की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक पायी जाती है जिसे मैं उपयुक्त नहीं समझता। बुराई और असद्व्यवहार के सामने भय से घुटने टेक देना मानवीय आत्म-सत्त्व की अवहेलना है। नारी जीवन-शुद्धि और आत्म-विकास के पथ पर निडर भाव से आगे बढ़ती रहे।

आज लोगों का चारित्रिक जीवन किस कदर विकारों में डूबा जा रहा है यह कुछ कहने-सुनने की बात नहीं। व्यक्ति अपनी थोड़ी-सी सुविधा के लिए कितना अधिक अन्याय परायण बन जाता है यह आये दिन की घटनाएं स्पष्ट बता रही हैं। इस बढ़ते हुए अनैतिक प्रवाह को रोकना होगा। उसमें नारी का बहुत बड़ा भाग हो सकता है। वह गृहस्वामिनी है, घर के तन्त्र की चालिका है। यदि वह इस बात के लिए कटिबद्ध हो जाय कि अपने घर में उसे अनैतिकता को पोषण नहीं देना है, शोषण और अन्याय के आधार पर पैसा उपार्जन करने की परम्परा को प्रश्रय नहीं देना है तो सहजतया घर के वातावरण मे सात्विकता और प्रामाणिकता का सौरभ फूट पड़ेगा; पर यह कब? जब नारी इसका सही मूल्याङ्कन करेगी तब। अणुव्रत-आन्दोलन इसी भावना और वृत्ति को पैदा करना चाहता है। वह जीवन को सदाचरण और नीति की ओर एक सबल मोड़ देना चाहता है। बहिनें इसे देखें, समझें, जीवन में उतारें तथा औरों को इसे अपनाने की प्रेरणा दें।

उज्जैन,
६ अक्टूबर '५५

१४० : ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य-साधना के लिये यह आवश्यक है कि साधक प्रकाम-रस-भोजी न बने। भगवान महावीर ने बताया है कि प्रकाम-रस-भोजन शरीर को दीप्ति—उत्तेजना देता है। उत्तेजना युक्त पुरुष को काम-वासनाएँ घेर लेती हैं ठीक वैसे ही जैसे स्वादु और रस भरे फलों से भरे-पूरे वृक्ष को पक्षी।

इसका कारण यह है कि प्रकाम-रस-भोजन विकारोत्पादन का हेतु बनता है। आचार्य भिक्षु ने साध्वाचार पर विवेचना करते हुए कहा है कि जिस आहार से घी टपक रहा हो, वह आहार साधु के लिये साधना में बाधक है। इसलिये साधु को उसका सेवन नहीं करना चाहिये। जहाँ एक ओर साहित्य मे हम घी के सम्बन्ध मे यह पाते हैं कि "घृतमायुः"—घृत आयु है, जीवन है। वहाँ दूसरी ओर उसको बाधक क्यों माना गया ? इसका अभिप्राय यह है कि वह गरिष्ट भोजन है। आवश्यकता-तिरेक मात्रा मे उसका सेवन प्रमाद लाता है, मानसिक विकार पैदा करता है जिनसे बचना साधक के लिये आवश्यक है। भगवान महावीर ने तो यहाँ तक कहा है कि जो साधु गरिष्ठ और भारी आहार-सेवन करके सोता रहता है, वह पापी श्रमण है। श्रमण है तो पापी कैसे और जब वह पाप सेवन करता है तो श्रमण कैसे ? यह जो उलझन आती है उसका आशय यह है कि वह लेता तो एषणीय है पर अधिक मात्रा मे खाता है, प्रमादी बनता है, निद्रालु बनता है—यह उसका पापीपन है।

साधक प्रकाम-भोजी न बने, इस प्रसंग मे भगवान ने बताया है कि जैसे प्रचुर इंधन वाले जंगल मे दावाग्नि शान्त न होकर उत्तरोत्तर बढती जाती है उसी तरह प्रकाम-रस-भोजी ब्रह्मचारी की बढ़ती हुई इन्द्रियाग्नि उसके हित के लिये नहीं होती। इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचारी ऐसे भोजन से बचे जिनसे इन्द्रियाँ आग का रूप धारण कर लेती हैं।

एक बात पर यहाँ गौर करना होगा। उक्त सिद्धान्त सामान्यतया समस्त साधकों के लिये है। जिनकी साधना इतनी उत्कृष्ट हो गई है कि उन्हें बाह्य विकार विचलित नहीं कर सकते उनकी दूसरी बात है। उनके लिये बाहरी मर्यादायें उतनी महत्त्व की नहीं होतीं पर सामान्य साधक के लिये वे मर्यादायें आवश्यक-जैसी होती हैं। मुनि स्थूलिभद्रजी ने वेश्या के यहाँ चातुर्मास किया, सरस आहार किया फिर भी वे अपने को संयत, स्वस्थ और आत्मजित बनाए रख सके। वे वेश्या से प्रभावित नहीं

हुए। इतना ही नहीं बल्कि स्वय उन्होंने ही उसे प्रभावित कर संयम-मार्ग की ओर अग्रसर किया।

ब्रह्मचर्य साधना का मुख्य अंग है। वह ओज और आत्म-तेज का प्रतिबिम्ब है। इसके अभाव में जीवन वास्तव में एक भार है। उसकी सम्पूर्ण साधना की जाये, यह तो बहुत ही श्रेष्ठ है पर चूंकि गृहस्थों के लिये यह सहज सम्भव नहीं अतः वे जहाँ तक बन सके, इस ओर ज्यादा से ज्यादा अग्रसर हों।

एक नया विचार और आया है कि ब्रह्मचर्य की सम्पूर्णतया साधना हो ही नहीं सकती। उनको अधिक न कहता हुआ मैं भारत के पुराने महर्षियों और आज के अपने साधु-समाज की ओर गौर करने के लिये प्रेरित करूंगा।

ब्रह्मचर्य और विद्यार्थी जीवन का तो बहुत ही गहरा सम्बन्ध है। रघुवंश में महाकवि कालिदास ने एक स्थान पर लिखा है:

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां, यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां, योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

रघुवंशी राजा शैशव मे विद्या का अभ्यास करते थे, यौवन मे विषयों का सेवन करते थे, वृद्धावस्था में मुनिव्रत धारण करते थे और अन्त में समाधिपूर्वक शरीर-विसर्जन करते थे। इससे प्रकट है कि विद्याध्ययन-काल मे उनमें ब्रह्मचर्य की सुन्दर परम्परा थी। यह पद्य आश्रम-जीवन की ओर प्रकाश डालता है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास की ओर इस पद्य मे सकेत किया गया है।

जैन संस्कृति मे जीवन को चार विभागों मे विभाजित न कर दो भागों मे बाटा गया है—गृहस्थ और सन्यास। गृहस्थ-जीवन मे व्यक्ति घर मे, समाज मे रहता है। वहा ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदि व्रतों का आंशिक रूप मे पालन होता है। उत्तरोत्तर वह इनमे अपने को विकसित बनाये, ऐसा उपदेश उसके लिये है। साधु-अवस्था तो पूर्णरूपेण संयम-साधना की प्रतीक है ही।

जो पूर्ण साधकता अपना चुका है, उसका सदा इस ओर ध्यान रहना चाहिये कि उसकी साधना सदा अखंड रूप मे चले। यही कारण है कि उसके लिये भगवान ने विशुद्ध जीवन-चर्या को निभाने के लिये प्रकाम और गरिष्ठ भोजन जैसे साधना-विघातक कारणों का परित्याग करने का निर्देशन किया है।

१४१ : नारी के तीन गुण

सहिष्णुता, अनुशासनप्रियता और लज्जाशीलता—बुराइयों के प्रति घृणा—भारतीय नारी के सहज गुण हैं। महिलायें प्रगति की दौड़ और पुरुषों की बराबरी में कहीं उन गुणों को न भूल जायें। भारतीय नारी को पूज्य इसीलिये माना जाता है कि उसके जीवन में धार्मिक भावना के प्रति अटूट निष्ठा रही है। समय-समय पर अपने धर्म से विचलित पुरुष-समाज को नारी ने पथ-दर्शन दिया है, उसे गिरते हुए से बचा कर सही रास्ते पर लगाया है। बहिनें अपने प्राचीन गौरव को भूलें नहीं। आज के इस नैतिक वातावरण में, जब कि व्यक्ति पैसे के लिये कुछ भी करते नहीं सकुचाता, बहिनों को मार्ग-दर्शन देकर उन्हें सदाचार और चरित्र-निष्ठा की ओर अग्रसर करना है। इसके लिए आवश्यक है कि वे परिग्रह संग्रह के मूल विलासी-जीवन और फैशन-भावना को छोड़ें और पुरुषों को अनैतिक कार्य छोड़ने के लिये प्रेरणा दें।

महिलाओं में धार्मिक-भावना के साथ-साथ अन्ध श्रद्धालुता भी बहुत है। उनमें धर्म-भावना के साथ-साथ विवेक भी होना चाहिये। आज के तथाकथित साधु भी बहिनों को बहका-फुसलाकर धोखे में डालने की चेष्टा करते रहते हैं। वहाँ धर्मोपासना के लिये विवेक युक्त धर्मोपासना की ओर अग्रसर होकर अपने जीवन को त्याग और संयम साधना में लगाना चाहिये।

उज्जैन,

२८ अक्टूबर '५५

१४२ : नारी-जागरण

अणुव्रत-आन्दोलन संयम और जीवन-शुद्धि का आन्दोलन है। आज का लोक-जीवन संयम से दिन पर दिन परे होता जा रहा है, फलतः वह अशान्त है, दुःखी है, असन्तुष्ट है। वास्तव मे संयम हीन जीवन जीवन नहीं। संयम से जीवन में मँजावट आती है, सुघड़ता आती है। संयम का अर्थ है—वृत्तियों का नियमन, वृत्तियों को असत् कार्यों से निवृत्त करना। वाणी का संयम, मन का संयम, खाने का संयम, पहनने-ओढ़ने का संयम—ये संयम के विभिन्न पहलू हैं। इनसे जीवन व्यवस्थित और स्थिर बनता है। इन्हें जीवन में ढालनेवाला व्यक्ति खाने के लिये, पीने के लिये, ऐयाशी के लिए नहीं जीता। चूँकि जीवन से काम लेना है, जीने के लिये अमुक वस्तु आवश्यक है, इस नाते उसे वह ग्रहण करता है। कितना भारी परिवर्तन उसके विचार

एवं कर्म में आ जाता है। जन-जन में संयम के प्रति सक्रिय निष्ठा जगे, यही इस आन्दोलन का अभिप्रेत है। असंयत वृत्ति से पैदा हुए एवं पनपे विकारों से आज कौन अनजान है ! कलह, द्वेष, धोखा, रिश्वत, चोर बाजारी, मिलावट, शोषण—ये असंयम की ही तो शाखा-प्रशाखायें हैं जिन्होंने आज मानव-जीवन को जर्जरित कर डाला है। इस जर्जरपन से मानव-समाज को त्राण देने का यह आन्दोलन है।

मैं चाहता हूँ कि इस आन्दोलन की भावना घर-घर और जन-जन तक पहुंचे। मैं इसके लिये महिलाओं को आह्वान करता हूँ। वे चाहे तो अपने घर का वातावरण आसानी से सुधार सकती हैं। भावी पीढ़ियों की तो वे निर्मात्री ही हैं। बालक-बालिकाओं को दूध और भोजन की तरह सहज संस्कार माताओं और बहिनों से मिलते हैं। कौन नहीं जानता है कि वे कितने अमिट होते हैं। माताएँ और बहनें यदि बालक-बालिकाओं मे अणुव्रत-भावना का शुरू से बीज बपन करें तो नैतिकता और सदाचरण बालकों के जीवन का एक सहज गुण बन जाय। यदि ऐसा हुआ तो सहज रूप में घर के वातावरण में नैतिकता गमक उठेगी। मैं चाहूँगा कि बाहनें अणुव्रत-आन्दोलन की रूपरेखा, उसके स्वरूप, कार्य विधि आदि को देखें व समझें तथा इस आन्दोलन को जीवन-व्यापी बनायें।

उज्जैन,
६ नवम्बर '५५

१४३ : चरित्र-विकास और शान्ति का आन्दोलन

आर्ष अनुभव है—**"नेव से अंतो नेव से दूरे"**—वह न नजदीक है और न दूर। यह बहुत गूढ़ है पर बहुत ही सच है। मनुष्य शान्ति की खोज मे है। वह बाहर से नहीं आती इसलिये वह उससे दूर नहीं है और वह मिल नहीं रहा है इसलिये उससे नजदीक भी नहीं है। वह न दूर है न नजदीक, इसलिये उसे समझना कठिन है, पकड़ना कठिनतर और रखना कठिनतम। पहले सुख-सुविधा, फिर शान्ति—ऐसा लगता है पर स्थिति ऐसी नहीं है। सुख-सुविधा या आवश्यकता की पूर्ति जीवन-निर्वाह का सर्वोपरि साधन अवश्य है पर शान्ति की पहली मंजिल नहीं है। सुख-सुविधा की सामग्री के परमाभाव में भी बहुत सारे शान्ति के लिये मारे-मारे फिरते हैं। उनके अभाव में प्रताड़ित व्यक्ति भी शान्ति प्राप्त किये हुए हैं। इस पर से यह

मिलता है कि सुख-सविधा और शान्ति का आपस में कोई लगाव नहीं है। पौर्वापर्य या साहचर्य नहीं है—सुख-सुविधा होने पर भी शान्ति हो—ऐसी व्याप्ति या नियम नहीं है। इसलिये जीवन-निर्वाह या सुख-सुविधा की समस्या के समाधान के साथ शान्ति के प्रश्नों को नहीं जोड़ना चाहिये। उस पर स्वतन्त्र दृष्टि से विचार होना चाहिये।

शान्ति का बाधक तत्त्व उन्माद या व्यामोह है। वैयक्तिक उन्माद के रहते व्यक्ति को शान्ति नहीं मिलती। यही दशा जाति और राष्ट्र की है। जीवन की धारा व्यक्ति की जाति, प्रदेश, राष्ट्र और धर्म से जुड़ी हुई होती है इसलिये उसे इन सब का गौरव होता है पर वह गौरव जहाँ दूसरे व्यक्ति, जाति, प्रदेश, राष्ट्र और धर्म के पतन पर पलने लगता है, उन्हें दबा कर बढ़ता है वहीं शाति भंग हो जाती है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोषण करता है, उसके काम का अनुचित लाभ उठाना चाहता है, दूसरों को हीन समझ उन्हें तिरस्कृत करता है—यह वैयक्तिक उन्माद है। शान्ति अपने नियन्त्रण से मिलती है। अपनी सुख-सुविधा को सर्वोपरि मानकर चलने वाला अपने पर नियन्त्रण रख नहीं सकता। इसलिये वह अशान्त बना रहता है। एक ओर कम दाम दे अधिक काम कराने की भावना है, दूसरी ओर दाम लेकर काम से जी चुराने की भावना है। यह वैयक्तिक उन्माद का दोष है। अति विलास, अति भोग आदि चरित्र को लाछित करनेवाली सारी वृत्तियाँ उसी से पैदा होती हैं। ये अशाति की चिनगारियाँ हैं।

समृद्ध और सत्य कहलाने वाली जातियाँ जाति-उन्माद से कितनी पीड़ित हैं, इसका नमूना दक्षिण अफ्रीका की जाति-भेद की नीति है। हिन्दुस्तान भी अस्पृश्यता के रोग से कम पीड़ित नहीं है। अमेरिका जैसे राष्ट्र का आधुनिक मानस भी नीग्रो जाति के प्रति घृणा को समूल उखाड़ नहीं पाया है। ये अशान्ति की चिनगारियाँ हैं।

प्रादेशिकता या प्रान्तीयता की बीमारी भी कम हानिकारक नहीं है। एक राष्ट्र की प्रजाएँ भी प्रान्त-भेद के कारण आपस मे सन्देहशील रहें, एक दूसरे को कुचलना या गिराना चाहें, यह कितनी दयनीय दशा है ! अभी-अभी प्रान्तों की रचना के प्रश्न को लेकर प्रादेशिकता का उन्माद भी फैला। वह सचमुच चिन्तनीय है। तुच्छ स्वार्थ महान् हित के बाधक बनते नहीं सकुचाते। यह स्पष्ट अनुभव हुआ। यह प्रादेशिक उन्माद अशान्ति की चिनगारी है।

राष्ट्रीय उन्माद भी लगभग ऐसा ही है। जब एक राष्ट्र को दूसरा राष्ट्र दबाये रखना, हड़प जाना चाहता है तब अशान्ति के स्फुलिंग व्यापक और चिरायु बनते हैं। छोटे और बड़े सभी युद्ध इसके स्वयंभूत प्रमाण हैं।

धार्मिक उन्माद—साम्प्रदायिक व्यामोह सब से अधिक खतरनाक है। धर्म रक्षा के बहाने अहिंसा के नाम पर हिंसा और सच के नाम पर झूठ का जितना व्यवहार होता है उतना दूसरे किसी के बहाने नहीं होता।

ये उन्माद ज्यों के त्यों चले और शान्ति भी पल्ले पड़ जाय, यह कभी नहीं होने की बात है। इस तथ्य पर पहुँचने के बाद अणुव्रत-आन्दोलन की आवश्यकता अनुभूत होती है। वह चरित्र का आन्दोलन है, दूसरे शब्दों में शान्ति का आन्दोलन है। चरित्र और शान्ति दो नहीं, एक ही सत्य की द्विरूप अभिव्यक्तियाँ हैं। जहाँ चरित्र है वहाँ शान्ति और जहाँ शान्ति है वहाँ चरित्र है। तात्पर्य यह हुआ कि चरित्र और शान्ति परस्पर परिव्याप्त हैं।

व्यक्ति मिट नहीं सकता। जाति, प्रदेश, राष्ट्र और धर्म भी मिट जायँ—यह संभव नहीं लगता। इन सब की कृत्रिम भेद-रेखायें, ऊपरी सीमायें मिट सकती हैं। वे मिट जायँ—यह अणुव्रत-आन्दोलन की प्रेरक भावना है। एक व्यक्ति दूसरो में अपना विलय कर दे, अपने को मिला दे। दूसरों के स्वत्त्व को चूसने की धृष्टता न जागे उतना विलीनीकरण आवश्यक है। इसी प्रकार अस्पृश्यता, हीनता, सन्देह-शीलता, वैमनस्य, आक्रमण और मिथ्यावाद न बढ़ें, उतनी सीमा तक जाति, प्रदेश, राष्ट्र और धर्म सम्प्रदायों का विलीनीकरण भी आवश्यक है। यह विलय मौलिक निधि या तात्त्विक गौरव की परम्परा को मिटानेवाला नहीं है। यह अति स्वार्थ, झूठा अभिमान, झूठे बड़प्पन की भावना का त्याग है।

इस आन्दोलन के पास त्याग ही त्याग की बात है। झूठ त्याग देंगे तो सचाई अपने आप निखर पड़ेगी। दूसरों के प्रति सयम बरतेंगे तो सद्भावना अपने आप बढ़ेगी।

अपने आप में संयत रहेंगे तो शान्ति स्वयं बढ़ेगी। यह सब कुछ कामना या भावना जैसा लगता होगा। लोग कहते हैं—अणुव्रत-आन्दोलन केवल भावना-प्रधान है, कार्य-प्रधान नहीं। बात कुछ सच भी है। सही भावना पहले आनी ही चाहिये। उसके बिना कार्य की अच्छाई भी कैसे आयेगी।

जो अणुव्रती बने हैं उनकी जीवनचर्या अणुव्रतों के अनुरूप है या नहीं, इसे वे भली भाँति निहारे। उन्होंने संयम का पथ चुना है पर जीवन की आवश्यकतायें कम हुई हैं या नहीं—वे मुड़कर देखें।

सरल जीवन बिताने का संकल्प किया है पर वक्रता का भाव छूटा या नहीं—इसे टटोलें। समता या मैत्री का व्रत लिया है पर दूसरों के प्रति उनकी क्रूरता कम हुई या नहीं, परावलम्बन का भाव घटा या नहीं—इसकी आलोचना करें।

परिग्रह का परिमाण सीमित करने की इच्छा प्रकट की है पर भोग-विलास और उसकी सामग्री के संग्रह का आकर्षण कम हुआ या नहीं, सोचें।

सत्य के प्रति निष्ठा दर्शायी है पर ईमानदारी की वृत्ति बढ़ी या नहीं—इसका अणुवीक्षण करें। थोड़े में इतना ही देखें—त्याग और भोग के आनन्द में उन्हें अंतर लगा या नहीं। त्याग से श्रद्धा, बल, आत्म-विश्वास और अभय बढ़ा या नहीं, इसको कसौटी पर कसें।

हिंसा और परिग्रह के अल्पीकरण की ओर प्रगति करने के लिये महा हिंसा और महा परिग्रह के साधनों को छोड़ा या नहीं, इस पर गौर करें। यह अणुव्रतियों का आत्मालोचन है। वे इन प्रश्नों का अपने-आप से उत्तर लें और दूसरों को इसका व्यावहारिक उत्तर दें, मौखिक नहीं। आन्दोलन का मुख्य कार्य व्रतों की भावना का प्रसार है। उससे कौन लाभ लेता है, कौन नहीं—यह व्यक्ति का अपना प्रश्न है। मुझे विश्वास है—सत्प्रयत्न अधिकाधिक सफल होगा। लोग व्रतों की भावना को समझेंगे, स्वतन्त्र मूल्य आँकेंगे और व्रती बन शान्ति का पथ प्रशस्त करेंगे।

उज्जैन,
२० नवम्बर '५५

१४४ : अहिंसा की उपासना

अहिंसा की उपासना में आत्मवशता होती है और हिंसा में परवशता। अहिंसा को निठल्लों का हथियार बतानेवाले उसके महत्त्व और स्थिति को नहीं समझते। एक विशिष्ट साधक को रास्ते में अगर शेर मिल जाये तो वह उससे भी भय नहीं खाता। भय दिखलाना जिस तरह हिंसा है उस तरह भयभीत होना भी अहिंसा नहीं है। साधु को इस स्थल पर शरीर का मोह नहीं होना चाहिये। यह तो अशाश्वत है। इसकी जो गति होनी है वह आज नहीं तो दो दिन ठहर कर होगी ही। आखिर मौत का भय

क्यों है ? आत्मा अमर है। उसकी स्थिति में कोई भी दूसरा हस्तक्षेप नहीं कर सकता। व्यक्ति की वह स्वतंत्र सम्पत्ति है जिसको अगर वह चाहे तो सुरक्षित रख सकता है, उसका विनाश भी उसी के वश में है। अस्तु; साधु शेर से डरता नहीं। अपने संयम की गति लिये हुए वह चलता है और अगर उसमे उसकी मृत्यु भी हो जाय तो वह उसे सहर्ष स्वीकार कर लेता है। यह आत्म उज्ज्वलता की उत्कृष्ट स्थिति है। साधारण स्थिति मे साधना का स्तर ऊँचा नहीं उठता।

कई लोगों का ऐसा कहना है कि अपनी रक्षा का मोह क्यों नहीं होना चाहिये जबकि वह भविष्य के जीवन में नाना प्रकार की धार्मिक प्रवृत्तियाँ करेगा ? पर जिस तरह वह भविष्य के जीवन मे धार्मिक बनने की आशा में है उसी तरह उसमें अधार्मिकता के तत्त्व आने क्या सम्भव नहीं ? वास्तव में यह धर्म का तत्त्व नहीं, जीवन का मोह है जो कि एक अहिंसा-धर्मी के लिये कतई उचित नहीं।

राम चरित्र मे एक उदाहरण आता है—दो मुनि (पिता और पुत्र) थे। वे पहाड़ों मे निवास करते हुए घोर तपस्या करते। चातुर्मास समाप्ति पर आया। दोनों मुनि भिक्षा के निमित्त शहर में जा रहे थे। पुत्र आगे था और पिता पीछे। दोनों अपनी गति से चले जा रहे थे इतने मे एक बाघिन सामने से आ गई। पिता ने उसे देखकर बाल मुनि से कहा कि वह पीछे आ जाये, वह आगे हो जायगा। पुत्र भी संयम की साधना में गहरा रमा हुआ था, उसे मृत्यु मे क्या भय था ? पिता ने बार-बार आग्रह किया पर पुत्र कब स्वीकृति देनेवाला था। वह पिता को समझाता रहा—गुरुवर ! आप तो कहा करते हैं, मृत्यु मे आनन्द होता है। आप बड़े होकर मुझसे वैसा अनुपम आनन्द क्यों छीन रहे हैं ? पुत्र नहीं माना। सिंहनी भूख से व्याकुल थी। उसने ज्यों ही बाल मुनि पर अपना तीक्ष्ण पंजा उठाया त्यों ही मुनि ने सोचा कुछ भी हो, मेरी आत्मा को तो कोई गिरानेवाला नहीं। मुनि आत्मचिंतन में लीन चरम केवली होकर मोक्षगामी हुए। निर्मोह भावना की उत्कृष्टता के कारण पिता की भी मुक्ति हुई।

उधर वह बाघिन बाल मुनि का शरीर खा रही थी। उसे वह बहुत स्वादिष्ट लगा। मुनि के अवयव बाघिन को कुछ परिचित-से लगे और वह उन्हें गौरपूर्वक बार-बार देखने लगी। ऐसा करते-करते उसे जाति-स्मरण ज्ञान हो आया। उसने जाना कि वह तो पूर्व भव में इस मुनि की माता थी। उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उसने

वहीं यावज्जीवन के लिये अनशन कर दिया। इस तरह वह पापों का प्रायश्चित्त करती हुई प्राणान्त को प्राप्त हुई और आठवें स्वर्ग में पहुँची।

लोग जरा सोचें—अहिंसा कायरता क्यों है ? अगर अहिंसा कायरता ही होती तो मुनि को भी कोई वीर नहीं कहता। निस्संदेह अहिंसा वीरों का धर्म है और मुनि का उदाहरण इस पर अच्छा प्रकाश डालता है। साधारण स्थिति में साधना की इतनी उत्कृष्टता हर साधक में नहीं होती।

१४५ : जीवन का सार

जिस ध्येय को लेकर मैं उज्जैन आया, मुझे यह कहते प्रसन्नता है कि उसे मैं सफल मानता हूँ। अणुव्रत-आन्दोलन का प्रचार यहाँ सुन्दर रूप में चला। सहस्रों ही नहीं बल्कि लक्षावधि लोगों तक यह भावना पहुँची। लोग इस ओर उन्मुख हुए। दूसरा जो मुख्य लक्ष्य था, वह आगम-वाङ्मय के विवेचन, विश्लेषण एवं अनुसंधान का था। साधु-साध्वियों के अनवरत प्रयास से वह कार्य भी आशातीत रूप में आगे बढ़ा। मैं आज के इस प्रसंग पर कहना चाहूँगा कि अब तक आप लोग हमारे सम्पर्क में आये, उपदेश सुने, अध्यात्म-आराधना में उत्साहशील रहे पर याद रखें हमारे चले जाने के पश्चात् आप उसे भूल मत जाइयेगा। अब तक नैतिक जागृति और चारित्र-शुद्धि के क्षेत्र में आप रमणीक रहने का प्रयास करते रहे हैं, आगे यह सब भूलते हुए अरमणीक मत बन जाइयेगा। जीवन का सार सांसारिक सुख-वैभव में नहीं है। सच्चा सार तो आत्म-जागृति, चरित्र शुद्धि व आचरण परिष्कृति में है। इसे आप स्मरण रखें। अणुव्रत-आन्दोलन इसीका एक सजग प्रतीक है। इसके आदर्शों को आप जीवन में ढालें तो आपका जीवन एक पावन प्रकाश पायेगा।

उज्जैन,
३० नवम्बर ५५

१४६ : धन से धर्म नहीं

क्योंकि भारतवर्ष सदियों तक पराधीन रहा अतः भारतवासी पश्चिमी सभ्यता, संस्कृति और शिक्षा के प्रवाह में बह कर अपने संतों को, धर्म को और परमात्मा को भूल गये। इस पतन का एक कारण और भी है। भारतवर्ष में सच्चे संत भी कम रहे। धर्म का स्तर नीचे चला गया। जो धर्म त्याग, तितिक्षा, और तपश्चर्या प्रधान था उसमें पूँजी को प्रधानता मिली। वही धर्म श्रेष्ठ माना जाने लगा जिसमें सबसे अधिक पूँजीपति हों,

जिनके बड़े-से-बड़े मन्दिर-मस्जिद, मठ और गुरुद्वारे हों, जिनके देवस्थानों में रत्नों की जगमगाहट हो, स्वर्ण की प्रचुरता हो। मन्दिरों की कोई उपयोगिता नहीं है—ऐसा मैं नहीं मानता। वह भूले-भटके मानव का उपासना-स्थल है पर उसमें होड़ का अतिरेक हो गया। धर्म-ग्रन्थों को पूँजी और सौर्य से दबा दिया गया। यह बाह्याडम्बर का ही परिणाम है कि आज धर्म का मौलिक स्वरूप आछन्न हो गया है।

मैं स्पष्ट शब्दों में आपसे कहना चाहूँगा कि धन से धर्म नहीं होगा। यदि धन से धर्म होता तो अन्य क्रय-विक्रय की चीजों की तरह ये पूँजीपति आज धर्म को भी गोदामों मे कैद कर लेते। सही माने में धर्म संयम में है, त्याग, तपश्चर्या, साधना और उच्च मनोवृत्ति में है। धर्म वितण्डावाद मे नहीं टिक सकता। जहाँ आक्षेपों तथा क्षुद्र आलोचनाओं को प्रश्रय मिलता है वहाँ धर्म रसातल मे चला जाता है। दूसरों को बुरा कहनेवाला कम से कम स्वयं अपने आप को तो निहारे। हमे आक्षेप करने हैं, दूसरे व्यक्ति पर नहीं, बुराई पर, हिसक पर नहीं। हिंसा पर। अन्त मे मैं आपसे यही कहूँगा कि अकिंचन संतों का स्वागत शब्दों से नहीं क्रिया से होता है। अपने जीवन को सन्मार्ग की ओर ले जाइए, जीवन मे अधिक से अधिक सत्य व अहिंसा को उतारिये, अनैतिक और आत्म-पतनकारी प्रवृतियों से बचिये, यही मेरा सच्चा स्वागत होगा।

बड़नगर,
५ नवम्बर '५५

१४७ : संस्कृति की आत्मा

अहिंसा, दया और दान भारतीय संस्कृति की आत्मा हैं, ये प्राण हैं। ये भारत के कण-कण मे व्याप्त हैं। यदि इन्हे निकाल दिया जाय तो शेष संस्कृति के कंकाल के सिवाय क्या बचा रहेगा? आज इस विषय के अनुशीलन और परिमार्जन की अपेक्षा है। सच्चा दान और सच्ची दया वह है जो अहिंसा से ओत-प्रोत हो और वे ही मोक्ष मार्ग के प्रतीक हैं। हिंसा मिश्रित दया-दान भी चलते हैं और चलते आये हैं, पर अध्यात्म दया तथा अध्यात्म दान की तरह मोक्षार्थ नहीं हो सकते। दया का आवास हृदय है। किसी को न मारूँ, न सताऊँ, यह करुणा का निर्मल स्रोत दया है। इसी तरह दान की सार्थकता है संयम की पुष्टि मे। इसका निषेध करनेवाला धर्म, धर्म नहीं हो सकता।

आप समाज में रहते हैं, समाज के साथ आपको चलना होता है, अनेकानेक समाजोपयोगी कार्य आप करते हैं। यह आपका सामाजिक कर्तव्य है, नागरिक उत्तर-दायित्व है। उसे मोक्ष-मार्ग से जोड़ देने का क्या प्रयोजन? लोगों ने इस तत्त्व की उपेक्षा की। फलतः दाता व ग्रहीता के बीच ऊँच-नीच का भाव पनपा। सामाजिक जीवन में विशृंखलता आई। वर्गीय संघर्षों का सूत्रपात हुआ। इन सब का समाधान एक यही है कि सामाजिक कर्तव्य और अध्यात्म मार्ग का पार्थक्य स्पष्ट समझा जाये। ऐसा समझने से अहंभाव, दातृभाव न रहकर सामाजिक कर्तव्य भाव रह जायेगा जो वैषम्य जनक नहीं होगा।

मैं स्पष्ट शब्दों में कहना चाहूँगा कि आज जिस दया और दान का आडम्बर रचा जा रहा है दुनियाँ उसकी भूखी नहीं है। शोषण, अन्याय और अनैतिक प्रवृत्तियों द्वारा करोड़ों का संग्रह कर उसमें से कुछ यश पूर्ति के कामों में खर्च कर देना और अपने आपको महान दयाशील और धर्मात्मा मान बैठना उस पाप को छिपाने का प्रयास है। यह तो एहरन की चोरी और सूई के दान जैसा है। मैं दया और दान का हृदय से समर्थन करता हूँ पर उसकी ओट में शोषण तथा भ्रष्टाचार नहीं होना चाहिये।

बड़नगर,
५ दिसम्बर '५५

१४८ : संयमित जीवन

जीवन के हर व्यवहार में, हर पहलू में नियमन, संयम और परिष्करण होना चाहिये। अनियमित, असंयमित और अपरिष्कृत जीवन भी क्या कोई जीवन है? विचार की सार्थकता आचार में है। मान्यता करनी मे निष्पन्न होकर महत्ता पाती है। जब तक वह केवल वाणी में रहे तब तक कैसा उपयोग? तभी तो क्रिया के बिना ज्ञान को पंगु कहा गया है। सद्ज्ञान और तदनुगामी क्रिया जीवन को स्फूर्ति और चेतना-शील बनाते हैं। पर इसका प्रयोग जीवन के छोटे से छोटे कार्य में करना होगा। उदाहरण स्वरूप खिड़की से गन्दा पानी बाहर फेंकना है। देखने का कष्ट नहीं किया। झट फेंक डाला। जानेवाले का शरीर और उसके कपड़े उस गन्दे पानी से लथ-पथ हो गये। उसी प्रकार केला खाकर उसका छिलका सड़क के बीच फेंक दिया। चलने वाले का पैर टिका, वह फिसल पड़ा, गहरी चोट आई। अपनी थोड़ी-सी लापरवाही

से दूसरों को कितना कष्ट हुआ यह इन उदाहरणों से स्पष्ट है। ये बहुत छोटे-छोटे घटनाक्रम हैं पर जीवन की कार्यधारा से इनका गहरा सम्बन्ध है। देखने में छोटी दिखने वाली ये गलतियाँ व्यक्ति को गलतियों के भी परम गर्त्त में ढकेल देती हैं। फिर मनुष्य क्या छोटी और क्या बड़ी सभी प्रकार की गलतियाँ निःसंकोच करने को उतारू रहता है। अतः इनसे बचने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को चाहिये कि वह अपने दैनिक जीवन के छोटे-से-छोटे व्यवहार को भी संयमित और सुनियमित बनाए।

हर व्यक्ति को यह सोचते हुए सदा जागरूक रहना चाहिये कि अपने लाभार्जन में भूलकर कहीं वह दूसरों का अलाभ तो नहीं कर रहा है। ऐसा करना मानवोचित गुणों के अनुकूल नहीं है। दूसरों को अलाभ—हानि पहुँचाने का हेतु बनकर अपने लाभ के लिये आकुल रहना नैतिकता नहीं है, यह तो कुत्सित आचरण है। अतः प्रत्येक व्यक्ति से मेरा कहना है कि वह स्वार्थपरता की चकमक में पड़ दूसरों के क्लेश, कष्ट और असुख का हेतु न बने। धर्माराधना का यह प्रथम सोपान है जो इससे भी दूर है, वह कैसा धार्मिक व उसका कैसा धर्मानुशीलन ?

बड़नगर,
६ दिसम्बर' ५५

१४६ : जागरण का शंखनाद

अणुव्रत-आन्दोलन जन-जीवन में एक उत्क्रांति पैदा करना चाहता है, उसे झकझोर देना चाहता है ताकि चिरनिद्रा में सुप्त मानव-समाज जग सके। वह अपने आपको निहार सके कि वह किस प्रकार वैषम्य और अमानवीय कार्यकलापों में मशगूल बन अपने-आप को भूला जा रहा है। आज यह कहने की आवश्यकता नहीं कि लोगों का चारित्रिक स्तर कितना अधिक पतन के गर्त्त में गिरता जा रहा है। अल्पतम स्वार्थ के लिये व्यक्ति दूसरों का घोरतम नुकसान करने भी नहीं सकुचाता। मानवीय जीवन कहने भर के लिये मानवीय रह गया है। उसका अन्तर्विश्लेषण किया जाये तो उसमें विकारों की वह पुट मिलेगी जो स्पष्टतया अमानवीयता का द्योतक है। यह प्रमाद आज के मानव पर इस प्रकार छाया है कि विवेक और विवेकपूर्ण जीवन चर्या उससे विलग हो चली है। ऐसी स्थिति में अणुव्रत-आन्दोलन नव जागरण का शंखनाद लिये मानव-समाज में एक अभिनव चेतना का संसार करता है। उसका घोष है उठो,

प्रमाद की चिर निद्रा से मुँह मोड़ो, सत्पथ पर लगो, जीवन की अमूल्य कलियों को विकारों के धूमिल अँधियारे में मत मुरझाने दो, सत्य पथ का अवलम्बन करो। अणुव्रत-आन्दोलन की पृष्ठभूमि मानवता की पृष्ठभूमि है। उसके आदर्श मानवीय हैं। यह एक असाम्प्रदायिक और वर्ण-भेद से अछूता अध्यात्म सकलित रचनात्मक आन्दोलन है।

अणुव्रतों की नियमावली बुराइयों के निषेध की एक सूची है। एक अणुव्रती संकल्प पूर्वक हिंसा नहीं कर सकता। वह किसी ऐसे गुट, दल या संस्था का सदस्य नहीं बन सकता जिसका उद्देश्य किसी की हत्या या तोड़-फोड़ करना हो। वह झूठे फैसले नहीं दे सकता, असत्य प्रमाणपत्र नहीं दे सकता। इस तरह अणुव्रत-आन्दोलन देश में नीति-निष्ठ, अहिंसा-निष्ठ, प्रामाणिक, ईमानदार और पवित्र जीवन जीनेवाले नागरिकों का सृजन करता है। आप भी उसका चिन्तन, मनन और अनुशीलन कर उस ओर अग्रसर हों।

बड़नगर,
६ दिसम्बर '५५

१५० : राष्ट्र की भावी पीढ़ी

ये छोटे-छोटे नौनिहाल बच्चे राष्ट्र की भावी पीढी हैं। आज देश के सन्तो, नेताओं, अधिकारियों, कार्यकर्ताओं, अध्यापिकाओं सब का यह पहला कर्तव्य हो जाता है कि वे बालक-बालिकाओं को सुसंस्कारी बनायें जिससे देश की भावी पीढ़ी उन्नत और विकसित हो सके। भवन का स्थायित्व उसकी मजबूत नींव पर निर्भर करता है, उसकी सुन्दरता पर नहीं। इसी तरह यदि देश के बच्चे सुशिक्षित और सुसंस्कारी होंगे तो देश का भवन ठोस और उन्नत होगा।

विद्यार्थी सिर्फ रटें नहीं, अपितु जितना पढ़ें उतना जीवन में उतारें। देश, राष्ट्र और समाज केवल पढ़ने से उन्नत नहीं होते हैं, वे तो तब उन्नत होते हैं जब पढ़ी हुई सत् शिक्षा विद्यार्थियों के जीवन में आए और जब वे विनयवान तथा चरित्र सम्पन्न हों। विद्यार्थी कोई ऐसा कार्य न करें जिससे देश, राष्ट्र तथा समाज पर आघात पहुँचे। आज विद्यार्थियों की हीन दशा देखकर पं० नेहरू कह देते हैं—"इन यूनिवर्सिटियों और कालेजों को बन्द कर देना चाहिये।" पंडित नेहरू देश के बच्चों को

सुशिक्षित देखना चाहते हैं, उद्दण्ड और अनुशासनहीन नहीं। विद्यार्थियों की गैर जवाबदेही तथा अन्य हरकतों को देखकर नेहरूजी को काफी दुःख होता है।

विद्यार्थियों को सुसंस्कारी बनाने की जिम्मेदारी अध्यापकों पर है। यदि अध्यापकों का जीवन उठा नहीं होगा, वे स्वयं धूम्रपान तथा अन्यान्य कुव्यसनों में फँसे रहेंगे तो बच्चों को इन बुराइयों से कैसे बचा सकेंगे! विद्यार्थी व अध्यापक अणुव्रतों का अध्ययन कर उनके आदर्शों के अनुरूप जीवन बनाने का प्रयास करेंगे तो उनका जीवन शुद्ध, सात्विक और उन्नत बनेगा।

बड़नगर,
७ दिसम्बर '५५

१५१ : बहिनों का जीवन

सब जीते हैं, जीना कोई बड़ी बात नहीं है। संयम और विवेक पूर्ण जीवन जीना है। संयम और विवेक विहीन जीवन का कोई महत्त्व नहीं होता। बहिनों के हाथ, पैर, शरीर, इन्द्रियों आदि पर संयम और विवेक का अंकुश होना चाहिये।

बहिनें नाना काम कर लेती हैं—कसीदा, रंग-रंग की चीजों का निर्माण, घर की सजावट आदि। वे जरा देखें तो सही कि उनका स्वयं का जीवन सजा हुआ है या नहीं। जीवन को सजाना इन सबसे आवश्यक है। वे देखें कि कहीं उनका जीवन भारभूत तो नहीं है। वे दूसरों के लिये काँटा तो नहीं हैं। यदि हों तो उन्हें इसका प्रतिकार करना चाहिये। उन्हें अपने जीवन को सुन्दर, स्वच्छ और सांगोपांग बनाना चाहिये।

बहिनें यदि चाहें और प्रयास करें तो वे अपने घर में नैतिकता एवं सदाचार से ओत-प्रोत सात्त्विक वातावरण की अभिनव सृष्टि कर सकती हैं, क्योंकि घर की तो वे अधिष्ठात्री होती हैं। छोटे शिशु माताओं एवं बहिनों से ही तो संस्कार और प्रेरणा पाते हैं। इसके लिये बहिनों को अपना जीवन सादगी, उदारता, मैत्रीभाव, सहिष्णुता जैसे सद्गुणों से संवारना होगा। उन्हें फैशनपरस्ती, दिखावा एवं विलासिता को तिलाञ्जलि देनी होगी क्योंकि ये जीवन के अन्तः सौन्दर्य को ढँकने वाले आवरण हैं।

बड़नगर,
८ दिसम्बर '५५

१५२ : धर्मों का समन्वय

विदाई की बेला मे मैं एक ही बात कहना चाहूँगा कि आप अपना दृष्टिकोण उदार, व्यापक और असंकीर्ण बनायें। दिल और दिमाग की उदारता से देखने पर हर कहीं अच्छाइयाँ मिलेंगी। लेकिन दृष्टि मे संकुचितता और संकीर्णता रहने से बुराई ही हाथ लगती है। धर्म ही को लीजिये, उसमें द्विविधता को कोई स्थान नहीं। अन्तर विचारधाराओं में होता है जो चलता रहेगा। इस विचार वैभिन्य को लेकर वैमनस्य का बवंडर खड़ा कर देना बुद्धिमानी नहीं है। यहाँ समन्वय से काम लेना होगा।

नीति और व्यवहार मे काट-छाँट और कटु आलोचना की वृत्ति न हो। उसमें तो मैत्री और समन्वय होना चाहिये। एक-एक सूत मिलकर वस्त्र और एक-एक ईंट मिलकर बहुत बड़े मकान का रूप ले लेते हैं। इसी तरह आप समन्वय की बात को क्यों भूल जाते हैं? कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनको फूट और विद्वेषपूर्ण वातावरण बनाने मे आनन्द आता है। पर मैं आप से एक ही बात कहूँगा कि सभी धर्मों के साथ समन्वय बढ़ाया जाय। मतभेदों को एक ओर रहने दें, बन सके तो उन्हे मिटाने का प्रयास करें; पर उसको बढ़ायें नहीं। आज के संसार को देखते हुए समन्वय को स्थान दीजिये जिससे आपका स्वयं का जीवन सुखी हो और वह दूसरों के लिये भी खटकने वाला न हो।

आपने मेरी विदाई मे अपने उद्‌गार प्रगट करते हुए उदासीनता के भाव रखे। पर आप जानते हैं कि आगमन निश्चित रूपेण विदाई को साथ लिये ही तो होता है। अत्यन्त शान्त और सुन्दर रूप में विदाई तो विषाद का नहीं हर्ष का हेतु है। हाँ, मैं मानता हूँ कि आप लोगो को समय कम जरूर मिला पर आप कम समय को भी अधिक उपयोगी बना सकते हैं, यदि आप उस बीच पाये विचारो को जीवन-व्यापी बनायें। मुझे उम्मीद है, अणुव्रत-आन्दोलन की चारित्र्य-विकासमयी सुन्दर योजना को आप हृदयंगम करते हुए जीवन मे ढालने का प्रयास करेंगे।

बड़नगर,

८ दिसम्बर '५५

१५३ : मानवता का प्रतिष्ठापन

आप लोगो ने मेरा स्वागत किया। पर मैं आपको यह बता दूँ कि अकिंचन फकीरों और सन्तों का स्वागत अभिनन्दन पत्रों और फूल-मालाओं से नहीं होता। उनका स्वागत तो उनके मिशन का सहयोगी बनकर ही किया जा सकता है। आप जानते हैं कि मानव-जीवन एक कीमती जीवन है। वह नर से नारायण, अल्लाह और खुदा तक पहुँचाने वाला जीवन है। इस जीवन की सार्थकता इसी में है कि उससे कुछ लाभ लिया जाय। जिन्दगी को कषाय, क्रोध, लोभ, दम्भ, घमण्ड आदि आत्म-बन्धनकारी प्रवृत्तियों से बचाया जाय। उसमें सत्य, अहिंसा, विनय, क्षमा, सन्तोष, शालीनता आदि सद्गुणों को स्थान दिया जाय, यही तो धर्म है।

पर 'धर्म' शब्द आजकल कुछ अप्रिय-सा बन गया है। इसका एक कारण है कि धार्मिक कहे जानेवाले लोगों ने इसे पूजा, पाठ, प्रवचन और व्याख्यान तक ही सीमित रखा। इसे जीवन मे नहीं उतारा। उनका जीवन शोषण और आडम्बरमय रहा नहीं तो धर्म के प्रति श्रद्धा कम नहीं होती। वह तो जीवन है, प्राण है। धार्मिक जनों की संकीर्णता ने उसे कामी और साम्प्रदायिक रूप दे दिया और उसके नाम पर विग्रह, कदाग्रह और लड़ाई हुई। धर्म को पारस्परिक संकीर्णता का एक कारण बना दिया गया। मैं बताना चाहूँगा कि धर्म मे निर्धन और धनिक, स्त्री और पुरुष की भेद-रेखा नहीं हो सकती। वह तो सब के जीवन मे समान रूप से शान्ति और सुख लाने वाला है।

यदि आप अपने जीवन मे शान्ति, सुख और आनन्द चाहते है तो मानवता का प्रतिष्ठापन कीजिये। सिर्फ औपचारिकता मे न भूलकर जीवन में सदुपदेशों को सक्रिय रूप से उतारिये। अणुव्रत-आन्दोलन जीवन, देश और राष्ट्र के खिलाफ एक न्याय और नीति का मोर्चा है। आप लोग उसका मनन कर जीवन को तदनुरूप बनाने का प्रयास कीजिये।

बड़नगर,

८ दिसम्बर '५५

१५४ : राष्ट्र-निर्माण और विद्यार्थी

राष्ट्र के सब लोग चाहते हैं, कि सुख हो, शान्ति हो, उन्नति हो, सद्भावना हो, पर केवल चाहने मात्र से क्या यदि तदनुरूप भरपूर प्रयत्न न किया जाये ! आज भारतवर्ष स्वतन्त्र है; विदेशी शासन का जुआ उसके कन्धों से हट चुका है। पर जिस सच्चारित्र्य और प्रामाणिकतापूर्ण सुराज की कल्पना थी, वह कहाँ हो पाया है ! सब का जीवन विविध समस्याओं में उलझा है, सच्चे विकास या उत्थान का मार्ग अवरुद्ध जैसा है। इन सब विषमताओं और उलझनों को आज दूर करना होगा। तभी राष्ट्र सही माने में उन्नति की ओर अग्रसर हो सकेगा। इसके लिये राष्ट्र के जन-जन में नैतिकता, सदाचार, ईमानदारी और सत्य निष्ठा का संचार होना अपेक्षित है। वैसा होने से स्वयं राष्ट्र में, समाज में एक नया जीवन, नया ओज, नई क्रान्ति पैदा हो सकेगी। अभिनव स्थिति के सृजन में विद्यार्थियों का बहुत बड़ा भाग हो सकता है। वे ही तो राष्ट्र और समाज की नींव हैं। उनकी सुदृढ़ता और सद्विकास पर राष्ट्र और समाज का भावी निर्माण बहुत कुछ निर्भर है। अतः प्रत्येक विद्यार्थी को अपने जीवन का महत्त्व समझना है। उसे सदाचार, सत्य, संयतपन और मैत्रीभाव के उस पुनीत ढाँचे में अपने को ढालना है, जिससे स्वयं उनका अपना जीवन ऊँचा उठे तथा राष्ट्र व समाज के लिये भी वह कुछ देन दे सके।

बड़नगर,
१० दिसम्बर '५५

१५५ : दुर्गुणों की महामारी

ऐहिक सुख एवं भोगोपभोग की भूलभुलैया में पड़ आज मानव इस प्रकार गुमराह-सा बना जा रहा है कि उसे अपने आप का भी भान नहीं कि वह किस मार्ग का अवलम्बन किये हुए है। इसी ऐहिक सुखवादी मनोवृत्ति ने मानव को अर्थ का दास बनाया ; क्योंकि अर्थ ऐहिक सुखों का साधन जो ठहरा। जहाँ अर्थार्जन ने लक्ष्य का रूप लिया वहाँ अनैतिकता, अनाचरण, अप्रामाणिकता और बेईमानी जैसे दुर्गुण पनपने लगें तो क्या आश्चर्य ! यही हुआ। दुर्गुणों की इस महामारी ने लोगों का जीवन जर्जरित कर डाला है। आज चारों ओर से अशांति का करुण क्रन्दन सुनाई पड़ रहा है। अर्थ है, अन्य सुख-सामग्रियाँ हैं फिर भी लोक-जीवन अशान्ति

से व्याकुल है। यह सब क्यों ? इसलिए कि उसने अलक्ष्य को लक्ष्य माना ; क्योंकि ऐहिक सुख और भोग की परिणति दुःख में है, संक्लेश में हैं, इसलिए वह सच्चा सुख नहीं है। सच्चा सुख अपने अन्दर है, आत्मा में है, संयम और चारित्र्य की आराधना में है। मानव ने इसे भुलाया। आज मानव को यह भूल सुधारनी है, गलत मार्ग को छोड़कर सही मार्ग पर आना है। जीवन को अधिक से अधिक संयम, शील, सदाचार, शौच और नीति के पवित्र राजपथ पर आगे बढ़ाना है। दुःखों की भयावह वर्तमान परम्परा स्वतः उन्मूलित हो चलेगी। अणुव्रत-आन्दोलन यही तो बताता है कि जीवन के लक्ष्य को यथावत् समझो, तद्नुसार बरतो ; समय, सादगी, सात्त्विकता एवं सद्वर्तन के उज्ज्वल आलोक से अपने को ज्योतिर्मय बनाओ। आज का भाराक्रान्त, दुःखाक्रान्त, अस्थिर जीवन हलका, शान्त और सुस्थिर बनेगा।

मैं उपस्थित बन्धुओं एव बहनों से कहना चाहूँगा कि वे अणुव्रत-आन्दोलन को समझें, तथा जीवन को उन आदर्शों के साँचे मे ढालें। सचमुच शान्ति का सरस स्रोत उनके जीवन में फूट पड़ेगा।

बदनावर,
११ दिसम्बर '५५

१५६ : वास्तविक स्वागत

आप लोगों ने मेरा स्वागत किया पर जैसा कि मैं समय-समय कहता रहता हूं सन्तों का स्वागत शब्दों से नही होता। यह तो अन्तर्जाग्रत भक्ति को बाहर रख देना है। सन्तों का स्वागत तो वे जिस मार्ग के अग्रगामी हैं उस पर प्रवृत्त होकर ही किया जा सकता है। मैं देखता हूं, जन-मानस आडम्बर और प्रदर्शन प्रिय हो गया है। धर्म के क्षेत्र में भी वह इन्हे छोड़ता नहीं। मैं बताना चाहूँगा कि धर्म आडम्बर, दिखावे, प्रदर्शन, विरोध और टीका-टिप्पणियों में नहीं है। वह तो त्याग, तपश्चर्या, शील, संयम और सदाचार में है, जो कि जीवन-शुद्धि की प्रक्रियाएँ हैं। जीवन-शुद्धि के बजाय यदि धर्म के नाम पर कलह, कदाग्रह और वैमनस्य को बढ़ावा दिया जाता है तो वहाँ पतन ही होगा उत्थान नहीं। अणुव्रत-आन्दोलन जो कि अहिंसा आदि अध्यात्म गुणों पर आधारित है और जो जीवन को सीधा, सादा, नीति, न्याय, ईमानदारी, सचाई युक्त बनाता है, आप लोग उसका अवलोकन कर जीवन को तदनुरूप बनाने का प्रयास करें। अणुव्रत मे जाति, वर्ग और वर्ण-भेद को स्थान नहीं,

वह तो मानव-धर्म का प्रतीक है। मानव मानव को मानवता के राजपथ पर चलते हुए अपने जीवन को उन्नत और विकसित बनाने का प्रयास करना चाहिए। यदि इस ओर प्रवृत्त होने का प्रयास किया गया तो वह स्वागत वास्तविक स्वागत होगा।

पेटलावद,
२८ दिसम्बर '५५

१५७ : नैतिकता की ज्योति

मानव-जीवन की सार्थकता चरित्र-निर्माण मे है, बाहरी प्रदर्शन, आडम्बर और दिखावे में नहीं। बहिनें इस तथ्य को दृष्टि में रखती हुई अपने जीवन को अधिकाधिक सादगी, सात्त्विकता, सच्चरिता और संयताचरण मे ढालें। दिन पर दिन गिरावट की ओर जा रहे आज के विषम वातावरण मे बहिनों को संयम और परिशुद्ध जीवनचर्या का एक आलोक प्रस्तुत करना है। उन्हें स्वयं अपने जीवन को सही माने में उन्नत और विकसित बनाना है। फलतः उनके परिवार में, कुटुम्ब में, सन्तानों में नैतिकता की एक अमर ज्योति जग उठेगी। इसी में मानवता की शान है।

पेटलावद,
२९ दिसम्बर '५५

१५८ : जीवन-विकास के साधन

शिक्षा जीवन-विकास का साधन है, पर उसका सही उपयोग नहीं हो रहा है। आज तो वह एकमात्र उदर-पूर्ति या जीवन-निर्वाह का साधन मान लिया गया है यह उचित नहीं है। यदि जीवन-निर्वाह या आजीविका-उपार्जन ही शिक्षा का अभिप्रेत होता तो इसे इतना महत्त्वशील कैसे माना जाता? जीवन क्या है, जीवन की वास्तविकता क्या है, सत्य और यथार्थ क्या है, जीवन को तदनुरूप कैसे बनाया जाये, ये ही तो वे तथ्य हैं, जिनका शिक्षा साक्षात्कार कराती है, मार्ग-दर्शन देती है। दूसरे शब्दों में कहूँ तो शिक्षा जीवन की यथार्थता का दिग्दर्शन कराती है, व्यक्ति को उस ओर आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है। शिक्षार्थी इस तथ्य से अवगत होते हुए यदि अपने जीवन को तदनुगामी नहीं बना पाते तो उस शिक्षा की क्या सारवत्ता? अतः मैं कहना चाहूँगा कि शिक्षार्थी शिक्षा के वास्तविक लक्ष्य को हृदयंगम करते हुए जीवन मे उसे यथावत् ढालने का प्रयत्न करें। प्रारम्भ से ही जीवन-व्यवहार में सादगी, सत्यनिष्ठा,

सद्‌व्यवहार, मैत्रीभाव और समता को स्थान दें। इससे उनका जीवन सही माने में सुखी और उच्च बनेगा और वे आगे चलकर राष्ट्र के उन्नत नागरिक बन सकेंगे।

अन्त में मैं इतना ही कहूंगा कि विद्यार्थीगण जीवन की इन अमूल्य घड़ियों का अधिकाधिक सदुपयोग करें। जीवन में सद्‌गुणों का संचय करें, जो उन्हें जाग्रत और उत्कर्षमय बनानेवाले हैं। शिक्षकों और अभिभावकों से भी मेरा कहना है कि वे बालकों के सुकोमल हृदयों में विनय, शील, सद्‌भावना जैसी सात्त्विक वृत्तियाँ भरने को सजग रहें। यदि वे ऐसा नहीं करते हैं तो मैं कहूँगा कि वे अपने कर्तव्य से हटते हैं। पर ध्यान रहे, ऐसा वे केवल उपदेश देकर ही नहीं कर सकेंगे। उन्हें स्वयं अपने जीवन को इन सात्त्विक वृत्तियों के सुघटित ढाँचे में ढालना होगा; क्योंकि उपदेश उन्हीं का कार्यकर या प्रभावोत्पादक होता है, जो स्वयं उसका अनुवर्तन करते हैं। मुझे आशा है, शिक्षक, अभिभावक तथा शिक्षार्थी जो कुछ मैंने कहा, उस पर गौर करेंगे।

पेटलावद,
३१ दिसम्बर '५५